देव और उनकी कविता

यह ग्रन्थ मेरे गवेषणात्मक निबंध का उत्तरार्द्ध है। आरम्भ में ही देव-विषयक सामग्री का एक आलोचनात्मक विवरण दे दिया गया है जिससे कि पहले ही यह स्पष्ट हो जाए कि मेरा अध्ययन कहां से आगे बढ़ता है। इसके उपरान्त देव के जीवन-चरित तथा उनके काव्य के विभिन्न पक्षों का सांगोपांग विवेचन एवं मूल्यांकन है।

—नगेन्द्र

देव और उनकी कविता

(उत्तरार्द्ध)

देव

१. देव-विषयक सामग्री और उसकी परीक्षा :—

२. देव का जीवन-चरित :—

देव नामधारी अनेक कवि,

नाम, जन्म, वर्णगोत्र, आदि ।

पिता का नाम तथा वंश-परम्परा, वास-स्थान ।

आश्रयदाता

यात्रा ।

गुरु तथा सम्प्रदाय ।

किम्वदन्तियां; मृत्यु ।

देव का व्यक्तित्व : आकृति और वेश-भूषा ; प्रकृति और स्वभाव ; प्रतिभा और विद्वत्ता ।

३. देव के ग्रंथ :—

(देव के ग्रन्थ १. उनकी प्रामाणिकता, २. रचना-क्रम तथा ३. वर्ण्य विषय अथवा प्रतिपाद्य ।)

भाव-विलास	देव का पहला ग्रन्थ, प्रामाणिकता, वर्ण्य विषय ।
अष्टयाम	रचनाकाल, वर्ण्य विषय ।
भवानी-विलास	प्रामाणिकता, वर्ण्य विषय ।
शिवाष्टक	प्रामाणिकता, वर्ण्य विषय ।
प्रेम-तरंग	प्रामाणिकता, रचनाकाल आदि ।
कुशल-विलास	वर्ण्य विषय आदि ।
जाति-विलास	रचना काल, वर्ण्य विषय आदि ।
रस-विलास	,, ,,
प्रेमचन्द्रिका	रचनाकाल, वर्ण्य विषय ।
सुजानविनोद	वर्ण्य विषय, रचनाकाल, समर्पण आदि ।
या रसानन्दलहरी	
राग-रत्नाकर	प्रामाणिकता, वर्ण्य विषय आदि ।
शब्द-रसायन	प्रतिपाद्य

४. देव की कविता के विभिन्न पक्ष :

देव की अलंकार-विषयक दो मान्यतायें
देव का शब्दशक्ति और वृत्ति-विवेचन
,, रीति-गुण-विवेचन
,, पिंगल-विवेचन
सामान्य काव्य-सिद्धान्त और सम्प्रदाय ; आलोचना-शक्ति ।

५. देव की कला :

५. अ—चित्रण-कला तथा अभिव्यंजना के प्रसाधन ।

१. चित्रण-कला, वर्ण-योजना ।

२. अभिव्यंजना के प्रसाधन: अप्रस्तुत विधान,
साहश्य, साधर्म्य, प्रभाव-साम्य;
अमूर्त अप्रस्तुत ;
धर्म के लिये धर्मी का प्रयोग,
मानवीकरण, सम्भावना-मूलक अप्रस्तुत विधान ।
चमत्कार-मूलक अलंकार, अतिशय-मूलक अलंकार ।
देव के प्रतीकों का विवेचन ।

५. आ—देव की भाषा

ब्रजभाषा की प्रकृति : उच्चारण, संज्ञायें और विशेषण,
विभक्ति, सर्वनाम ।
क्रिया: वर्तमानकाल, भूतकाल,
भविष्यत्काल, आज्ञा, प्रार्थना,
सम्भावना आदि ; कृदन्त ।
साहित्यिक महत्व : व्यापकता, सौष्ठव ।
देव की भाषा :
शब्दकोष,
स्वरूप :— व्याकरण :—
कारक-चिह्नों की गड़बड़,
कारक-चिह्नों के वैकल्पिक रूप,
क्रिया-रूप,
अवधी और खड़ी बोली के
क्रियापद और सर्वनाम ।
वाक्य-रचना, अन्वय-दोष, अव्यवस्था,

न्यून-पद, अधिक-पद, आदि दोष।
निष्कर्ष।

सौष्ठव : अलंकरण
अर्थध्वनन
कांतिगुण (पालिश)
शब्द शक्ति : लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता।
व्यंजना,
उक्ति-वैचित्र्य।
भाषा पर अधिकार;
परिणाम।

५. इ—छन्द :

सवैया :—सवैया का विकास ; देव के प्रयोग।
कवित्त (घनाक्षरी) :—घनाक्षरी का विकास ; देव के प्रयोग।

६. आदान-प्रदान :

६. अ—आदान : देव पर अन्य कवियों का प्रभाव।

१. गाथा सप्तशती, अमरु-शतक, आर्या सप्तशती,
२. संस्कृत के स्फुट पद्यों की छाया।
३. देव और उनके पूर्ववर्ती हिन्दी कवि :
   १. सूरदासः खंडिता के चित्र, रासलीला आदि।
   २. रसखान।
   ३. केशवदास :—भावग्रहण, काव्य-सामग्री का ग्रहण, उक्तियों का ग्रहण।
   ४. बिहारी।
   ५. मतिराम।
   मौलिकता।

६. आ—प्रदान : देव का हिन्दी के परवर्ती कवियों पर प्रभाव।

१. रीति विवेचन पर प्रभाव :—दास, रसलीन, आदि।
२. रीति-बद्ध श्रृंगारिक कविता पर प्रभाव :—
   १. देव और दास।

देव

सहायक ग्रन्थ

सर्वश्री

सूदन	सुजान-चरित्र
दलपतिराय वंशीधर	अलंकार-रत्नाकर
सरदार	शृंगार-संग्रह
शिवसिंह	शिवसिंह-सरोज
गार्सां दतासी	इस्त्वार द ला लितरेत्योर इंदुई ए इंदुस्तानी
ग्रिअर्सन	दी मौडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ् हिन्दुस्तान
नकछेदी तिवारी	कवि-कीर्तिकलानिधि
पं० बालदत्त मिश्र	सुखसागर-तरंग की भूमिका
मिश्रबन्धु	नवरस
कृष्णबिहारी मिश्र	देव और बिहारी
ला० भगवानदीन	बिहारी और देव
पं० पद्मसिंह वर्मा	बिहारी सजीवनी (भूमिका और भाष्य)
पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित	शृंगार-विलासिनी की भूमिका
डा० धीरेन्द्र	ब्रजभाषा का व्याकरण
पं० रामचन्द्र शुक्ल	बुद्धचरित्र की भूमिका
डा० श्यामसुन्दरदास	भाषा-रहस्य
बलदेवप्रसाद मिश्र	भारतीय दर्शन
पं० रामचन्द्र शुक्ल	सूरदास : पुष्टि-मार्ग :

देव-विषयक सामग्री और उसकी परीक्षा

रीतिकालीन कवियों में देव को यद्यपि उतना लोकप्रिय होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ जितना कि बिहारी और केशव को, परन्तु फिर भी काव्य-विद् पण्डितों और शास्त्रविद् कवियों में देव का नाम मध्य-युग से ही अत्यंत आदर के साथ लिया जाता था। दास जैसे आचार्य्य कवि ने जिन सुकवियों की ब्रजभाषा को प्रमाण माना है, उनमें देव के नाम का भी सादर उल्लेख है :

" लीलाधर, सेनापति, निपट, निवाज, निधि,
नीलकण्ठ, मिश्र सुखदेव, देव, मानिए।" —(काव्य-निर्णय)

इसके बाद सूदन कवि ने सुजानचरित्र के आरम्भ में अपने पूर्ववर्ती १७९ सत्कवियों को प्रणाम किया है—उस सूची में भी देव का नाम यथा-स्थान आता है।

इनके अतिरिक्त कालिदास त्रिवेदी ने रतन-हजारा में संवत् १७४९ के लगभग और दलपतिराय, बंशीधर ने अलंकार-रत्नाकर में संवत् १७९२ के लगभग, देव-कृत छन्दों को गौरव-पूर्वक सत्काव्य के उदाहरण रूप संकलित एवं उद्धृत किया है। ये दोनों ग्रन्थ देव के समय में ही सम्पादित किए गए थे, फिर भी दोनों में देव की प्रतिभा की महत्वपूर्ण स्वीकृति है। इनके उपरांत फिर तो जितने भी प्रसिद्ध संग्रह हुए उनमें देव को उचित स्थान मिला—जैसे प्रतापसाहि के काव्य-विलास में या गोकुलप्रसाद के दिग्विजै-भूषण में अथवा सरदार के शृंगार-संग्रह आदि में। उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों के कर्त्ता या संपादक रीतिकाल के गंभीर आचार्यों में से हैं—अतएव उनका मत देव के महत्व पर यथोचित प्रकाश डालता है, इसमें सन्देह नहीं। इधर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के देव अत्यन्त प्रिय कवि थे। उन्होंने मुख्यतः शब्द-रसायन और साधारण रूप से जाति-विलास के आधार पर देव के कतिपय उत्कृष्ट छन्दों का संकलन सुन्दरी-सिन्दूर नाम से प्रकाशित किया।

ऊपर जिन विद्वानों अथवा कवियों का उल्लेख है उनको केवल देव के गौरव के साक्षी रूप में ही पेश किया जा सकता है। उन्होंने या तो उनके छन्द उद्धृत कर उसकी अभावात्मक स्वीकृति दी है, अथवा अधिक से अधिक कवि-कीर्त्तन किया है। देव के व्यक्तित्व अथवा उनके काव्य के विषय में ये सभी मौन हैं। इस

दृष्टि से प्राचीन कवियों में सबसे अधिक महत्व है देव के प्रपौत्र भोगीलाल का और आधुनिक लेखकों में ठा० शिवसिंह का। भोगीलाल ने अपने रस-ग्रन्थ बखतविलास में कविकुल-वर्णन करते हुए अपने और अपने पूर्वज देव के वंश, वर्ण, गोत्र आदि का निश्चित एवं प्रामाणिक विवरण दिया है :

"काश्यप गोत्र द्विवेदी कुल कान्यकुब्ज कमनीय।
देवदत्त कवि जगत में भये देव रमनीय॥"

इस विवरण से पता चलता है कि देव को सरस्वती सिद्ध थी। उनके पुत्र का नाम पुरुषोत्तम था, और पौत्र शोभाराम भी सत्कवि थे। ठा० शिवसिंह सेंगर कृत शिवसिंह-सरोज प्रथम बार संवत् १९३४ में प्रकाशित हुआ था। शिवसिंह के विषय में इतना कहना पर्याप्त होगा कि वे उन आरंभिक काव्यरसिकों में से थे जिनकी ऐतिहासिक बुद्धि विदेशी शिक्षा-सभ्यता के सम्पर्क से थोड़ी थोड़ी जागरित हो रही थी। वे न तो कोई शास्त्रविद् पण्डित थे और न कवि ही। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि इस संग्रह को प्रस्तुत करने का कारण केवल कवियों के देश, सन्-संवत बताना है। फिर भी ग्रन्थ हिन्दी की गौरव-गाथा का पहला लेखा है और इस दृष्टि से उसका महत्व अक्षुण्ण रहेगा। देव के विषय में उनका मत था :

"देव कवि प्राचीन, देवदत्त ब्राह्मण, समनि गांव, जिले मैनपुरी के निवासी सं० १६६१ में उ०।

यह महाराज अद्वितीय कवि अपने समय के भामह, मम्मट के समान भाषा काव्य के आचार्य्य हो गये हैं। शब्दों में ऐसी समाई कहाँ कि उनमें इनकी प्रशंसा की जाय? इनके बनाये ग्रन्थों की संख्या आज तक ठीक ठीक ७२ हमको मालूम हुई है। उनमें केवल ११ ग्रन्थों के नाम, जो हमको मालूम हैं, लिखे जाते हैं; जिनमें से कुछ को अक्सर हमने देखा भी है। १ प्रेम-तरङ्ग, २ भावविलास, ३ रसविलास, ४ रसानन्द-लहरी, ५ सुजान-विनोद, ६ काव्य-रसायन पिंगल, ७ अष्टयाम, ८ देव-माया-प्रपंच नाटक, ९ प्रेमदीपिका, १० सुमिल-विनोद, ११ राधिका-विलास।"

× × × ×

'अब इस समय बहुधा कवि लोग नीचे लिखे हुए ग्रन्थों को पढ़ते हैं।...

साहित्य में काव्य-विभूषण...काव्यकल्पद्रुम...कविकुलकल्पतरु...भाषा-भूषण, रसरहस्य, रसिकप्रिया, कविप्रिया,...काव्यरसायन, काव्यविलास... इत्यादि'—इसी उद्धरण की ज्यों की त्यों प्रतिलिपि नकछेदी तिवारी कृत कविकीर्तिकलानिधि में कर दी गई है। संवत् १९४० में डा० ग्रियर्सन का ग्रन्थ 'भारत की आधुनिक भाषाओं का साहित्य' प्रकाशित हुआ, उसमें

उन्होंने देव को मुक्त-कण्ठ से अपने युग का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हुए उन्हें भारत के सत्कवियों में स्थान दिया।

देवविषयक दूसरा उपादेय विवरण मिलता है सुखसागर-तरङ्ग की भूमिका में; जो पं० बालदत्त मिश्र द्वारा शिवसिंह सरोज के ठीक बीस वर्ष बाद लिखी गई। देव के व्यक्तित्व और काव्य का इसे पहला विवेचन कहना चाहिए। देव के जन्म और जाति आदि का प्रथम प्रामाणिक अनुसन्धान इसी में किया गया। इसके अतिरिक्त हम इस भूमिका में वयोवृद्ध मिश्र जी को आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व देव की काव्य-गत विशेषताओं के विवेचन का भी अपने ढंग से प्रयत्न करते हुए पाते हैं—और इसमें सन्देह नहीं कि उनके द्वारा निर्दिष्ट कई बातें आज भी ज्यों की त्यों स्वीकृत की जा रही हैं चाहे उनके तुलनात्मक अध्ययन को कोई न माने। सुखसागर तरङ्ग से हमे निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं:—

(१) भावविलास के आधार पर देव जी का जन्म संवत् १७३० में सिद्ध होता है। अतएव शिवसिंह जी का दिया हुआ संवत् १६६१ अशुद्ध है।

(२) स्वयं देव के ही कथनानुसार यह प्रमाणित होता है कि वे इटावा के रहने वाले थे, और धौसरिया ब्राह्मण थे—"धौसरिया कविदेव को नगर इटायो बास।"

इस प्रकार शिवसिंह की यह स्थापना भी कि देव, समानें जिला मैनपुरी के निवासी थे, अधिक विश्वसनीय नही है। "परन्तु यदि यह समाने के निवासी हैं तो भी उस गाँव मे अधिक नहीं रहे, क्योंकि जब इस महाकवि ने कुल षोड़श ही वर्ष की बाल्यावस्था मे भावविलास व अष्टयाम से ग्रन्थ बनाए, कि जिनमे काव्य व लालित्य कूट कूटकर भर दी है तो इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने दस-बारह वर्ष की ही अवस्था से भाषा-काव्य सीखने का प्रारम्भ कर दिया होगा।"

(३) देव के गुरु श्री हितहरिवंश थे—जो वृन्दावन में रहते थे। अतः यही संभावना है कि देव ने उनके स्थान पर ही विद्याध्ययन किया होगा। हितहरिवंशजी के १२ शिष्य थे, और उनमें देवजी मुख्य थे।

[इस निराधार स्थापना का मूल वास्तव में भारतेन्दु जी द्वारा सम्पादित सुन्दरी-सिन्दूर के मुखपृष्ठ पर लिखे हुए इस आशय के शब्द ही हैं।]

(४) शिवसिंह द्वारा उल्लिखित ७२ ग्रन्थों में से २५, ३० अवध प्रान्त के अंतर्गत ही उपलब्ध थे—और मिश्र जी ने स्वयं उन्हें देखा सुना था। नीति-शतक का सबसे पूर्व उल्लेख उनकी भूमिका में ही मिलता है।

(५) देव-काव्य की मुख्य विशेषताएं हैं—१. सूक्ष्म दृष्टि, २. मिष्ट-भाषण, जो प्रसाद और माधुर्य गुणों पर आश्रित है, ३. अनुप्रास-सौंदर्य

४. शृंगार के अतिरिक्त शांतरस और भक्तिविषयक भावनाओं पर भी इनका पूर्ण अधिकार था।

सुखसागर तरंग के लगभग १२ वर्ष उपरान्त पं० बालदत्त जी मिश्र के पुत्ररत्न मिश्रबन्धु-त्रय का नवरत्न प्रकाशित-हुआ। देव के गौरव को पूर्ण रूप मे प्रतिष्ठित करने वाला ग्रन्थ वास्तव मे यही है। इसमे देव को सूर और तुलसी के साथ स्थान दिया गया और सम्यक् विस्तार के साथ देव के जीवन-चरित्र, उनके प्रमुख ग्रन्थों और उनकी काव्यगत विशेषताओं का विवेचनात्मक परिचय दिया गया। देव के जीवन-चरित के विषय मे मिश्रबन्धुओं ने कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्यों का अनुसन्धान किया जो कि इस प्रकार है—

(१) देव जी धौसरिया नहीं द्योसरिया (दुसरिहा) कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। वे पंसारी टोला बलालपुरा (शहर इटावा) में रहते थे। इनके वंशज अब भी कुछ इटावा मे और अधिकतर कुसमरा गाँव में मौजूद हैं।

(२) कुसमरा मे देव के वंशजो मे एक सज्जन मातादीन मास्टर भी हैं, जिनके पास उनका वंश-वृक्ष सुरक्षित है। उसके अनुसार देव के पिता का नाम बिहारीलाल था और देव के दो पुत्रों का नाम भवानीप्रसाद और पुरुषोत्तम था। पुरुषोत्तम जी के पौत्र अर्थात् देव के प्रपौत्र भोगीलाल एक सत्कवि थे जिन्होने सं० १८४७ मे 'बखतविलास' की रचना की। बखतविलास के अनुसार देव काश्यप गोत्र मे उत्पन्न द्विवेदी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। बखतविलास की प्रति भी पं० मातादीन के पास है। उपर्युक्त वंश-वृक्ष के अनुसार ये सज्जन देव के प्रपौत्र भोगीलाल के भाई खुशालचन्द्र के प्रपौत्र हैं।

(३) देव की मृत्यु का समय लगभग सं० १८२४ माना जा सकता है क्योंकि उन्होंने अपना सुखसागर-तरंग ग्रन्थ जो अन्य ग्रन्थो का संग्रह होने के कारण कवि का अन्तिम ग्रन्थ प्रतीत होता है पिहानी के अकबर अलीखाँ (समय सं० १८२४) को समर्पित किया है। [यह मत बाद मे शायद कृष्णबिहारी जी की सहायता से स्थिर किया गया है, पहले मिश्र-बन्धु देव का मृत्यु-संवत् १८०२ ही मानते थे]।

(४) देव का व्यक्तित्व अत्यन्त अभिमानी था। अतिरसिक होने के कारण इनका चरित्र थोड़ा गड़बड़ रहा होगा यद्यपि चारित्र्य और कर्त्तव्य को वे जीवन का बहुत ही महत्वपूर्ण अंग मानते थे।

(५) देव के ग्रन्थो की संख्या ७२ या ५२ कही जाती है। यह देखते हुये कि ये वही छंद इधर उधर उलट-पुलट कर नया ग्रन्थ तैयार कर लेते थे, ५२ बहुत बड़ी संख्या नहीं है। इनके प्राप्य ग्रन्थ हैं—१–भावविलास,

२-अष्टयाम, ३-भवानीविलास, ४-सुन्दरी-सिंदूर, ५-सुजानविनोद, ६-प्रेम-तरंग, ७-रागरत्नाकर, ८-कुशलविलास, ९-देवचरित्र, १०-प्रेमचन्द्रिका, ११-जातिविलास, १२-रसविलास, १३-काव्यरसायन या शब्दरसायन, १४-देवमायाप्रपंच नाटक, १५-सुखसागर-तरंग। इनके अतिरिक्त श्री युगलकिशोर मिश्र, 'ब्रजराज' के साक्ष्यानुसार : १६-वृत्तविलास, १७-पावसविलास, १८-देवशतक; नई खोज के अनुसार: १९-प्रेमदर्शन, (जो शायद प्रेमपच्चीसी हो) शिवसिंह सरोज के साक्ष्यानुसार; २०-रसानन्द लहरी, २१-प्रेमदीपिका, २२-सुमिलविनोद, और २३-राधिका-विलास; तथा [रत्नाकर जी के अनुसंधान के अनुसार] २४ शिवाष्टक ये नौ ग्रन्थ हैं। सुन्दरीसिन्दूर संग्रह-ग्रन्थ मात्र है, अतएव साधारणत: २२ हैं और शिवाष्टक को मिलाकर २३, देवकृत ग्रन्थों का उल्लेख नवरत्न मे मिलता है।

(६) जैसा कि देव के ही कतिपय ग्रन्थो से स्पष्ट है, जीवन में उन्हे आज़मशाह और अकबर अलीख़ाँ के अतिरिक्त दादरी के रईस भवानीदत्त वैश्य, फफूंद के कुशलसिंह, मरदनसिंह के पुत्र राजा उद्योतसिंह बैस, और राजा भोगीलाल का आश्रय प्राप्त हुआ था। सबसे अधिक प्रशंसा उन्होंने भोगीलाल की की है, अतएव यह परिणाम सहज ही निकाला जा सकता है कि इनके यहाँ कवि का अच्छा सम्मान हुआ होगा। फिर भी वास्तव मे कुल मिलाकर देव को कोई ऐसा आश्रयदाता नहीं मिला जो उन्हें ऐहिक चिंता से मुक्त कर देता। अतएव ये बेचारे बहुत दिनों तक इधर उधर भ्रमण करते रहे। इसका और कुछ परिणाम निकला या नहीं, परन्तु कवि का अनुभव अवश्य ही समृद्ध हो गया।

(७) समस्त हिन्दी-काव्य मे देव का स्थान तुलसी और सूर के उपरांत तीसरा है—और शृंगार-काव्य में सबसे पहला। इनके कवित्व मे अजायबघर की भाँति अच्छे से अच्छे छंद देखते चले जाइए। इनके साहित्य मे अभूतपूर्व कोमलता, रसिकता, सुन्दरता आदि गुण कूट कूट कर भरे हैं। प्रसाद, समता, माधुर्य्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, समाधि, कान्ति और उदारता नामक गुण देव की रचना मे पाये जाते हैं। कही कहीं ओज का भी चमत्कार है। पर्य्यायोक्ति सुधर्मिता, सुशब्दता, संक्षिप्त प्रसन्नतादि गुणो की भी आपकी रचनाओ मे बहार है। कुल मिलाकर जैसी सुहावनी भाषा यह महाकवि लिखने मे समर्थ हुए है, उससे आधी सोहावनी भी कोई अन्य कवि नहीं लिख सका। भाषा-सम्बन्धी काव्याङ्गो के साथ, इन कवि ने अन्य काव्यांग भी अपनी रचना मे बडी प्रचुरता से रखे है। इनके एक एक छंद मे अनेकानेक अलंकार, गुण, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, भाववृत्ति, पात्र, रस आदि के उदाहरण मिलते है, और मानुषीय प्रकृति

के निरीक्षण का फल प्रायः सर्वत्र प्रकट है। भाव-शबलता और तल्लीनता इनकी रचना का मुख्यांग है।

मिश्रबन्धुओं ने नवरत्न के उपरान्त देवग्रन्थावली, मिश्रबन्धुविनोद, और अभी कुछ दिन हुए देव-सुधा का सम्पादन किया। इसमें कहीं-कहीं कुछ भेद मिलता है, परन्तु यह सब भेद नवरत्न के छठे [अंतिम] संस्करण में मिट गया है। इसी के आस-पास कविता-कौमुदी [पहला भाग], और कीए महोदय का हिन्दी साहित्य का इतिहास सामने आया। जहाँ तक देव का सम्बन्ध है इन दोनों ग्रन्थों मे नवरत्न और विनोद के ही तथ्यों को ग्रहण किया गया है। संवत् १९७७ मे पं० कृष्णविहारी मिश्र कृत 'देव और बिहारी' मे देव और बिहारी के तुलनात्मक अध्ययन के अतिरिक्त स्वयं देव-सम्बन्धी अत्यन्त मूल्यवान् सामग्री उपलब्ध हुई। पं० कृष्णविहारी का विवेचन अत्यन्त व्यवस्थित और मार्मिक है—उन्होंने देव के अध्ययन मे सम्यक् श्रीवृद्धि की, इसमें संदेह नहीं है। उनके निष्कर्ष इस प्रकार है :—

[१] देवशर्मा [द्योसरिहा या दुसरिहा] ब्राह्मण थे। [धौसरिहा पाठ को उन्होंने अशुद्ध माना है]।

[२] मातादीन से प्राप्त वंश-वृक्ष को संदिग्ध मानते हुए उन्होंने यही स्वीकार किया है कि "देव के पिता का नाम क्या था यह विदित नहीं है"। पं० बालदत्त जी के इस अनुमान को कि देव के विद्यागुरु गो० हितहरिवंश रहे होंगे अधिक संगत नही माना।

[३] कुछ समय तक इटावा और मैनपुरी जिले एक मे सम्मिलित रहे हैं—अतएव सम्भव है कि देव के समय में भी वे एक ही हों। इस प्रकार, यद्यपि देव जी इटावा के ही निवासी थे—यही अधिक प्रमाण-सम्मत है, फिर भी उन्हे मैनपुरी जिले का निवासी मानने वालो की धारणा भी सर्वथा भ्रान्त नही है।

[४] देव के आश्रयदाताओं मे भरतपुर-नरेश महाराज जवाहिरसिंह का भी नाम आता है। कहते हैं वहाँ जाकर देव ने एक कठोर भविष्यत्वाणी की थी जो बिल्कुल ठीक उतरी।

[५] देव का मृत्यु-काल महमदी राज्य के अकबर अलीखाँ और भरतपुर के राजा जवाहिरसिंह के समय का विचार करते हुए सं० १८२५ के लगभग ठहरता है।

[६] देव के स्वभाव मे रसिकता और आत्माभिमान के साथ, शान्ति और वैभवप्रियता का भी योग था। कहते हैं वे जो जामा पहनते थे वह इतना

विशाल और घेरदार होता था कि राजदरबारों में जाते समय कई सेवक उसे घसिटने से बचाए रखने के लिए उठाए रहते थे।

[७] देव के ग्रन्थों की संख्या और नाम प्रायः वे ही हैं जो मिश्र-बन्धुओं ने नवरत्न मे दिए हैं। केवल १-शृङ्गार-विलासिनी, २-नखसिख-प्रेमदर्शन और वैद्यक ग्रन्थ—ये तीन नाम और जोड़ दिये गये हैं। [परन्तु आज कृष्ण-बिहारी जी का मत है कि शृंगारविलासिनी देवकृत ग्रन्थ नहीं है। शिवाष्टक के विषय मे भी उनकी यही सम्मति है।

[८] देव जी ने भी उत्तम भाषा मे प्रेम का सन्देश दिया है। हिन्दी कवियों में उन्होंने ही सबसे पहले यह मत दृढ़ता-पूर्वक प्रकट किया कि शृंगार रस सब रसों में श्रेष्ठ है।

[९] हिन्दी भाषा के कवियो मे केशवदास जी प्राचीन अलकार-प्रधान प्रणाली के कवि थे, तथा देव जी उसके बाद की—रस [भाव] को सर्वस्व मानने वाली—प्रणाली के।

'देव और बिहारी' का जवाब ला० भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' मे दिया है। यह पुस्तक देवविषयक कोई सूचना हमको नहीं देती, परन्तु उनके दोषों—विशेषकर भाषा-सम्बन्धी अव्यवस्थाओं के अध्ययन के लिए इसका महत्व अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। लाला जी की भाषा-विषयक पकड़ अचूक होती थी और इस दृष्टि से देव के अध्ययन मे हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

इस प्रकार वास्तव में देव-विषयक अनुसंधान एक तरह से 'देव और बिहारी' पर आकर समाप्त हो जाता है। इसके उपरान्त पं० रामचन्द्र शुक्ल और डा० श्यामसुन्दरदास के इतिहासों में देव का प्रासंगिक विवेचन आता है। शुक्ल जी ने उन्हें अत्यन्त दृढ़ता-पूर्वक सनाढ्य घोषित किया है, केवल इस आधार पर कि इटावा प्रायः सनाढ्यों की बस्ती है। इसके अतिरिक्त अन्य तथ्यों के विषय में वे या तो मौन हैं-या फिर नवरत्न की धारणा को ही उद्धृत कर संतोष कर लेते हैं। शुक्ल जी देव की प्रतिभा का लोहा मानते हुए भी यह समझते हैं कि देव ने पेचीले मजमून बांधने में उसका दुरुपयोग किया है। उन्होंने देव की तथाकथित मौलिक उद्भावनाओं का सप्रमाण निषेध किया है, और उन्हे आचार्यत्व का श्रेय नही दिया। शुक्लजी के कथन मे सत्य का अंश स्वीकार करते हुए भी, यह तो मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने देव के आचार्य्य और कवि दोनो रूपों के साथ अन्याय किया है। रायबहादुर श्यामसुन्दरदास का विवेचन अधिक सहानुभूति-पूर्ण अतएव संगत है। उन्होंने इटावा मे सनाढयों की बहुसंख्या मानते हुए भी देव के विषय में मिश्रबन्धुओं के निष्कर्षों को ही (जो कि माता-

दीन आदि के साक्ष्य पर आश्रित हैं) ग्रहण किया है । उन्होंने देव के दोनों पक्षों के साथ पूरा पूरा न्याय करते हुए उनकी सौंदर्य-विवृति, तन्मयता, काव्यक्षेत्र की व्यापकता और तदनुसार शब्द-भण्डार एवं कल्पना-कोष की समृद्धि की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है । हिन्दी में अन्य इतिहास भी समय समय पर निकले, परन्तु उनमें उपयुक्त तथ्यों को ही उद्धृत किया गया ।

संवत् १९६१ से फिर देव के भाग्य ने ज़ोर मारा और उनके कुछ ग्रन्थों का छोटी-बडी भूमिकाओं के साथ प्रकाशन हुआ । संवत् १९६१ में पं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी से 'भाव-विलास' का सम्पादन किया । उन्होंने आरम्भ में एक अत्यन्त संक्षिप्त प्रवचन दिया है, परन्तु उसका आधार सौ फीसदी नवरत्न ही हैं । इसी वर्ष भरतपुर के सिद्धान्त-वाचस्पति पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित ने एक बृहत् भूमिका के साथ देवकृत शृंगारविलासिनी का, जो एक बार पहले भी पं० अम्बिकादत्त व्यास की कृपा से संवत् १९४४ में प्रकाशित हो चुकी थी, सम्पादन किया । दीक्षित जी ने १५० पृष्ठ देव पर लिखे हैं—जिनमे उन्होंने अनेक प्रकार की बातें हमारे सम्मुख प्रस्तुत की हैं :—

[१] देव का जन्म संवत् १७३० वि० मे हुआ । वे इटावा मे लालपुरा के निकट अस्तल मुहल्ले में रहा करते थे । इनके वंशज बहुत दिनों से लालपुरा, अस्तल, छिपैटी और घटिया आदि मुहल्लों मे रहते आये थे । देव के इटावा-वास का प्रमाण ये :—

द्यौसरिया कवि देव को नगर इटाये वास ।

इस दोहार्ध के अतिरिक्त शृंगार-विलासिनी के अन्त मे उद्धृत निम्नलिखित संस्कृत के दोहे को भी मानते हैं :—

'देवदत्त कविरिष्टिका पुरवासी स चकार ।
ग्रन्थमिमं वंशीधर, द्विजकुल धुरं बभार ॥

[२] देव जी के पिता का नाम वंशीधर था । इसका अकाट्य प्रमाण भी वे उपयुक्त दोहे को तथा देवकृत संस्कृत ग्रन्थ 'लक्ष्मी-दामोदर-स्तवन' की निम्न-लिखित शिखरिणी को मानते हैं :—

इयं लक्ष्मी-दामोदर-नुति "इटेरा" भिधपुरा-
लयेनेत्थं वंशीधर-तनुज-देवाख्य-कविना ।
कृता........ . . .. (??)

[३] देव के आश्रयदाताओं की सूची में दीक्षित जी ने भरतपुर-नरेश जवाहिरसिंह के अतिरिक्त दिल्ली के कायस्थ रईस श्री पातीराम के पुत्र सुजानमणि,

गोहद के महाराणा बखतसिंह, उनके उत्तराधिकारी राणा माधवसिंह, तथा लखुना के राव खड्गराव के पुत्र राव छत्रसाल का नाम और जोड़ा है। इनमे प्रसिद्ध ग्रन्थ सुजानविनोद सुजानमणि को, बखतविलास आदि राणा बखतसिंह को, माधवगीत राणा माधवसिंह को, तथा वृत्तमंजरी राव छत्रसाल को समर्पित है।

(४) देव की मृत्यु संवत १८४६ मे हुई होगी। सवत् १८४१ के पश्चात् तक वे जीवित थे— इसमे कोई सन्देह नहीं; क्योंकि उन्होंने स्वयं भट्टोत्पली नामक ज्योतिष ग्रन्थ पर लिखा है :

'संवत् १८४१ मार्गशुक्लप्रतिपदायां लक्ष्मणपुरे दीक्षितदेवदत्तेन स्वपाठार्थं लिखितेयं भट्टोत्पली समाप्तिमगात्'। राजा उद्योतसिंह के यहाँ से चलकर देवजी पुरावली चले आये थे और यहाँ बड़े आमोद-प्रमोद से रहते थे। परन्तु सहसा रुग्ण हो जाने से राव छत्रसाल ने उन्हे दलीपनगर की गढी मे, जो यमुना के किनारे है और जलवायु की दृष्टि से अच्छा स्थान है, भेज दिया था। कहा जाता है कि वहीं वे संवत् १८४६ मे वृत्तमंजरी रच कर पंचतत्व को प्राप्त हुए।❀

(५) 'नवरत्न', 'देव और बिहारी' आदि मे उल्लिखित ग्रन्थो के अतिरिक्त देव के निम्नलिखित ग्रन्थो के नाम दीक्षितजी ने और दिये है :—

ब्रजभाषा— बखत-विलास (रचनाकाल १८३१), बखतविनोद (रचनाकाल सं० १८३५), बखतशतक, कालिका-स्तोत्र, श्रीनृसिंहचरित्र, प्रज्ञान शतक, माधवगीत (सं० १८३९), वृत्तमंजरी (सं० १८४६)।

संस्कृत—शृंगार-विलासिनी, रघुनाथलहरी, शक्तिविलास, लक्ष्मीनृसिंह-पंचाशिका, श्रीलक्ष्मीनृसिंहाष्टक, मनोभिनन्दिनी, महावीरमल्लारी-स्तोत्र, शिव-पंचाशिका, साम्बशिवाष्टकम्, लक्ष्मीदामोदरस्तोत्र।

ये सभी देवदत्त कवि की कृति हैं। इसके प्रमाण मे प्रायः ऐसे उद्धरण दिये गए हैं, जिनमें कवि का नाम आता है और बहुत से उद्धरणों मे समाप्तिकाल भी दिया हुआ है।

दीक्षित जी की भूमिका का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि दीक्षित जी ने गम्भीरतापूर्वक मनन करने के उपरान्त ये निष्कर्ष नही निकाले। इनमे बहुत जल्दबाजी की गई है। जैसा उन्होंने लिखा है, यह ठीक है कि लखुना राज्य का इतिहास लिखते समय अथवा अन्य राजकीय कामों के सिलसिले मे

❀ संवत् १८४६ आश्विन विजया दशमी वृत्तमंजरी पूर्णाकृता।

उनको कुछ अच्छी हस्तलिखित सामग्री प्राप्त हो गई थी, परन्तु उसकी उचित परीक्षा करने का धैर्य उनमें नहीं रहा। साथ ही वांछित ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक दृष्टिकोण की भी उनमें निर्धनता दिखाई देती है, इसी लिए उनका विवेचन बिखरा हुआ तथा असंगत है, उसमें काफी कच्ची-पक्की बातों का समावेश कर दिया गया है। कहीं वे सन् को संवत् पढ़ गए हैं—उदाहरण के लिए ला० भगवानदीन ने मिश्रबन्धु-विनोद के आधार पर देव का जन्म सन् १६७३ और मृत्यु सन् १७४९ में मानी है, परन्तु दीक्षित जी ने उन्हें संवत् ही मान लिया है। कहीं बिना ग्रन्थ को देखे हुए ही उनके विषय में सम्मति दे गये हैं—जैसे "काव्य रसायन और सुखसागरतरंग में कृति-सादृश्य है।" अथवा "राग-रत्नाकर के अनेक पद ज्यों के त्यों माधवगीत में आ गये हैं।" माधवगीत मैंने देखा नहीं है, परन्तु स्वयं दीक्षित जी ने उसका वर्णन करते हुए जो उदाहरण दिये हैं—उनसे स्पष्ट है कि वह ग्रन्थ 'पदों' में लिखा गया है, जब कि इसके विपरीत रागरत्नाकर पूरा देव के प्रिय छन्द कवित्त, सवैया, दोहा और छप्पय में ही समाप्त हुआ है। देव की प्रशस्ति-विषयक "सूर सूर, तुलसी सुधाकर, नक्षत्र केसों"—इस प्रसिद्ध कवित्त को आपने वेखटके देव का ही मान लिया है। सर्वश्री ब्रजराज, मिश्रबन्धु और कृष्णविहारी जी का साक्ष्य है कि यह छन्द बहुत नवीन है—और ब्रजराज जी के समय के ही आस-पास किसी अज्ञात कवि द्वारा रचा गया था। देव के किसी ग्रन्थ में यह छन्द नहीं मिलता। भवानीदत्त वैश्य को जिन्हें भवानी-विलास समर्पित किया गया है, एक जगह औरैया जिला इटावा का रईस माना गया है—दूसरी जगह नादरी जिला बुलन्दशहर का; जबकि देव ने स्पष्ट ही उन्हें दादरीपति लिखा है। इसी प्रकार आप सुजानविनोद को संवत् १८०७ की रचना मान बैठे हैं—यद्यपि आपकी प्रति के प्रतिलिपिकार वेनीधर त्रिपाठी ने उस पर अपना नाम देते हुए स्पष्ट ही स्वपठनार्थ लिख दिया है जिससे सिद्ध है कि वह प्रति संवत् १८०७ की लिखी हुई है न कि सुजानविनोद। ऐसे ही कच्चे-पक्के निष्कर्षों के आधार पर उन्होंने (अ) छः ब्रजभाषा ग्रन्थ, और तेरह संस्कृत ग्रन्थों को देव पर और लाद दिया है, (आ) देव की अवस्था ११६ वर्ष की मान ली है। भाव-विलास से लेकर सुखसागर तरंग तक देव के सभी ग्रन्थों का अध्ययन करने वालों को यह तुरन्त ग्राह्य हो जायगा कि देव की शैली में उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप है—आप मतिराम, घनानन्द, पद्माकर, वेनीप्रवीन—किसी के छन्दों के साथ उन्हें रख दीजिए, उनके विषय में भ्रम नहीं हो सकता। अतएव देव के ग्रन्थों की प्रामाणिकता का निर्णय करने में उसकी भाषा-शैली हमारे पास एक अत्यन्त विश्वस्त मानदण्ड है। इस शैली में और वखत-विलास, ग्रन्थ-विनोद, माधवगीत आदि की शैली में आकाश पाताल का अन्तर है।

[इसका सप्रमाण विवेचन देव के ग्रन्थों के प्रसंग में किया जाएगा ।]

अतएव हमारी निश्चित धारणा है कि उपर्युक्त अतिरिक्त ग्रन्थ किन्ही दूसरे देवदत्त कवि के हैं । प्रतिभा उनमे इतनी साधारण थी कि देव के भाषा-काव्य में उनकी रचनायें किसी भी प्रकार नही खपाई जा सकती । अतएव दीक्षित जी के निष्कर्ष अधिकांशत: इन्ही ग्रन्थों पर आधृत होने के कारण अमान्य है ।

शृंगार-विलासिनी के चार वर्ष उपरान्त ब्रजभाषा के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि श्री हरिदयालुसिंह द्वारा सम्पादित 'देवदर्शन' प्रकाशित हुआ । इसमें देव के प्रसिद्ध ग्रन्थो के चुने हुए छन्दो का संग्रह किया गया है । अन्त मे जो 'स्फुट छन्द' दिए गये हैं वे भी प्राय: इन्हीं ग्रन्थों मे या प्रेमतरंग, प्रेमपचीसी आदि मे अन्तभूत है, स्वतन्त्र नहीं हैं । ग्रन्थ के आरम्भ मे ८६ पृष्ठ की एक भूमिका है, परन्तु उसमें न कोई नवीन अनुसंधान है, और न नवीन दृष्टिकोण है । देव के जीवन-चरित्र के नाम पर तो हरदयालु जी ने पं० कृष्णबिहारी मिश्र के 'महाकवि देव' लेख के तद्विषयक अंश का गद्यांतर मात्र दे दिया हैं ।

देव-विषयक ग्रन्थों की सूची अन्त में सम्मेलन द्वारा प्रकाशित शब्द-रसायन (सं० २०००) पर आकर समाप्त होती है । इसके सम्पादक हैं श्री जानकीनाथसिंह 'मनोज' एम० ए० । मनोज जी ने चौंसठ पृष्ठ की भूमिका में रीति-काव्य का सक्षिप्त ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक विवेचन देने के उपरान्त देव के जीवन-वृत्त, देव के काव्य-गत गुण-दोष तथा शब्द-रसायन की विशेषताओं पर दृष्टिपात किया है । इन्होने रीति-काव्य के अध्ययन के लिए तो अवश्य एक नवीन दृष्टिकोण हमारे सम्मुख रखा है, परन्तु देव के विषिय में मिश्रबन्धुओं के अनुसंधान को ही ज्यो का त्यों स्वीकार कर लिया है ।

देव का जीवन-चरित्र

देव नामधारी अनेक कवि:—हिन्दी साहित्य मे ६-७ देव अथवा देवदत्त कवियों के नाम आते हैं । श्रीयुत शिवसिह सेंगर ने अपने सरोज मे प्रसिद्ध कवि देव के अतिरिक्त जिनको कि उन्होंने प्राचीन समनि जिला मैनपुरी वाले कहा है, तीन और देव अथवा देवदत्त नाम के कवियों का उल्लेख किया है । इनमें एक का नाम देव काष्ठ-जिह्वा है । ये विरक्त साधु थे तथा संस्कृत साहित्य के उद्भट विद्वान् थे । ये प्राय: काशी में ही रहा करते थे । काशी-नरेश महाराज ईश्वरीनारायणसिंह इनके परम भक्त थे । इनकी कविता का विषय भगवद्भक्ति था । इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की है :—

विनयामृत, रामलगन, रामायण-परिचर्या, वैराग्य-प्रदीप और पदावली। पदावली का रचनाकाल संवत् १८६७ है।

वास्तव में देव के और इनके काव्य-व्यक्तित्व और समय में इतना अन्तर है कि दोनों के विषय मे किसी प्रकार की भ्रांति के लिए स्थान नहीं है। देव काष्ठ-जिह्वा की कविता भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से अत्यन्त हीन है।

जय मंगल सिय जू के पद हैं।
जस तिरकोण यन्त्र मंगल के अस तरिवन के कद हैं।
मलहिं गलावहिं जे तन मन के जिनकी अटक विरद हैं।
मंगल हू के मंगल हरि जहँ सदा बसे ये हद हैं॥

शेष दो कवियों का पूरा नाम भी देवदत्त था।—इनमें एक का जन्म शिवसिंह ने संवत् १७५२ माना है—इनकी मुख्य रचना है योगतत्व। मिश्र-बन्धुओ ने इन्हें कन्नौज के पास कुसवारा ग्राम का निवासी लिखा है और इनका जन्म संवत् १७०३ तथा कविता-काल १७३० के आस-पास माना है। ये कवि प्रसिद्ध कवि देव से एक पीढ़ी बड़े थे—फिर भी ये उनके समसामयिक अवश्य रहे होंगे। दोनो के वास-स्थान भी बहुत दूर नहीं थे। कन्नौज मैनपुरी और इटावा पास ही पास हैं। परन्तु इन दोनो की काव्यशैली और काव्य-विषय मे भी आकाश पाताल का अन्तर है।

पुहुमी पवन अकास वारि पावक ससि दिनमनि।
अरु कपोत अजगर समुद्र मृग वे मतंग गनि॥
लखि पतंग अरु मीन भ्रमर जुग विधि मधुमाछी।
कै पिंगला निरास बाल लीला-रुचि आछी॥
द्विज-कुमार कामुक विरंचि मनिधर सुन लीन्हों।
मकरी भृंगी जोग जान अपनो तनु चीन्हो॥
चौबिस गुरु सिच्छा प्रगट भेदु-वाद सब परिहरौ।
मध्य सच्चिदानन्द घन, देवदत्त हरि पगु धरौ॥

तीसरे देवदत्त के विषय में शिवसिंह को कोई विशेष जानकारी नहीं मालूम पड़ती। सरोज मे उनका एक ही छन्द उद्धृत है:—

सूने केलि मन्दिर में नायक नवीने साथ नायका रसीली रस बात को छुवा गई।
देवदत्त कौन हूँ प्रसंग तें सुने ते नाउं सौति सौं रिसाइ प्यारी पिय को विदा दई।
ताही समै पापी पपिहा की धुनि कान परी आँसुई उमंग ऋतु पावस की ह्वै गई।
छूटे केस छटा देखि देखि मेघ-घटा, बाल फिरैं अटा अटा बाजीगर को बटा भई।

इनका जन्म संवत् १७०९ दिया हुआ है, काव्य के विषय मे लिखा हुआ है कि ललित-काव्य है—बस।

यदि शिवसिंह जी की मान्यता को विश्वस्त मान लिया जाय तो ये कवि भी देव के समसामयिक रहे होंगे। यह ठीक है कि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर देव के छन्दों की अपेक्षा इस छन्द के बंदों में शिथिलता अस्पष्ट है, फिर भी इनकी शैली मे कुछ स्पर्श ऐसे हैं कि इसके विषय में देव की आरम्भिक रचना होने का यत्किंचित् भ्रम हो सकता है। "बाजीगर को बटा भई" सुन्दर उपमा है। बिहारी ने तो इसका उपयोग किया ही है :—

'भई रहत नट को बटा अटकी नागर नेह।'

देव को भी ऐसी उपमाएं प्रिय थी।

मिश्रबन्धु इस कवि के विषय मे सर्वथा मौन हैं—उन्होंने कोई विशेष सामग्री उपलब्ध न होने के कारण उसका उल्लेख तक नही किया। खोज मे भी इस विषय की सामग्री हस्तगत नही हुई। ऐसी दशा मे इस एक छन्द के आधार पर दो प्रकार की कल्पनाएं की जा सकती हैं। एक तो यह कि यह छन्द देव के ही किसी प्रारम्भिक अप्राप्य ग्रंथ मे से ही न हो। दूसरी यह कि इसका रचयिता कोई दूसरा देवदत्त कवि था जो हमारे आलोच्य से अवस्था मे लगभग २९ वर्ष बड़ा था। वह भी रीतिकार कवि था और उसने भी नायिका-भेद पर कोई ग्रंथ लिखा था—प्रस्तुत छन्द उसी में कलहांतरिता के उदाहरण रूप दिया गया होगा। कविता में यह अपना उपनाम न लिखकर पूरा नाम 'देवदत्त' ही लिखता था जबकि देव ने एक भी छन्द मे 'देव' या 'देवजू' को छोड़ कही देवदत्त नही लिखा। हमारी धारणा यह दूसरी ही है। इस कवि के छन्दो की देव के छन्दों के साथ कुछ गड़बड़ हो सकती थी परन्तु देव के ग्रंथ स्फुट छन्दो के संकलन नहीं है क्रमबद्ध विवेचन ग्रंथ हैं। इसलिए यह खतरा भी नहीं रहता है।

इनके अतिरिक्त दो कवि और शेष हैं जिनका अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन मिश्रबन्धु-विनोद के द्वितीय भाग में मिलता है। इनमे एक अपने को देव कवि लिखते थे। इनका रचनाकाल संवत् १७९७ था। इनका केवल एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है "रागमाला"। इनके आश्रयदाता कोई अमीरखाँ थे। दूसरे कवि का नाम देवदत्त था, ये काश्मीर के महाराज-कुमार ब्रजराज के आश्रित थे। उन्हीं के कहने से इन्होंने संवत् १८१८ के आस-पास द्रोणपर्व की रचना की थी। उपर्युक्त दोनो कवि देव के जीवन के उत्तरार्ध मे उनके समसामयिक अवश्य रहे होंगे, परन्तु साधारणतः देव और इनके समय में काफी अन्तर है।

अब केवल एक या दो कवि और इस नाम के रह जाते है। इनका उल्लेख, 'सरोज' 'विनोद' अथवा 'खोज' किसी मे भी नहीं है। इनके जीवन-वृत्त

और काव्य-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री हमको पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित द्वारा सम्पादित शृङ्गार-विलासिनी की भूमिका में मिलती है। दीक्षित जी को यह सामग्री लखना-राज्य के इतिहास का अन्वेषण करते हुए दलीपनगर के एक रईस में प्राप्त हुई थी। दीक्षित जी ने इनको और प्रसिद्ध कवि देव को एक ही मानते हुए इनके रचे हुए २० अतिरिक्त ग्रन्थों के नाम दिये हैं जिनमें कुछ संस्कृत के हैं—जैसे शृङ्गार विलासिनी, लक्ष्मीदामोदर-स्तुति, शक्ति-विलास, ममोभिनन्दिनी, शिवाष्टक आदि और लगभग दस हिंदी के हैं—उदाहरण के लिए कालिका-स्तोत्र, नृसिंह-चरित, बखत-विलास, बखत-विनोद, बखत-शतक, माधव-गीत और वृत्त-मंजरी इत्यादि। दीक्षित जी के दिये हुए संवतों के ही आधार पर शृङ्गार-विलासिनी की रचना सम्वत् १७५७ में और वृत्तमंजरी १८४६ में हुई थी। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि देव का कविता-काल ९० वर्ष तक विस्तृत था और वृत्तमंजरी की रचना के समय कवि की अवस्था कम से कम १०७, १०८ के आस-पास अवश्य थी। जैसाकि हमने अन्यत्र सिद्ध किया है कि प्रसिद्ध देव कवि के तो ये ग्रंथ हैं ही नहीं—उनके अतिरिक्त भी इनके रचयिता एक न होकर दो व्यक्ति थे। दीक्षित जी ने अनेक दीर्घजीवी स्त्री-पुरुषों के उदाहरण देकर यह प्रमाणित किया है कि ११६ वर्ष की अवस्था प्राप्त करना असम्भव नहीं है, ठीक है, परन्तु १०७, १०८ की अवस्था में वृत्तमञ्जरी जैसा २०० पृष्ठों का विशालकाय ग्रन्थ लिखना अवश्य विश्वसनीय नहीं है। दुर्भाग्यवश दीक्षित जी आज जीवित नहीं हैं और उनके सुपुत्र उक्त ग्रन्थों का पता लगा कर हमें देने में असमर्थ हैं, इसलिए हम विस्तृत प्रमाण देकर अपनी धारणा की पुष्टि नहीं कर सकते। परन्तु उन्होंने जो उदाहरण दिए हैं (और वे अपर्याप्त नहीं हैं) उनसे यह स्पष्ट है कि दीक्षित जी यहाँ भी भूल कर गये हैं। उनके आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि उपर्युक्त ग्रन्थों के रचयिता भी दो पृथक् देवदत्त कवि थे। दोनों की कविता में विषय तथा उसके प्रतिपादन की दृष्टि से कोई समानता नहीं है। शृंगार-विलासिनी तथा अन्य संस्कृत ग्रंथ एक देवदत्त कवि के हैं: ये वंशीधर दीक्षित के पुत्र थे और इटावा इनका निवास-स्थान था। दूसरे देवदत्त भी दीक्षित थे क्योंकि इन्होंने बखतविलास, माधवगीत आदि में परिच्छेदों की समाप्ति पर अपने को सदीक्षित लिखा है। ये भी इटावा के ही आस-पास कहीं रहते थे। वहीं के कुछ राजा-रईस जिनमें गोहद के बखतसिंह, उनके पुत्र माधवसिंह और पुरावली के राव छत्र-साल मुख्य थे, इनके आश्रयदाता थे। कविता में ये देव और देवदत्त दोनों ही नाम थे। ये दोनों ही व्यक्ति अत्यन्त साधारण श्रेणी के कवि थे, दोनों बहुत समय तक सम-सामयिक रहे होंगे, परन्तु वैसे संस्कृत-ग्रन्थकार का रचना-काल कुछ पहिले था।

प्रसिद्ध कवि देव का व्यक्तित्व इन सभी से पृथक् था।

नाम :—कवि का पूरा नाम देवदत्त था। 'देव' उनका उपनाम था जिसका उपयोग वे छन्दों में—प्राय: प्रत्येक कवित्त और सवैया में करते थे। विभिन्न ग्रंथों के परिच्छेदों के अन्त मे उन्होंने अपना पूरा नाम सर्वत्र देवदत्त ही लिखा है। भोगीलाल ने भी उनका नाम देवदत्त ही लिखा है—

देवदत्त कवि जगत में भये देव रमणीय।

साधारण व्यवहार मे लोग इनको दुबे जी कहते थे।

जन्म :—देव का जन्म उनके अपने साक्ष्य के अनुसार सम्वत् १७३० वि० मे हुआ था :—

शुभ सत्रह सै छियालिस, चढत सोरही वर्ष।
कढी,देव मुख देवता, भाव-विलास सहर्ष॥

उपर्युक्त दोहा भाव-विलास के उपसंहार रूप मे लिखे हुए तीन दोहो मे से दूसरा है। इससे स्पष्ट है कि सम्वत् १७४६ मे देव ने सोलहवें वर्ष से पदार्पण किया था अर्थात् उनका जन्म सम्वत् १७३०-३१ मे हुआ था। ठाकुर शिवसिंह ने देव का जन्म-काल सम्वत् १६६१ लिखा है, परन्तु देव की साक्षी के सामने उनका जन-श्रुति पर आश्रित यह मत सर्वथा निराधार ठहरता है।

वर्ण, गोत्र आदि :—देव ने स्वयं अपने आपको द्यौसरिया ब्राह्मण कहा है। भाव-विलास की हस्तलिखित प्रति मे इसका प्रमाण मिलता है :—

द्यौसरिया कवि देव को, नगर इटायो बास।
जोवन नवल सुभाव रस, कीन्हों भावविलास॥

आरम्भ में पण्डित बालदत्त जी मिश्र तथा मिश्रबन्धुओ ने द्यौसरिया को धौसरिया पढकर देव को सनाढ्य ब्राह्मण मान लिया था। धौसरिया सनाढ्य ब्राह्मणों की एक अल्ल होती है, इधर इटावा प्रान्त मे सनाढ्यों की अधिक संख्या होने के कारण यह धारणा और भी पुष्ट हो गई। रायबहादुर श्यामसुन्दर की भी राय सनाढ्य पक्ष में ही थी। शुक्ल जी ने तो निश्चित रूप से ही देव को सनाढ्य मानते हुए मिश्रबन्धुओ पर व्यंग भी किया है। परन्तु वास्तव मे इस भ्रम का मूल कारण उपर्युक्त पाठ-दोष ही था। द्यौसरिया दुसरिहा का रूपान्तर है—यह शब्द व्रजभाषा का ही है और 'देवसर' या 'देवसरिया' में 'हा' प्रत्यय लगाने से बनता है। देवसर या देवसरि का अर्थ है देव-तुल्य; 'हा' व्रजभाषा में वाला के अर्थ में प्रयुक्त होता है जैसे 'मिसहा', 'टलिहा' आदि। इटावा प्रान्त और नगर मे भी देवसर या दुसरिहा ब्राह्मण अनेक रहते हैं जो कान्य-कुब्ज (द्विवेदी) ब्राह्मण

है। इस प्रकार हमारी धारणा है कि यह शब्द 'देव शर्मा' का रूपान्तर न होकर देवसर का ही प्रचलित रूप है। इटावे में सनाढ्य अवश्य हैं, परन्तु नगर में कान्यकुब्जों की ही संख्या अधिक है। लालपुरा, बटिया आदि में उनके बहुत से घर हैं जिनमें दो तीन तो देव के वंशजों के ही हैं। इनमें श्री नीलकण्ठ आज भी इटावे के प्रतिष्ठित पण्डित हैं और श्री रामप्रसाद शास्त्री भी संस्कृत के अच्छे ज्ञाता हैं।

देव के कान्यकुब्ज ब्राह्मण होने का दूसरा अकाट्य प्रमाण उनके प्रपौत्र भोगीलाल का दिया हुआ वंश-परिचय है जिसमें उन्होंने देव तथा अपने को स्पष्ट शब्दों में काश्यपगोत्री द्विवेदी कान्यकुब्ज माना है।

काश्यप गोत्र द्विवेदी कुल कान्यकुब्ज कमनीय।
देवदत्त कवि जगत में भये देव रमनीय॥

अतएव देव द्विवेदी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे—उनका गोत्र काश्यप था और अल्ल 'दुसरिहा' थी।

पिता का नाम तथा वंश-परम्परा :—कवि के पिता का नाम क्या था इस विषय में किसी ग्रंथ में दिया हुआ प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। न तो देव ने और न भोगीलाल ने ही इस विषय में कुछ लिखा है। अतएव जिज्ञासुओं को केवल प्रासंगिक प्रमाणों पर ही संतोष करना पड़ता है। इन प्रासंगिक प्रमाणों के आधार हैं पं० मातादीन दुबे और उनके पास सुरक्षित देव का वंश-वृक्ष। मातादीन जी से मैं स्वयं मिला हूँ। वे अर्ध-शिक्षित ग्रामीण पण्डित हैं, उनमें आलोचनात्मक अथवा ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव है, परन्तु स्वभाव से वे खरे और स्पष्टवादी हैं। देव के कुछ ग्रंथों की पूर्ण एवं खण्डित प्रतियाँ उनके यहाँ हैं ही, भोगीलाल के दो ग्रंथ बखत-विलास और अलंकार-प्रदीप भी उनके पास मौजूद हैं—देव के विषय में कुछ विश्वस्त सूचनाएं और किम्वदंतियाँ भी उनसे प्राप्त हो सकती हैं। मैंने उनसे घंटों बातचीत की है, निर्धनता-जन्य दो एक दोष उनके स्वभाव में अवश्य आ गये हैं, परन्तु लम्बी चौड़ी हाँकने वाले आदमी वे नहीं हैं। उनकी बातचीत में देव अथवा अपने वंश की शान बढ़ाने का प्रयत्न बिलकुल नहीं होता। जो बात उन्हें नहीं मालूम है, उसके विषय में वे स्पष्ट ही अपनी असमर्थता प्रकट कर देते हैं। उनको अधिकांश सूचना अपने पितामह पण्डित बुद्धिसेन से प्राप्त हुई है जो ९६ वर्ष की आयु भोग कर सम्वत् १९५६ में स्वर्गवासी हुए थे। इस प्रकार बुद्धिसेन का जन्म सम्वत् १८६० ठहरता है। देव की मृत्यु को तब केवल २५, ३६ वर्ष हुए थे, भोगीलाल उस समय जीवित थे, उन्होंने तीन वर्ष पूर्व ही बखत-विलास को समाप्त किया था। अतएव पं० बुद्धिसेन से प्राप्त सूचना को अविश्वस्त मानने के लिए विशेष स्थान नहीं है। इन्हीं सज्जनों के वंश-वृक्ष के साक्ष्य के

अनुसार देव के पिता का नाम बिहारीलाल दुबे था। ये लोग इनसे ही अपने वंश-वृक्ष का आरम्भ करते हैं :—

दुबे बिहारीलाल भये निज कुल मंह दीपक।
तिनके भे कवि देव कविन मँह अनुपम रोचक॥
पुरुषोत्तम के छत्रपती बाबा-कृति लेखक।
भये खुलासी चन्द्र पुत्र बुद्धिसेनहु जी तक॥
जिनके राजाराम सुत पितु हमरे मतिमान।
तासुत मातादीन यह, दास रावरो जान॥

(एक मौखिक रूप मे प्रचलित छन्द)

इसके विरुद्ध केवल 'शृंगार-विलासिनी' और 'लक्ष्मी-दामोदर-स्तवन' आदि के प्रमाण है जिनमे देव के पिता का नाम वंशीधर स्पष्ट शब्दो में दिया हुआ है।

इयं लक्ष्मी दामोदरनुति-रटेरा-भिधपुरा
लयेनेत्थं वंशीधर-तनुज-देवाख्य-कविना-
कृता .. ..

दीक्षित जी ने इसे ही स्वीकृत किया है; परन्तु हम पहले प्रसङ्ग मे ही निवेदन कर आये हैं कि ये ग्रन्थ किसी अन्य देवदत्त कवि के हैं जो इटावा में ही रहते थे, परन्तु प्रस्तुत देव कवि से अवस्था मे छोटे और कवित्व मे अत्यन्त हीन थे। (इसका विस्तृत विवेचन आगे देव के ग्रन्थो के विवेचन के साथ भी किया गया है।)

इस वंश-वृक्ष के अनुसार देव के कोई भाई नहीं था। पुत्र दो थे भवानी-प्रसाद और पुरुषोत्तम। भवानीप्रसाद के वंशज इटावे मे हैं और पुरुषोत्तम के कुसमरा मे। देव के पुत्र तो कदाचित् साहित्यिक नहीं थे परन्तु उनके पौत्र छत्रपति अवश्य काव्य से अनुराग रखते थे। मातादीन जी के पास देवमायाप्रपंच की जो प्रति सुरक्षित है वह इन्ही की लिखी हुई है जिसको प्रतिलिपि शायद इन्होंने अपने वृद्ध पितामह के आदेश पर की होगी। कुसमरा-निवासियों में भोगीलाल प्रसिद्ध कवि थे। मातादीन, रामबाबू आदि वहाँ अब भी मौजूद हैं। इटावा मे भी पं० नीलकण्ठ ज्योतिषी और श्री रामप्रसाद शास्त्री आदि देव के वंशज जीवित हैं। इस प्रकार देव की आजकल सातवीं और आठवी पीढियाँ चल रही हैं।

वास-स्थान :—ठा० शिवसिंह ने और उनके अनुकरण पर कुछ लोगों ने देव को समनि गाँव जिला मैनपुरी का निवासी माना है परन्तु देव ने भाव-विलास में अपना वास-स्थान इटावा लिखा है :

द्योसरिया कवि देव को नगर इटायें वास ।

इससे स्पष्ट है कि कम से कम भाव-विलास के रचनाकाल अर्थात सोलह वर्ष की अवस्था तक देव इटावा में ही रहते थे। इटावा के पं० रामप्रसाद शास्त्री आदि का कथन है कि वे लालपुरा में रहते थे, (जहाँ उनके वंशजों के पुराने खानदानी मकान अब भी खड़े हैं) और २६ वर्ष की अवस्था में इटावा छोड़कर कुसमरा चले गये थे। यह बात कहीं लिखी हुई नहीं है—कवि के वंशजों में मौखिक रूप से चली आती है। लालपुरा के आस-पास ही घटिया मुहल्ला है जो यमुना के किनारे पर थोड़ी ऊँचाई पर बसा हुआ है। यहाँ से यमुना का दृश्य अत्यन्त भव्य प्रतीत होता है, लोगों का कथन है कि यह स्थान देव को अत्यन्त प्रिय था। इस प्रकार देव के आरम्भिक ग्रन्थ भाव-विलास और अष्टयाम इटावा में ही रचे गये थे और यहीं से वे उन्हें लेकर आज़मशाह की सेवा में उपस्थित हुए थे। कुछ वर्ष दिल्ली में और फिर कुछ वर्ष चर्खी-दादरी में रहकर फिर इटावा लौटे और वहाँ कुछ दिन अर्जित सम्पत्ति का उपभोग करने के उपरान्त कुसमरा में जा बसे। प्रेमतरङ्ग की रचना कवि ने अनुमानतः इसी अवकाश काल में इटावा रह कर की होगी।

कवि ने इटावा क्यों छोड़ा और कुसमरा में जाकर वह क्यों बसा? इस विषय में उनके वंशजो को कुछ नहीं मालूम। किम्वदन्तियाँ भी इस विषय में मौन हैं। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसका कारण साधारण ही रहा होगा, कोई विशेष घटना नहीं। कुसमरा इटावा-फरुर्खाबाद की सड़क पर इटावा से लगभग ३० मील की दूरी पर है। गाँव पुराना है, सड़क से दो फ़र्लाङ्ग हट कर मातादीन दुबे का मकान है। यह मकान बहुत पुराना नहीं है। लोगों का विचार है कि इसके पीछे वाले मकान में, जिसमे आज उनके अन्य वंशज रहते हैं, देव जी रहा करते थे। मातादीन जी के मकान के सामने ही एक बगीची के खण्डहर हैं जो आज भी देव जी की बगीची के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसमें एक छोटे-से टूटे-फूटे चबूतरे पर शिवलिंग स्थापित है और ऊपर एक पुराना नीम का पेड़ है। ये दोनों ही देव के हाथ के कहे जाते हैं। कवि जीवन के अन्त तक कुसमरा में ही रहा, ऐसा प्रचलित किम्वदंती आदि से सिद्ध है। आश्रयदाताओं के पास अथवा यात्रा के लिए वह बराबर आता जाता रहा, परन्तु उसका गृहस्थ कुसमरा में ही रहा।

आश्रयदाता—भक्तिकाल के सन्तों को छोड़ जो केवल भगवान् के दरबार में ही अपने को पेश कर सकते थे, हिन्दी के प्राचीन कवियों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में राजदरबार से अवश्य था। वास्तव में मध्य युग के आरम्भ से ही अन्य वर्गों की भाँति कवियों का भी एक पृथक् वर्ग बन गया था।

जिनके लिए कविता एक पैतृक व्यवसाय थी। आज का कवि दफ़्तर या विश्व-विद्यालय में नौकरी कर सकता है, खाँड और सुँघनी का व्यापार कर सकता है, इसके अतिरिक्त प्रेस की सुविधाओं के कारण साहित्य का भी थोड़ा बहुत व्यवसाय कर सकता है, परन्तु उस युग में कवि के लिए जीविका का केवल एक ही साधन था : राजाश्रय। अतएव वीर-गाथा-काल और रीति-काल के कवियों का जीवनवृत्त उनके आश्रयदाताओं से भी बहुत कुछ प्रभावित है।

देव की प्राथमिक रचनाएँ हैं भावविलास और अष्टयाम, जिनको वे आज़मशाह के यहाँ लेकर उपस्थित हुए थे। आज़मशाह ने उन्हें पसन्द किया था और निश्चय ही पुरस्कृत भी किया होगा।

दिल्लीपति अवरंग के आजमसाहि सपूत।
सुन्यो सराह्यो ग्रंथ यह अष्टयाम-संजूत॥

परन्तु देव ने स्थिर रूप से अधिक समय तक उसका राज्याश्रय भोगा था, इस विषय में संदेह है। संवत् १७४६ से लेकर अपनी मृत्यु पर्यन्त आज़मशाह का जीवन अस्थिर ही था। पहले वह पिता का स्नेह-भाजन होने के कारण उसकी ओर से दक्षिण में लड़ता रहा, फिर उसके संदेह का शिकार रहा, और अन्त में उसकी मृत्यु के उपरांत तो कुछ समय तक अंतिम संघर्ष कर वह बेचारा सदैव के लिये ही संसार से उठ गया। आज़मशाह केवल आश्रयदाता ही नहीं था, वह उस युग का प्रतिष्ठित साहित्य-पारखी भी था। काव्य के प्रति उसे गहरा अनुराग था—उसके आश्रय में काव्य की सृष्टि के अतिरिक्त काव्य का सम्पादन भी हुआ। बिहारी-सतसई का आज़मशाही क्रम उसीने किया-कराया था (?)* इसीलिए तो उदीयमान कवि देव उसकी सराहना को एक बड़े प्रमाणपत्र के रूप में उपस्थित करते हैं। गुणी और गुणज्ञ का यह साक्षात्कार दिल्ली ही में हुआ होगा। यह ठीक है कि आज़मशाह इन दिनों दक्षिण में पिता के साथ युद्ध-संचालन में भाग ले रहा था, फिर भी देव का १६ वर्ष की अवस्था में इटावे से दक्षिण पहुँचना बहुत संगत नहीं जँचता। बीच में कुछ समय के लिये जब युवराज दिल्ली आया होगा तभी देव उसकी सेवा में उपस्थित हुए होंगे।

ग्रंथों के रचनाक्रम के अनुसार देव के दूसरे आश्रयदाता दादरीपति राजा सीताराम के भतीजे भवानीदत्त वैश्य थे। दादरी दो हैं एक चर्ख़ी-दादरी जो रेवाड़ी से आगे है, दूसरी धूम-दादरी जो ज़िला बुलन्दशहर में है। दोनों स्थानों से खोज-बीन करने पर यह निश्चित हो जाता है कि राजा सीताराम चर्ख़ी-

* रत्नाकर जी का मत है कि इस क्रम का सम्बन्ध आज़मशाह से न होकर आज़मख़ाँ से है।

दादरी के रहने वाले थे। दिल्ली का बाज़ार सीताराम इन्हीं का बसाया हुआ है। ये शाहजहाँ के ख़ज़ान्ची थे और इन्हें राजा का भी ख़िताब हासिल था। इनके पिता का नाम साँवलसिंह था—देव ने इन्हें सँवलसिंह लिखा है। इनका वंशवृक्ष इस प्रकार है।
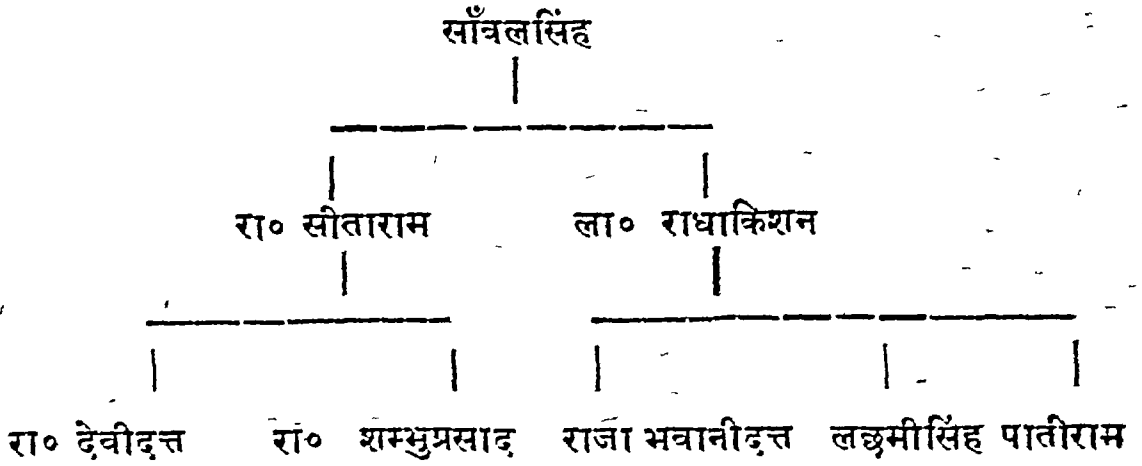
इस वंश के लोग आजकल भी सीताराम बाज़ार में रहते हैं। उपर्युक्त वंश-वृक्ष के अनुसार भवानीदत्त राजा सीताराम के पुत्र न होकर भतीजे ठहरते हैं—देवीदत्त उनके चचेरे भाई थे। परन्तु देव ने भवानीदत्त और देवीदत्त को राजा सीताराम का पुत्र माना है। इससे यही सिद्ध होता है कि राजा सीताराम भवानीदत्त को भी पुत्रवत ही मानते थे। भवानीदत्त गुणज्ञ एवं काव्यरसिक व्यक्ति थे। जिन दिनों देव दिल्ली मे रह रहे थे, उन दिनो भवानीदत्त भी सीताराम जी के साथ दरबार में आते जाते होंगे। वहीं उनका देव से साक्षात्कार हुआ होगा, और अनुमानतः जब आज़मशाह दक्षिण वापस चले गए होंगे तभी देव भवानी दत्त जी के साथ दादरी चले आये होंगे। भवानीदत्त की उन्होंने यथेष्ट प्रशंसा की है। सीताराम को 'धर्मधुज' कहा है, (और वास्तव में आज उनके विषय में जो सूचना मिलती है, उससे भी पता लगता है कि वे अत्यन्त धर्मभीरु व्यक्ति थे); भवानीदत्तको इन्द्र, कुबेर और देवतरु कहा है :—

ता सुत इन्द्र कुबेर सम वैश्य सुवंश महेन्द्र।

देव के तीसरे आश्रयदाता थे फफूंद के कुशलसिंह। वे सोलह-सत्रह वर्ष की अवस्था में दिल्ली गए थे और आठ-दस वर्ष पश्चिम में रहकर इटावा लौटे होंगे जहाँ कुछ वर्ष रह कर उन्होंने अर्जित सम्पत्ति का भोग किया होगा। इसी अवकाश-काल में शायद प्रेमतरंग का प्रणयन हुआ था। इसी बीच ये इटावा से कुसमरा चले गए—और शायद वहीं से फिर फफूंद गए। कुशलसिंह के विषय में कवि ने लिखा है :—

कुसल सरूप भूप भूपति कुसलसिंह,
नगर फफूंद धनी फूले जस जाहि के।
करन के करन सपूत सुभ करन के,
सेंगर महीप कुल दीप मधुसाहि के। (कुशलविलास)

इससे स्पष्ट है कि कुशलसिंह जी सेंगर क्षत्रिय थे, उनके पिता का नाम शुभ कर्णसिंह था और फफूंद उनके रियासत की राजधानी थी। देव ने उनके वैभव और दान दोनों की प्रशंसा की है जिससे यही धारणा होती है कि वे फफूंद में कुछ समय तक अवश्य रहे थे।

देव की आयु ३० वर्ष के लगभग थी। अब तक वे कम से कम तीन आश्रयदाताओं के यहां जा चुके थे। परन्तु अभी तक कोई ऐसा गुणज्ञ नहीं मिला था, जो उनको जीवन की चिंताओं से मुक्त कर देता, जिसके यहां स्थिरतापूर्वक रहकर वे सरस्वती का आराधन कर सकते। तत्कालीन राजा और रईसों का उन्हें अच्छा अनुभव नहीं था। वर्षों तक अभीष्ट संरक्षक की खोज में भटकते रहे, इसी बीच में उन्होंने देशव्यापी एक दीर्घयात्रा भी की। अन्त में संवत् १७८३ के आस-पास उनकी एक उदार गुणज्ञ राजा भोगीलाल से भेंट हुई, जिन्होंने उनकी प्रतिभा का उचित आदर किया। रसविलास उन्हीं को समर्पित है। अपने आश्रयदाताओं में देव ने सबसे अधिक प्रशंसा भोगीलाल की ही की है :—

पावस घन चातक तजै, चाहि स्वाति जलबिन्दु,
कुमुद मुदित नहि मुदित-मन जौं लौं उदित न इन्दु।
देव सुकवि तातें तजें, राइ, रान, सुलतान,
रसविलास सुनि रीझिहैं भोगीलाल सुजान॥
भूलि गयौ भोज, बाल बिक्रम बिसरि गये,
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं॥
राजा, राइ, राने, उमराइ उनमाने,
उन माने निज गुन के गरब गिरबी-दे हैं॥
सुयस बजाज जाके, सौदागर सुकवि,
चले हू आवै दसहू दिसान के उनीदे हैं॥
भोगीलाल भूप लख, पाखर लिवैया जिन,
लाखनि खरचि खरचि आखर खरीदे हैं॥

(रसविलास की एक हस्तलिखित प्रति)

भोगीलाल के विषय में उक्त छंदों से केवल इतना ही परिचय मिलता है कि वे अत्यन्त, गुणग्राही धनिक थे। काव्य में उनकी रुचि थी, उनके यहाँ देव

के अतिरिक्त अन्य कवियों का भी मान होता था। बस इससे अधिक उनके विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। वे शायद कोई शासक राजा नहीं थे। राजा या तो उनका खिताब था, या देव ने अपनी कृतज्ञता एवं भक्ति-भावनावश उन्हें 'भूप' लिख दिया है। देव ने अपनी समस्त कृतज्ञता उनके प्रति उंडेल दी है। उनको प्राप्त कर वे सुलतान आज़मशाह, राव कुशलसिंह और सेठ भवानीदत्त को भी भूल गये। जिसने लाख लाख देकर उनके अक्षरों को ख़रीदा हो, उसको पाकर, कोई आश्चर्य नहीं कि, कवि भोज, विक्रम और बलि जैसे दानियों को भी भूल जाये। परन्तु दुर्भाग्यवश यहां भी वे स्थिर होकर न रह पाये। मिश्रबन्धुओं ने इसके दो कारणों का अनुमान किया है, एक तो भोगीलाल की मृत्यु और दूसरा उनसे कवि की अनबन। ये दोनों ही बातें संभावना से परे नहीं हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त भोगीलाल की असमर्थता भी तो एक कारण हो सकती है। विवरण से स्पष्ट है कि भोगीलाल इतने वैभव-सम्पन्न राजा महाराजा नहीं थे कि देव जैसे सम्भ्रांत व्यक्ति की जीविका का पूर्ण उत्तरदायित्व जीवन भर के लिये ले लेते। कुछ समय तक उन्होंने श्रद्धा और आदरपूर्वक कवि का स्वागत-सत्कार किया होगा, फिर उसे स्वयं ही अन्यत्र आश्रय की खोज करनी पडी होगी। बड़े बडे राज्यों मे तो जीवन-वृत्ति की प्रथा चली आती है। वहां वह संभव भी थी, परन्तु छोटी रियासतो या ठिकानों में ऐसा सर्वदा संभव नहीं था।

भोगीलाल के यहाँ यद्यपि देव को अत्यन्त आदर सत्कार प्राप्त हुआ था, परन्तु इतने दिनो तक इधर उधर भटकने के कारण उनको इस प्रकार के पराश्रित जीवन से ग्लानि होने लगी थी। अवस्था भी अब काफ़ी प्रौढ हो चुकी थी। रस-विलास की समाप्ति तक वे यह अनुभव करने लगे थे—

बीचु मरीचन के मृग लौं अब धावै न रे सुन काहू नरिन्द के।
इन्दु सौ आनन तू जु चितै अरविन्द-से पांयन पूजि गुविन्द के॥

फिर भी उस समय का सामाजिक वातावरण इस प्रकार का था कि कवि के लिये राज्याश्रय के अतिरिक्त और कोई जीविका का साधन नही था। अतएव देव को इसके उपरान्त भी आश्रयदाताओ की ही शरण मे जाना पडा। प्रेम-चन्द्रिका का समर्पण उन्होने मर्दनसिंह के पुत्र उद्योतसिंह को किया है। उद्योत-सिंह बैस क्षत्रिय थे और इटावा के पास ड्योड़ियाखेरा के राजा-ज़मीदार थे।

मरदनसिंह महीप सुत बैस बंश विद्योत।
करो सिंह उद्योत को राधा हरि उद्योत (प्रेमचन्द्रिका)

प्रेमचन्द्रिका के समर्पण मे कोई विशेष भावुकता नहीं है, इससे यही व्यंजित होता है कि देव यहां बहुत समय तक नहीं रहे।

जैसा कि हमने आगे सिद्ध किया है— सुजानविनोद, प्रेमचन्द्रिका के बाद की कृति है। उसकी रचना पातीराम के पुत्र सुजानमणि के लिये की गई थी। पातीराम राजा नरोत्तमदास के पुत्र थे, वे जाति के कायस्थ और दिल्ली के रईस थे। कुछ लोगों का विचार है कि कूचा पातीराम इन्हीं का बसाया हुआ है, परन्तु यह ठीक नहीं है। कूचा पातीराम के बसाने वाले दूसरे ला० पातीराम थे, जो राजा सीताराम के भतीजे और भवानीदत्त के भाई थे। पातीराम के पुत्र राय सुजानमणि अत्यन्त काव्य-मर्मज्ञ तथा उदार थे। उनको धन-धाम पुत्र-कलत्र आदि सभी का सुख था।

रघु ज्यों मनु के वंश में, नृपति नरोत्तमदास।
ता सुत दशरथ ज्यों कियौ, पातीराम विलास ॥ ९ ॥
पातीराम विलास निधि, प्रगट पुण्य को धाम।
तेहि सुत राय सुजानजू, ज्यों दशरथ के राय ॥ १० ॥

राय सुजान सुजानमणि, धनि धनि धर्मविलास।
इन्द्र सकल कायस्थ कुल, इन्दरप्रस्थ निवास ॥ ११ ॥

कुंजर विराजैं द्वार गुंजरत भौर तीखे,
तरल तुरंग रंग रंग शुभ थान के।
दंपति सुफल बोलि संपति लहलहात,
बहुल विलास, ज्यों महल मघवान के।
कहालौं बखानें 'देव' सगुन उदारता के,
भूपति से भिक्षुक निवाजें दिन दान के।
पुन्य के प्रभाव लखि लखि श्री लुभाइ ऐसे,
साहिब-सुभाइ राइ साहिब सुजान के ॥ १२ ॥

पातीराम नन्दन प्रतापी संकमापति की,
कीरत कहानी जोत जागती जलप की।
सत्रुन के सोखे परिपोखे परिवार तोखे,
'देव' गुन पितरनि राखै न कलप की।
दान झरि झंप चित चंपत कुबेर धन,
सम्पति अधीन कीन्ही दासी ज्यों तलप की।
श्रीपति के अंक सिय सोवे निःसंक सके,
मान के कलपतरु सोभा संकलप की ॥ १३ ॥

दो०—भूप स्वयं भूपर किये, तुच्छ भिच्छुकनि गोत।
नृप सुजान संकलप-सों, अलप कल्पतरु होत ॥ १४ ॥

परत सुजान सुजान की, कृपा 'देव' कवि हर्षि।
किया सुजान विनोद को, रचन बचन-वसु वर्षि ॥ १९ ॥

(सुजानविनोद की पं० मातादीन वाली प्रति)

उपर्युक्त छन्द मिश्रबन्धु-सम्पादित सुजान-विनोद में नहीं मिलते। उस प्रति में आरम्भ के वे २० छंद नहीं हैं, जो कुसमरा में पं० मातादीन जी और भरतपुर में श्री गोकुलचंद दीक्षित के यहां सुरक्षित प्रतियों में स्पष्ट मिलते हैं। कुसमरा की प्रति सं० १८०७ वि० में बेनीधर त्रिपाठी नाम के किसी व्यक्ति द्वारा अपने उपयोग के लिये लिखी हुई है। इससे यह तो निश्चित हो ही जाता है कि सुजानविनोद की रचना सं० १८०७ से पूर्व अवश्य हुई थी। किसी दूसरे व्यक्ति ने अपने पढने के लिए यह प्रति तैयार की है—इनका अभिप्राय यह हुआ कि उस समय तक यह ग्रन्थ पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। इधर इसकी प्रौढ शैली और अन्य अन्तर्साक्ष्यों के अनुसार यह निश्चित ही रसविलास (सं०१७८२) तथा प्रेमचन्द्रिका के भी बाद की रचना सिद्ध होती है। ऐसी दशा मे हमारा अनुमान यही है कि सुजानविनोद की रचना सं० १७९०—१७९५ के आस-पास हुई है। समर्पण से ज्ञात होता है कि सुजानमणि ने देव को भली भांति संतुष्ट किया था। देव तीस चालीस वर्ष अपने देश मे बिताकर दूसरी बार दिल्ली आये थे और कुछ वर्ष इनके यहाँ रहकर फिर कुसमरा लौट गये। वे अब काफी वृद्ध हो चुके थे, शेष रचनायें जो या तो प्रौढ रीति ग्रन्थ हैं जैसे शब्दरसायन, या वैराग्यपरक ग्रन्थ हैं जैसे देवमायाप्रपंच देवशतक आदि, उन्होंने किसी को समर्पित नहीं कीं। अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि संवत् १८०० के आस-पास से वे अधिकतर कुसमरा मे ही रहने लगे थे। जीवन बहुत कुछ ढल चुका था। जीवन के कठोर संघर्ष एवं आश्रयदाताओं के रूखे व्यवहार ने उनके हृदय मे वैराग्य की गहरी भावना जागृत कर दी थी। जीवन के विकासकाल मे ही नरनाहों की 'नाहीं' सुनकर जो ग्लानि के भाव हृदय में अंकुरित हुये थे, वे अब परिपक्व हो चुके थे और वह अपने गाँव मे ही रहकर जैसी भी कुछ स्थिति थी उसी से संतुष्ट होकर विरक्त भाव से जीवन-यापन कर रहा था। किंवदन्तियों से पता लगता है कि इस बीच मे भरतपुर-नरेश के यहाँ वह एकाध बार अवश्य गया था किन्तु वहां का भी अनुभव अत्यन्त कटु रहा, और, अंतिम दिनों में शायद अलवर-नरेश से भी उसका कुछ सम्बन्ध रहा था।

इसके उपरान्त तो कवि ने बस एक ही बार और आश्रय की खोज की। उसके ये अन्तिम आश्रयदाता थे, अबादुल्लाखां के पुत्र अकबरअलीखां। ये महमदी राज्य के अधिपति थे और पिहानी इनकी राजधानी

थी। अकबरअलीख़ाँ प्रतापी और वीर होने के अतिरिक्त काव्य और कवियों के प्रेमी तथा रस-मर्मज्ञ भी थे :

'ख़ानअली अकबरअली जानत जँह रस-पंथ।'

❀ ❀

सानी सिंह दलीप महीपति पुरी-पिहानी।
सद्र जहानी सदरजहाँ जू की रजधानी॥
जिहि सुपुत्र मुर्तजा मुहम्मद सैद तासु सुत।
सैद मकद्दर तासु तासु खुर्रम अति अद्भुत॥
तिहि पुत्र अबादुल्ला सुखद जाकी जग महिमा भली।
तिहि तनय महमदी-महीपति खानबली अकबरअली॥

ऐसो कौन आज जाकी सोहत समाज जहाँ, सबको सुकाज साहिबी को सुख साज है।
देव गुण संत मंत, सामंत समाज राज-काज को जहाज दिल दरिया दराज है।
जा पै इतराज ता, गनीम सिर गाज बग-बैरिन पै बाज, सैद वंश सिरताज हैं।
सानी सुर-राज, जो पिहानी-पुर राज करैं मही मैं जहाज, महमदी महराज है।

(सुखसागर-तरंग)

अकबरअलीखाँ का समय संवत् १८२४ से आरम्भ होता है। उनके गद्दी पर बैठते ही कवि ने अपने समस्त ग्रन्थों का सार संगृहीत कर उन्हे समर्पित किया होगा। उसकी अवस्था अब ९४ वर्ष की हो चुकी थी। जीवन के कटु अनुभवों ने उसे आश्रयदाताओं की ओर से विरक्त कर दिया था, परन्तु फिर भी जीविका का प्रश्न सामने था। २०-२५ वर्ष घर पर रहने से कमाई पूंजी निःशेष हो चुकी थी निदान जीवन के अन्तिम दिनों में भी उसे आश्रय की खोज में पिहानी जाना पड़ा। नई रचना तो अब क्या सम्भव थी, पुराने ग्रन्थों के ही विशेष छन्दों का संग्रह कर ९४ वर्ष का वृद्ध कवि पिहानी जाकर अकबरअलीख़ाँ के दरबार में उपस्थित हुआ। उपर्युक्त छन्दों से स्पष्ट है कि वहां उसका यथेष्ट स्वागत-सत्कार हुआ। इतनी अधिक अवस्था में पिहानी जाकर रहना तो संगत नहीं जान पड़ता, अतएव यही निष्कर्ष निकलता है कि उचित पुरस्कार प्राप्त कर वह तभी कुसमरा लौट आया और वहीं आकर एक-आध साल मे उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार १६ वर्ष की अवस्था मे उचित आश्रय की खोज में जीवन का जो संघर्ष आरम्भ हुआ था, वह ९४ वर्ष की अवस्था तक लगभग निरन्तर ही चलता रहा।

यात्रा :—कवि के अलमस्त स्वभाव और जाति-विलास तथा रस-विलास में दिये हुये विभिन्न-देशीय स्त्रियों के वर्णन के आधार पर मिश्रबन्धु तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों की धारणा है कि उसने अपने जीवन में बहुत भ्रमण किया था। जातिविलास में अन्तर्वेद मगध, मालवा, आभीर, केरल, द्राविड़

भूटान, काश्मीर आदि सभी प्रान्तों की स्त्रियों की बाह्य विशेषताओं का, कम से कम उनकी आकृति तथा वेश-भूषा आदि का, सटीक चित्रण है ? जिससे यह अनुमान होता है कि यह यात्रा देश-व्यापी थी। इसका उद्देश्य आश्रय की खोज, तीर्थाटन अथवा परिभ्रमण इन तीनों में से कोई हो सकता है।—या वास्तव में तीनों ही मिले-जुले हो सकते हैं। क्योंकि यदि केवल आश्रय की खोज ही लक्ष्य होता तो अन्य भाषा-भाषी प्रान्तों मे जाने से क्या लाभ था; और यदि तीर्थाटन होता तो भूटान में कौन-सा ऐसा तीर्थ था ? इस यात्रा का प्रभाव कवि के व्यक्तित्व और काव्य दोनों ही के लिए शुभ हुआ, इसमें सन्देह नही। उसके ज्ञान और अनुभव दोनो में समृद्धि हुई, जीवन के प्रति दृष्टिकोण में विस्तार आया। काव्य पर भी उसका इन सभी बातों द्वारा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। परन्तु प्रत्यक्ष रूप से इस यात्रा के फलस्वरूप जो काव्य सृष्टि हुई वह अधिक उत्कृष्ट नहीं है— अन्वीक्षण की दृष्टि से भी चित्रण विशेष सफल नहीं कहे जा सकते क्योंकि कवि की दृष्टि प्रायः साधारण बाह्य विशेषताओं से आगे नहीं जा सकी।

गुरु तथा सम्प्रदाय :—पं० बालदत्तजी मिश्र ने लिखा है कि देव राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय के अनुयायी थे और स्वयं गोस्वामी हितहरिवंश जी ने ही उन्हें अपने सम्प्रदाय मे दीक्षित किया था। वे उनके द्वादश मुख्य शिष्यों के अन्तर्गत थे। इस मान्यता का आधार वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित सुन्दरी-सिन्दूर के मुख-पृष्ठ पर उद्धृत निम्नलिखित शब्द ही हैं :—

"श्री राधाचरण-सरोज-राजहंस गोस्वामी हितहरिवंश हित जी के द्वादश मुख्य शिष्यो के अन्तर्गत श्री स्वामिनी जी के अनन्य उपासक कवि-शिरोमणि मान्यवर श्री देव कवि रचित''' '।" देव के और गोस्वामी हितहरिवंश के समय मे लगभग एक शताब्दी का अन्तर है। हितहरवंश जी का जीवन अधिक-से अधिक संवत् १६४०—५० तक माना जाता है। ऐसी दशा मे भारतेन्दु बाबू या सुन्दरी-सिंदूर के प्रकाशक बा० अमीरसिंह को [क्योंकि ये शब्द या तो सम्पादक के हैं या प्रकाशक के] ऐसी धारणा कैसे हुई यह समझ मे नहीं आता। वैसे तो देव का समस्त काव्य राधाकृष्ण की माधुर्य्य-लीलाओ से भरा हुआ है स्वयं राधा-विषयक उनके अनेक छन्द हैं—परन्तु उन्होने राधावल्लभीय सम्प्रदाय मे दीक्षा ली थी ऐसा संकेत उनके ग्रन्थो मे या अन्यत्र नही मिलता। मिश्र-बन्धुओं ने उपर्युक्त शब्दों को भारतेन्दु बाबू के माना है, और उनको गुरुत्व देते हुए यह कल्पना कर ली है कि देव हित जी के अपने ही सम्प्रदाय वाले १२ मुख्य शिष्यों के अन्तर्गत थे। परन्तु यह कल्पना दुरारूढ़ सी-ही लगती है, और हमारी धारणा है कि ये शब्द भारतेन्दु जी के न होकर अमीरसिंह के ही है; क्योंकि जैसा उन्होंने 'विज्ञापन' में कहा है, सुन्दरी-सिंदूर का प्रकाशन भारतेन्दु जी

की मृत्यु के बाद हुआ था। परन्तु, शब्द-रसायन के मंगलाचरण में कवि ने गुरु की वन्दना में दो दोहे लिखे हैं जिनसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि उसके कोई गुरु थे अवश्य, जिनमें उसे गम्भीर श्रद्धा थी :

देव चरित गुरु देव की महिमा कहि जग भौन,
अघ-अजगर लीलै न तरु, जियत निकासै कौन ?
श्री गुरुदेव कृपालु की, कृपा-सुबुद्धि समीप,
तिमिरु मिटै प्रगटै हृदय-मंदिर अनुभव-दीप। (शब्द-रसायन)

'अघ-अजगर लीलै न तरु' आदि शब्दों से यही निष्कर्ष निकलता है कि वन्दना धर्म अथवा दीक्षा-गुरु की है, विद्या-गुरु की नहीं। शब्द-रसायन कवि की वृद्धावस्था की कृति है—इसके उपरांत उसने वैराग्य-परक कविता ही की है। अब, ये गुरु कौन थे— कहाँ रहते थे इसके विषय में कुछ कहना कठिन है। सम्भव है राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय के कोई साधु हों, परन्तु इसका कोई विश्वस्त प्रमाण नही मिलता। देव की राग-विराग की कविता पर भी राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय की कोई विशेष छाप नहीं है। देव के वंशज भी निश्चित ही इस सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं हैं, और न वृन्दावन आदि में पूछ-ताछ करने से ही उक्त मत की पुष्टि होती है। अतएव यह मानने मे कोई विशेष कठिनाई नहीं होती कि किसी जनश्रुति पर आधृत होने के कारण ये शब्द ही भ्रान्त हैं।

किम्वदंतियां :—इटावा और कुसमरा में देव के विषय मे कुछ किम्वदंतियाँ प्रचलित है। किम्वदंतियों में सत्य का कितना अंश होता है इस प्रश्न का एक सामान्य उत्तर देना कठिन है। प्रत्येक किम्वदंती की परीक्षा करने पर ही उसके सत्यांश का निर्णय किया जा सकता है। फिर भी यह मानने मे आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जो किवदंतियाँ सामूहिक मान्यताओं को वहन करती हुई सहज रूप मे चली आती हैं, उनमें सत्य का आधार-अणु अवश्य रहता है, जो विवेकपूर्वक परीक्षा करने पर सरलता से ढूँढ निकाला जा सकता है। हमारे देश मे धार्मिक विश्वास की प्रधानता होने के कारण किंवदंतियो में अतिप्राकृतिक तत्व का मिश्रण अनिवार्य्यतः हो जाता है। देव-विषयक किंवदंतियो में भी प्रायः यही हुआ है। इनमें दो किंवदंतियो का सम्बन्ध भरतपुर-नरेश से है। एक तो पहले ही पं० कृष्णविहारी मिश्र द्वारा देव-बिहारी में उद्धृत की जा चुकी है। एक बार देव जी भरतपुर नरेश के यहाँ गये। उस समय डीग के किले का निर्माण हो रहा था। महाराज ने कहा, "कवि जी कुछ सुनाइए।" इन्होंने कहा, "महाराज, इस समय सरस्वती कुछ कहने की आज्ञा नहीं देती।" महाराज ने आग्रह किया तो कवि ने कुछ छन्द पढे जिनमें एक का आशय यह भी था कि इस क़िले में खोपड़ियाँ लुढकती फिरेंगी। कहते हैं यह उक्ति बाद में बिलकुल सत्य

सिद्ध हुई। दूसरा अनुभव इससे कहीं अधिक कटु था। एक बार फिर भरतपुर नरेश ने कवि को आमन्त्रित किया और कविता सुनाने की प्रार्थना की। उन्होंने छन्द पढ़ कर सुनाए और मौन हो गए। राजा ने कुछ और कहने के लिए अनुरोध किया, तो उन्होंने कहा,—"बस अब सरस्वती की इच्छा नहीं है।" राजा ने कहा, "कवि जी, आप अपनी ही हानि कर रहे हैं—हमने निश्चय किया था कि आपको प्रत्येक छन्द पर एक एक लाख मुद्राएं दान करते।" इस पर स्वाभिमानी कवि ने हँस कर कुछ वैराग्य के छन्द सुनाए जो आज प्राप्त नहीं हैं। सम्भव है देव शतक के ही कुछ छन्द हों। इस स्पष्टवादिता से दोनों में कुछ तीखी बातचीत हो गई जिस पर कवि ने राजा को लक्ष्य करते हुए निम्नलिखित दोहा पढ़ा :

पीताम्बर फाटयो भलो, साजो भलो न टाट।
राजा भयो तो का भयो, रह्यो जाट कौ जाट ॥

इस पर राजा ने इन्हें क़ैद करने की आज्ञा दी, परन्तु यह किसी तरह रात में ही भरतपुर की सीमा से बाहर दूसरे अन्य राज्य में भाग गये। बाद में यहाँ के राजा ने बीच में पड़कर दोनों में समझौता करा दिया। एक-दो किंवदंतियों का सम्बन्ध अलवर-नरेश से भी है। कवि वृद्ध हो चुका था, अतएव अब वह अधिकतर कुसमरा में ही रहने लगा था। परिवार की ओर से वह काफ़ी सुखी था। उसके पौत्र-प्रपौत्र सभी योग्य थे। प्रपौत्र भोगीलाल स्वयं एक सत्कवि थे। अलवर-नरेश की उन पर विशेष कृपा थी। एक बार वह कुसमरा पधारे। वहाँ वयोवृद्ध कवि देव को हीन अवस्था में देखकर उन्हें बड़ा क्लेश हुआ और दया दिखाते हुये बोले—"कविवर आपका मकान बड़ा जर्जर हो रहा है। आज्ञा हो, तो हम आपके लिये एक अच्छा-सा मकान बनवा दें।" इस पर देव ने उन्हे एक छन्द पढ़ कर सुनाया :—

काहू न संग गई गनिका जिमि को, को न कोपि गयो कुपरी कौं।
देव तू काको भयो बिगरै सठ, झूठैं फिरै झिगरैं झुपरी कौं॥
राखि मैं राखि सकैगो जु रावत जात न चंदन की चुपरी कौं।
खान मसान मैं खैंचिहैं खोखरि, जंबुक खोहनि मैं खुपरी कौं॥

इसी प्रकार एक दिन राजा मछली का शिकार खेलने गये। देव भी साथ थे। एक तालाब में बंशी डाली गई तो किसी कारण वह फँस गई। राजा ने इनसे पूछा—"महाराज यह बंशी किसने पकड़ ली है? इसके भीतर कौन है?" देव ने झुँझलाकर कह दिया इसमें तीतर है। राजा को यह हरकत बड़ी बेजा लगी और उन्होंने कहा—"अच्छा हम पता लगवाते हैं। यदि तीतर न हुये, तो आपको दण्ड मिलेगा।" तालाब में घुसकर देखा गया, तो वास्तव में तीतर मिला। रात

को देवता ने स्वप्न दिया और कहा—आपके अविवेक के कारण हमें तीतर बनकर अपनी जीभ खिंचानी पडी, अब आप सोच समझ कर बात कहा कीजिए। प्रातः-काल स्वप्न की बात याद कर देव ने गद्गद् कंठ से निम्नलिखित छन्द देवता की स्तुति में पढा—

चाहै सुमेर को छारि करै, अरु छार को चाहै सुमेर बनावै।
चाहै तो रंक की राव करै, चाहै राव को द्वार ही द्वार फिरावै॥
रीति यही करुणाकर की कवि 'देव' कहै बिनती मोहि भावै।
चींटी के पाँय मे बांधि कै हाथी, वह चाहै समुद्र के पार लगावै॥ ※

कवि की वाक्सिद्धि के विषय में कुसमरा मे कुछ और भी किंवदंतियां प्रचलित हैं। एक तो बाल्यावस्था की है। देव जब विद्याध्ययन करने काशी गए, तो वे काफी मन्दबुद्धि थे। एक दिन एक देवता को परितृप्त करने पर उन्हे वरदान मिला कि तुम्हारी जिह्वा पर सरस्वती नाचेगी। दूसरे दिन जब वे पाठशाला गए, तो सचमुच उन्हें सभी ग्रंथ कंठाग्र थे। यह देखकर उनके गुरु जी ने कहा कि आप तो वाक्सिद्ध पण्डित हैं—अब आपको पढ़ाने की सामर्थ्य किसमे है?—दूसरी, एक पड़ौसी ब्राह्मण परिवार के विषय में आज भी कुसमरा मे प्रचलित है। इनका नया घर बन रहा था। पाण्डेय जी ने देव को सामने देखकर पूछा—दुबे जी, आज सायत कैसी है? देव ने उत्तर दिया—"पाण्डे ठीक है, इस घर की संतति चार गांवो मे फैलेगी।" इस उक्ति के दो अर्थ हो सकते थे—एक तो यह कि यह परिवार खूब फूलेगा यहां तक कि इस गांव से बाहर तक इसका विस्तार हो जायेगा। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता था—यह घर बारह-बाट हो जायगा; परिवार बिखर कर चार गांवो में बस जायेगा। इस दूसरे अर्थ मे यह उक्ति ठीक बैठी और सचमुच यह परिवार आज चार गांवो में बिखर गया है।

उपर्युक्त प्रायः सभी किम्वदंतियां हमने कुसमरा से पण्डित मातादीन के मुंह से सुनी हैं—और मातादीन जी ने उन्हें अपने पितामह पं० बुद्धिसेन दुबे से सुना था। जैसा कि हमने अन्यत्र कहा है—बुद्धिसेन जी और देव के समय मे ५० वर्ष से कम का ही अन्तर था। अतएव यदि मातादीन जी की स्मृति ने उन्हें अधिक धोखा नही दिया, तो ये किम्वदंतियां देव के कुछ ही समय पश्चात् से चली आ रही है। इनका परीक्षण कर तीन परिणाम सरलता से निकाले जा सकते है— (१) देव वाक्सिद्ध कवि थे। 'वाक्सिद्धि' को शब्दार्थ मे ही ग्रहण कर लोगों ने उनके विषय मे यह धारणा बनाली थी कि उनके मुख से जो कुछ निकलता था—सत्य होता था।

※ [यह छन्द देव के नाम से केवल मौखिक रूप मे प्रचलित है।]

(२) उनका स्वाभिमान सदैव जागृत रहता था। उनकी जीवन-दृष्टि गम्भीर थी—राग के साथ विराग की भावना भी उनमे अत्यन्त पुष्ट थी।

(३) अन्तिम दिनों मे भी उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी।

मृत्यु—देव के अन्तिम आश्रयदाता पिहानी के अकबर अलीखां थे। उनका समय संवत् १८२४ से आरम्भ होता है। अतएव देव का कम से कम सं० १८२४ तक जीवित रहना सिद्ध होता है। सुखसागरतरङ्ग उनका अन्तिम संग्रह-ग्रंथ है। इसके बाद उनका कोई भी अन्य ग्रंथ उपलब्ध नही है। अतएव यही परिणाम निकाला जा सकता है कि संवत् १८२४-२५ के आस-पास ही कवि की मृत्यु हो गई थी। इस समय तक उसकी अवस्था ९४-९५ वर्ष की हो चुकी थी। देव जैसे व्यक्ति के लिए जिसने जीवन मे रस का जी भरकर उपभोग किया हो—जिसका जीवन-सघर्ष इतना कठोर रहा हो, ९४-९५ वर्ष की अवस्था काफी थी। उनकी मृत्यु किस रोग मे और कहां हुई, यह निश्चितरूप से ज्ञात नहीं है। परन्तु उपर्युक्त परिस्थितियों और कतिपय किम्वदंतियो के आधार पर यही धारणा होती है कि कुसमरा मे ही उनका शरीर छूटा। पण्डित गोकुलचन्द दीक्षित ने लिखा है कि देव की मृत्यु १२६ वर्ष की अवस्था मे इटावा के पास जमुना के किनारे दलीपनगर ग्राम में हुई थी। जैसा कि हमने अन्यत्र सिद्ध किया है—दीक्षित जी ने दो देव कवियो को एक समझकर इस प्रकार की अनेक भ्रांतियो को जन्म दिया है। ये दूसरे देवदत्त कवि जिनकी मृत्यु संवत् १८४६ वि० में राव छत्रसाल के आश्रय में दलीपनगर में हुई थी—प्रस्तुत महाकवि देव से भिन्न थे।

देव का व्यक्तित्व

साधारणतः रीतिकाल की कविता अव्यक्तिगत है। फिर भी कविता, चाहे वह कितनी ही अव्यक्तिगत क्यों न हो, अपने मूलरूप मे कवि के आत्म से ही उद्भूत होती है। कोई भी कवि अपनी कविता को व्यक्तिगत राग-द्वेषों से अलग नहीं रख सकता। आधुनिक कवि प्रत्यक्षरूप में ऐसा करता है, रीतिकाल का कवि अप्रत्यक्षरूप में करता था, बस यही अन्तर है। अतएव प्राप्त जीवन-तथ्यों के अतिरिक्त केवल काव्य के आधार पर भी देव के व्यक्तित्व की एक स्थूल रूप-रेखा अङ्कित की जा सकती है।

आकृति और वेशभूषा—आज देव का कोई चित्र प्राप्त नहीं है। नवरत्न का चित्र सर्वथा कल्पित है। अतएव उनकी आकृति वेश-विन्यास आदि के विषय में किसी प्रकार की निश्चित धारणा बनाना असम्भव है। केवल जनश्रुति के आधार पर यह कहा जाता है कि वे अत्यन्त स्वरूपवान् थे और वैभवपूर्ण वेश-

भूषा उनको प्रिय थी। वे एक लम्बा चोगा धारण करते थे, जिसे राजाओं के यहाँ आते जाते समय कुछ अनुचर उठाकर ले चलते थे। इसमें सत्य का कितना अंश है, यह कहना संगत नहीं है। ऐसी दशा में इस विषय में मौन ही रहना पड़ता है।

प्रकृति और स्वभाव—अपने समसामयिक अन्य कवियों की भाँति देव की भी प्रकृति स्पष्टतः शृंगारिक थी। परन्तु यह शृंगारिकता छिछली रसिकता नहीं थी, जो विलास मात्र से सम्बन्ध रखती है। इसमें एक विशेष गम्भीरता थी। रीतिकाल के प्रायः अन्य कवि केवल नारी के सौंदर्य के रसिक थे। परन्तु देव का मन उसके सौंदर्य से आगे-उसके व्यक्तित्व तक जाता था। रसिकता की तरलता के साथ उसमें प्रेम की गम्भीर निष्ठा भी वर्तमान थी। प्रकृति की यही गम्भीरता देव के व्यक्तित्व का अनिवार्य अंग थी। जीवन के प्रति बिहारी के दृष्टि-कोण में जहाँ व्यंग्यमय सुख-सरलता है, वहाँ देव की दृष्टि में एक करुण गम्भीरता है। अवज्ञा से आहत होकर बिहारी मुस्कराकर व्यंग्य कर सकते थे, परन्तु देव के लिये यह सम्भव नहीं था। उनके आहत मन के लिये केवल एक ही शरण भूमि थी, "राधावर विरद को वारिधि" दूसरे शब्दों में 'प्रेम'। देव की कविता में इसीलिये हास्य का अभाव है। इस व्यक्ति के जीवन में ही उसका अभाव रहा होगा। राग के साथ ही वैराग्य के भी जो गहरे संस्कार उसके स्वभाव में मिलते हैं वे वास्तव में एक ही प्रवृत्ति के दो पक्ष हैं, जो परिस्थिति के अनुसार कवि के जीवन और काव्य में व्यक्त होते रहे थे। अपने रागात्मक जीवन में मन से "घनेरे-दुःख" पाकर देव के पास केवल एक ही उपचार रह जाता था, उसको मूंद कर मार देना। जीवन की विषमताओं से समझौता कर लेना उनकी शक्ति के बाहर था। क्योंकि उनका दृष्टिकोण गहन रागात्मक अथवा भावगत था, बौद्धिक अथवा वस्तुगत नहीं था। इसीलिये तो इस कवि को जीवन में सुख नहीं मिला, परन्तु इसीलिये ही इसकी राग-विराग की अभि-व्यक्तियों में गहराई है। स्वभाव का वह फक्कड़पन जो जगत एवं जगतपति दोनों से मज़ाक कर सके, देव के लिये सम्भव नहीं था।

यौन सम्बन्धों में कठोर संयम का निर्वाह करना, रसिकता और विलास के वातावरण में रहने वाले रीति कवियों के लिये साधारणतः कठिन ही समझना चाहिये। देव में रसिकता पूरी मात्रा में थी, विभिन्न देश-जाति की स्त्रियों का उन्होंने वर्णन किया है, सुरत के स्पष्ट चित्र अंकित किये हैं। परन्तु इससे तुरन्त ही यह निष्कर्ष निकाल लेना कि इनका चरित्र भ्रष्ट था, अन्याय होगा। जीवन के रस का, मन और शरीर के आनन्द का इन्होंने अच्छी तरह उपभोग किया होगा, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इस क्षेत्र में भी इनका दृष्टिकोण अनैतिक

नही हो पाया। जिस आग्रह के साथ इन्होंने स्वकीया के प्रेम पर बल देते हुए परकीया और सामान्या का तिरस्कार किया है, जिस आग्रह के साथ इन्होंने विषय और प्रेम का अन्तर स्पष्ट करते हुए विषयासक्ति को कुत्सित घोषित किया है, वह केवल परम्परा का पालन नही है। उससे आप इनकी ईमानदारी में सन्देह नही कर सकते। कवि का आदर्श देव के लिये वास्तव में ऊंचा था—

❀ जाके न काम न क्रोध निरोध न लोभ छुवै नहि छोभ को छाँहो।
मोह न जाहि रहै जग बाहिर, मोल जवाहरता अति चाहो॥
बानी पुनीत ज्यो 'देव' धुनी, रस-आरद सारद के गुन गाहौ।
सील ससी सविता छविता कविताहि रचै कवि ताहि सराहौ॥

दृष्टिकोण की गम्भीरता और स्वभाव की अतिशय भावुकता के कारण ही देव में व्यवहार-कुशलता नहीं आ सकी। उस युग की परिस्थिति के अनुकूल जिस हलके मन और हलकी जबान की आवश्यकता थी, वह उसको प्राप्त नहीं थी। स्वभाव से ही यह कवि केशव और बिहारी की तरह दरबारी नहीं बन सकता था और इसी कारण इतना प्रतिभाशाली एवं रस-सिद्ध होते हुये भी वह उचित आश्रय प्राप्त करने मे असमर्थ रहा। वैसे तो प्रायः सभी सत्कविता वस्तुतः स्वान्तः सुखाय लिखी जाती हैं, परन्तु देव की कृतियों के अध्ययन से आपको ज्ञात होगा कि उनकी अधिकांश कविता मूल रूप मे आत्म-परितोष के निमित्त ही लिखी गई थी। जीविका का एकमात्र साधन राजा और रईसो का आश्रय होने के कारण देव को भी अनेक आश्रयदाताओं के 'विनोदार्थ' ग्रंथ लिखने पड़े थे इसमे संदेह नहीं, परन्तु इस प्रकार के ग्रंथ प्रायः स्वतंत्र नही हैं? पूर्व-लिखित ग्रंथो के छन्दो को ही जोड़ जोड़ कर तैयार किये हुए हैं। या फिर ऐसा हुआ है कि स्वतन्त्र रूप मे रचे हुये ग्रंथो को ही नाम बदल कर या उसी रूप मे पीछे से आश्रयदाताओं को अर्पित कर दिया गया है। विभिन्न ग्रंथो में छन्दो की उलट-फेर का कारण कवि की परिस्थिति और प्रकृति की यही द्विविधा थी। उनकी प्रकृति कहती थी कि—

आपनी बड़ाई जाहि भावै सो हमे न भावै,
राम की बड़ाई सुनि देयगो सु देयगो। [देव-शतक]

परन्तु परिस्थिति उन्हें इसी के लिए विवश करती थी। इसी मानसिक संघर्ष के कारण उनमे आत्माभिमान की भावना आवश्यकता से अधिक तीव्र हो गई थी। वास्तव में आत्माभिमान ही यह अतिशय संवेदना बहुत कुछ लौकिक असफलताओं के कारण उत्पन्न हीन भाव की प्रतिक्रिया थी। वैसे वे अहंकारी व्यक्ति नही थे। अपने काव्य की प्रशंसा मे एक पंक्ति भी उन्होने नहीं लिखी। प्रेम के

❀ (देवसुधा—मिश्रबन्धु-सम्पादित)

रंग में डूबा हुआ व्यक्ति अहंकारी हो ही कैसे सकता है? उनका स्वभाव सहज द्रवणशील था—परहित की भावना उसमें निश्चित रूप से वर्तमान थी—

पैये असीस लचैये जो सीस, लची रहियै तब ऊँची कहैये [देव-शतक]

जीवन को फल जग-जीवन को हितु करि,
जग में भलाई कर लेयगो सु लेयगो। [देव-शतक]

धार्मिक संकीर्णता इस व्यक्ति को छू तक नहीं गई थी। देव को भक्त कहना तो अतिशयोक्ति होगी, परन्तु कृष्ण और राधा के प्रति उन्हें सच्चा अनुराग था इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। भक्ति-परक उनकी अनेक उक्तियां वास्तव में उनकी-आत्मा की पुकार हैं।

प्रतिभा और विद्वत्ता :—हृदय की इन विभूतियों के साथ, देव का व्यक्तित्व मस्तिष्क की भी असाधारण विभूतियों से मंडित था। सोलहवें वर्ष मे भाव-विलास सदृश ग्रंथ की रचना कर लेना लोकोत्तर-प्रतिभा के कारण ही संभव हो सकता था। इसीलिए तो उनके जीवनकाल में ही लोग कहने लगे थे कि इन्हे सरस्वती सिद्ध है। परन्तु वे प्रतिभा पर ही निर्भर नहीं रहे। अध्ययन भी उनका व्यापक और गंभीर था। संस्कृत और प्राकृत के साहित्य तथा साहित्य-शास्त्र में उनकी गहरी पैठ थी। तुलसी, सूर, केशव, बिहारी आदि का उन्होंने गम्भीर मनन किया था। वैष्णव साहित्य के साथ वेदांत-तथा अन्य दर्शन और उधर तंत्राचार आदि का भी उनको विशद ज्ञान-था, ज्योतिष और शायद आयुर्वेद से भी वे परिचित थे। यह विस्तृत पांडित्य जीवन के व्यापक अनुभव से परिपुष्ट था। इस प्रकार देव का व्यक्तित्व, भावुकता, प्रतिभा, अध्ययन और अनुभव से समृद्ध तो था, परन्तु उसमें बौद्धिक शक्ति और कर्म के समुचित काठिन्य का अभाव था। इसलिये वह न तो जीवन में और न साहित्य में ही उदात्त एवं महान् बन पाया—कोमल तथा भावमय ही रहा। परन्तु इसके लिए शायद आप परिस्थिति को भी दोष देना पसन्द करेंगे।

—:०:—

देव के ग्रन्थ

[उनकी प्रामाणिकता, रचना-क्रम तथा वर्ण्य विषय अथवा प्रतिपाद्य]

देव के ग्रन्थ :—देव के लिखे ५२ या ७२ ग्रन्थ कहे जाते हैं—इसका मूलाधार क्या है, यह निश्चय तो नहीं मालूम, परन्तु अनुमानतः पंडितों में प्रचलित जनश्रुति ही हो सकती है। देव के विषय में उनके अपने उद्धरणों के अतिरिक्त पहला लिखित प्रमाण उनके प्रपौत्र भोगीलाल कृत कतिपय दोहे ही हैं, जो संवत् १८५७ के लगभग रचे गये बखतविलास मे दिये हुये हैं। देव ने स्वयं तो कुछ कहा ही नहीं है, भोगीलाल भी इस विषय में मौन हैं। उन्होंने आज़मशाह का उल्लेख तो गर्व के साथ किया है, परन्तु ग्रंथों के विषय में कुछ नहीं कहा—

जिनको श्री नवरंग सुत आजमसाहि सुजान,
जाहर करो जहान मैं मान सहित सन्मान।

इस प्रकार ग्रंथ-संख्या का पहला उल्लेख शिवसिंह-सरोज में ही मिलता है:—"इनके बनाये ग्रन्थों की संख्या आज तक ठीक ७२ हमको मालूम हुई है।" कहाँ से मालूम हुई है, यह कुछ नहीं लिखा गया। परन्तु इतना निश्चित है कि शिवसिंह जी ने स्वयं उनको नहीं देखा था। कहीं पढ़ा था—ऐसी भी ध्वनि उनके शब्दों से नहीं निकलती। ऐसी दशा में उनकी धारणा का आधार पंडितों में प्रसिद्ध जनश्रुति ही मानी जा सकती है। शिवसिंह के उपरांत इसी संख्या को पं० बालदत्त जी मिश्र ने दुहराया है और उसको बहुत कुछ विश्वसनीय माना है : "एतद्देश ही में पच्चीस-तीस ग्रन्थ इन महाशय के रचे हुए प्रस्तुत हैं, और दृष्टिगोचर हुये हैं। देशांतरों में भी इनके और और ग्रन्थ सुने जाते हैं।" आगे चल कर हिन्दी नवरत्न में ७२ के साथ ५२ का विकल्प भी दे दिया गया है:— "कोई कहता है, इन्होंने ७२ ग्रन्थ बनाये और कोई इन्हे ५२ ग्रंथों का रचयिता बतलाता है। हम इतना अवश्य कहेंगे कि यदि इन्होने ५२ ग्रंथ बनाये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि यह महाशय छन्द इधर-उधर उलट-पुलट कर रख कर नया ग्रन्थ तैयार कर देते थे।" पर देव को ५२ ग्रंथों का रचयिता कौन कहता है, इस विषय में मिश्रबन्धु मौन हैं। स्पष्टतः यहाँ भी पंडितों

में चली आई हुई जनश्रुति ही प्रमाण रही होगी। हाँ, ऊपर दिये हुये उद्धरण से यह निश्चित है कि स्वयं मिश्रबन्धुओं का मत ५२ संख्या के ही पक्ष में है। श्रीकृष्णविहारी, पं० रामचन्द्र शुक्ल और उनके उपरांत अन्य सभी लेखक भी इन्हीं वैकल्पिक संख्या-द्वय को उद्धृत करते हैं। अस्तु।

वास्तविक संख्या कुछ भी हो, आज-कल मिलाकर देव के केवल १८ ग्रंथ प्राप्त हैं :—

मुद्रित

१ भावविलास (तरुण भारत ग्रंथावली, दारागंज, प्रयाग इत्यादि)
२ अष्टयाम (भारत जीवन प्रेस)
३ भवानी-विलास ,, ,,
४ रसविलास (भारत जीवन प्रेस)
५ प्रेम-चन्द्रिका } (देव-ग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा)
६ रागरत्नाकर } ,, ,, ,,
७ सुजान-विनोद } ,, ,, ,,
८ जगद्दर्शनपचीसी } वैराग्य-शतक (बालचंद यंत्रालय, जयपुर)
९ आत्मदर्शनपचीसी }
१० तत्वदर्शन पचीसी } ,, ,, ,,
११ प्रेम पचीसी } ,, ,, ,,

कृष्णबिहारी जी की हस्तलिखित प्रति में इस संग्रह का नाम देवशतक है।

१२ शब्द-रसायन (साहित्य सम्मेलन)
१३ सुख-सागर-तरंग—पं० बालदत्त मिश्र सम्पादित

मुद्रित ग्रन्थों में सुन्दरी-सिंदूर भी है, पर वह स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है।

हस्त-लिखित

१४ प्रेम-तरंग श्री व्रजराज पुस्तकालय गँधौली (तथा अन्यत्र प्राप्य)
१५ कुशल-विलास ,, ,, हिंदी एकेडेमी (तथा अन्यत्र प्राप्य)
१६ जाति-विलास ,, ,, (तथा अन्यत्र प्राप्य)
१७ देव-चरित्र ,, ,,
१८ देवमायाप्रपंच (नाटक) ,, तथा पं० मातादीन के पास

प्राप्त ग्रन्थों में दो ग्रन्थ और भी हैं, जो देवकृत कहे जाते हैं :

१ शृङ्गार-विलासिनी (जो सम्वत १९९१ में दूसरी बार श्री गोकुलचन्द्र दीक्षित के सम्पादन में भरतपुर के प्रकाशित हुई है।)

२ शिवाष्टक (जो माधुरी में छप चुका है।)

परन्तु इनके विषय में अभी विद्वानों में मतभेद है। फिर उपर्युक्त २० ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ भी कम से कम नाम-शेष रूप में बहुत दिनों से पंडितों में प्रसिद्ध चले आते हैं :—

१ रसानन्द-लहरी (शिवसिंह सरोज, 'भारत के धुरन्धर कवि' में उल्लिखित)
२ प्रेमदीपिका (शिवसिंह सरोज)
३ सुमिल-विनोद (शिवसिंहसरोज, भारत के धुरन्धर कवि)
४ राधिका-विलास ,, ,, ,,
५ पावस-विलास (ब्रजराज जी के साक्ष्यानुसार)
६ वृत्त-विलास ,, ,, ,,
७ नख-शिख-प्रेम-प्रदर्शन (?) (नागरी प्रचारिणी सभा की खोज)
८ नीतिशतक (पं० बालचन्द जी के साक्ष्यानुसार)
९ वैद्यक ग्रंथ (भिनगा पुस्तकालय)

इस प्रकार प्राप्त और उल्लिखित ग्रन्थों की संख्या २९-३० हो जाती है। इनमें यदि दीक्षित जी द्वारा माने हुये अतिरिक्त ग्रन्थों को और जोड़ दिया जाय, तो देव कृत ४८ ग्रन्थो के नाम प्रस्तुत किये जा सकते हैं। परन्तु ये सभी मान्य नहीं है। ऊपर की सूची के कतिपय ग्रन्थ और दीक्षित जी द्वारा उल्लिखित अतिरिक्त ग्रन्थ स्पष्टतः ही देवकृत नही है। अब हम इनकी सविस्तर परीक्षा करेंगे।

भाव-विलास—

देव का पहला ग्रन्थ :—देव का पहला ग्रन्थ कौन-सा है, इस विषय में अधिक विवाद नहीं हैं। देव ने स्वयं भावविलास के अन्त मे लिखा है—

शुभ सत्रह सै छयालिस, चढ़त सोरही वर्ष।
कढ़ी देव मुख देवता, भाव-विलास सहर्ष॥
दिल्ली-पति अवरङ्ग के, आजम साहि सपूत।
सुन्यो सराह्यो ग्रन्थ यह, अष्टजाम संजूत॥

उपर्युक्त दोहे में यदि 'कढ़ी देव मुख देवता' को साधारण अलंकारिक प्रयोग मानते हुये उसका केवल यही सीधा अर्थ किया जाय कि शुभ संवत् १७४६ में १६वें वर्ष में पदार्पण करते हुये देव ने भाव-विलास की रचना की, तो ऐसा अनुमान होता है कि अष्टयाम शायद उससे पहले बन चुका होगा। इस अनुमान के कुछ स्पष्ट कारण भी हैं। १—प्रायः ऐसा होता है कि कवि अपनी कृति की रचना के बाद फ़ौरन किसी सहृदय या गुणज्ञ के पास ले जाता है, अधिक विलम्ब नहीं करता। यदि ऐसा मान लिया जाए, तो यही कल्पना की

जा सकती है कि अष्टयाम पहले ही बन चुका था। देव भावविलास की रचना कर आज़मशाह के पास उपस्थित हुये। साथ ही अष्टयाम भी लेते गये, जो उनके पास पहले का रचा हुआ रखा था। इस पक्ष का समर्थन करने के लिये एक बात यह भी कही जा सकती है कि भावविलास जैसे बँधे हुये रीति-ग्रन्थ से पहले अष्टयाम के अपेक्षाकृत फुटकर छन्दों की रचना कवि के लिये अधिक सहज हुई होगी। इसके अतिरिक्त यह भी असंदिग्ध ही है कि अष्टयाम के छन्द भावविलास के छन्दों से हलके पड़ते हैं। अतएव इस दृष्टि से तो यह अनुमान होता है कि अष्टयाम देव की प्रथम कृति है। भावविलास की रचना उसके कुछ (कुछ महीने) बाद हुई थी।

परन्तु उसके विपरीत यदि 'कढी देव मुख देवता' के शब्दार्थ को पूरी सांकेतिकता के साथ ग्रहण करते हुए, दोहे का अर्थ यह किया जाये कि संवत १७४६ में सोलहवें वर्ष के लगते ही देवी सरस्वती अत्यन्त हर्ष-पूर्वक (भाव-विलास के रूप में) देव के मुख से प्रकट हुईं तो इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि भाव-विलास ही कवि का पहला ग्रन्थ है। सरस्वती के सहर्ष प्रकट होने का तात्पर्य वाणी का प्रथम स्फुरण ही है। अष्टयाम भी तभी, उसी के आस-पास, रचा गया था। परन्तु उसका रचना-काल भाव-विलास के पश्चात् ही मानना पड़ेगा। अष्टयाम के पक्ष में जो तर्क दिये गये हैं, उनमें काफ़ी शक्ति है, परन्तु वे अकाट्य नहीं हैं, उनके विरुद्ध उनसे पुष्टतर युक्तियाँ दी जा सकती हैं। वास्तव में अष्टयाम इतना छोटा ग्रन्थ है कि उसकी रचना के लिये देव जैसे वाक्सिद्ध कवि को दस पन्द्रह दिन से अधिक नहीं लगे होंगे। अतएव यह बड़ी सरलता से कल्पना की जा सकती है कि भावविलास मे शृंगार-रस के अंग-उपांगों का पूरा वर्णन करने के उपरांत, तभी, उसी के विस्तार रूप उन्होंने अष्टयाम की भी रचना कर डाली हो. और कुछ दिन बाद वे इन दोनों ग्रन्थों को लेकर ही तत्कालीन प्रसिद्ध गुणज्ञ आज़मशाह के दरबार मे उपस्थित हुए हों। दूसरे काव्य-युग के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि किसी कवि के लिये आरम्भ मे ही बँधा हुआ रीति-ग्रन्थ लिखना सहज नहीं है, परन्तु रीति-काल की तो यह परम्परा ही थी। प्रत्येक कवि प्रायः पहले अपनी शक्ति रीति-ग्रन्थ पर ही परखता था। प्रमाण-स्वरूप रीति-काल के अनेक कवियों के नाम उपस्थित किये जा सकते हैं जिन्होंने केवल रीति-ग्रन्थ ही लिखे हैं, या जिनकी प्रथम कृति निश्चित ही शुद्ध रीति-ग्रन्थ है। देव ने अपने विद्याध्ययन-काल में संस्कृत के रीति-ग्रन्थों का पारायण किया ही होगा। तभी उसी अध्ययन-काल में ही उन्होंने भानुदत्त की रस-तरंगिणी को, जो संस्कृत के मान्य युग में अत्यन्त लोक-प्रिय हो गई थी, आधार मान कर भाव-विलास की रचना कर डाली—यह अनुमान, मैं समझता हूँ, अत्यन्त सहज और निर्दोष है। भाव-विलास

का क्रम-विधान बहुत कुछ रस-तरंगिणी के आधार पर बनाया गया है। देव ने यद्यपि साहित्य के एक प्रतिभावान् विद्यार्थी की भाँति बड़े स्वच्छ रूप में अपने आधार का उपयोग किया है, तथापि उसमें किसी प्रकार की मौलिक रीति-उद्भावना कम से कम नहीं है। विवेचन का क्रम तथा भेद-प्रभेद सभी उसी के अनुकूल हैं। अब तीसरा तर्क यह रह जाता है कि भाव-विलास के छन्द अष्टयाम के छन्दो की अपेक्षा सुन्दर हैं—इसका उत्तर यह है कि वास्तव में जो भाव-विलास आज उपलब्ध है वह अनुमानतः जैसा कि मिश्र-बन्धुओं ने माना है, मूल भाव-विलास न होकर उसका संशोधित संस्करण है। अष्टयाम ही क्या, उसके कुछ छन्द तो 'भवानी-विलास', 'जाति-विलास', 'देव-चरित' आदि के अनेक छन्दों की अपेक्षा भी अधिक सुन्दर और प्रौढ हैं। तब क्या उसको इन सभी के पीछे की रचना थोड़े ही मान लिया जायेगा? सारांश यह है कि हम 'भाव-विलास' को ही देव की प्रथम-कृति मानते हैं, 'अष्टयाम' की रचना उसकी रचना के कुछ ही बाद सम्भवतः उसके अन्तिम विलास (जिसमें कि अलंकारों का प्रकरण है) से पूर्व ही हुई थी। 'भाव-विलास' में शृंगार के सभी अंगो का वर्णन करने के उपरांत, किशोर कवि ने उसी के विस्तार रूप अष्टयाम की भी रचना कर डाली, और कुछ दिन बाद युवराज आमजशाह के पास दिल्ली में जाकर उपस्थित हुआ। आजमशाह उस समय न केवल अपनी गुण-ग्राहकता वरन् साहित्यिक संस्कृति और अभिरुचि के लिए भी उत्तर-भारत मे प्रसिद्ध था। आप देखिये कवि आजमशाह के दान का गुण-गान नहीं करता, उसकी सराहना पर अभिमान करता है।

प्रामाणिकता—भाव-विलास देवकृत ग्रन्थ है, इसमे तो सन्देह के लिये स्थान ही नहीं है, स्वयं देव की साक्षी है। परन्तु उसका काव्य इतना सुन्दर है, और देव के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा उसमे प्रौढता भी अधिक है, इसलिये यह प्रश्न अवश्य उठाया जा सकता है कि क्या भाव-विलास मूलतः इसी रूप मे रचा गया था अथवा प्रस्तुत संस्करण उसका परिशोधित रूप है। देव १६ वर्ष की अवस्था मे ही एक रीति-ग्रन्थ का प्रणयन कर सके, यह बात आश्चर्यजनक अवश्य हो सकती है, परन्तु अविश्वसनीय या असम्भव नहीं क्योंकि वे अत्यन्त प्रतिभावान् कवि थे। आधुनिक कवियों की कुछ आरम्भिक कृतियां भी इसकी साक्षी हैं। परन्तु इसके आगे यह प्रश्न भी तो उठता है कि यदि देव सचमुच इतने प्रतिभावान् थे तो उनकी बाद की रचनाएं भी उसी अनुपात से प्रौढ़तर होती जानी चाहिये। परन्तु हम देखते है कि ऐसा नहीं हुआ। 'भवानी-विलास' और 'जाति-विलास' निश्चित ही भाव-विलास से सुन्दर काव्य नहीं है। अष्टयाम की कविता तो स्पष्ट ही कहीं हलकी है। इसलिये भाव-विलास के विषय मे हमारी भी वही धारणा

बनती है जो मिश्रबन्धुओं ने प्रकट की है। अर्थात् प्रस्तुत भाव-विलास मूल भाव-विलास का संशोधित रूप है। देव छन्दों की उलट-पुलट तो करते ही रहते थे—भाव-विलास उनका पहला सर्वांगपूर्ण रीति-ग्रन्थ है, उसके प्रति उनका ममत्व होना स्वाभाविक ही था। अतएव उन्होंने उसके हलके छन्दों को निकाल कर बाद के रचे हुए उत्कृष्ट छन्दों को उसमें रख दिया होगा, परन्तु ऐसा एक विशेष सीमा के भीतर ही हुआ होगा। मूल ग्रन्थ भी पर्याप्त रूप में उत्कृष्ट रहा होगा यह नहीं भुलाया जा सकता, क्योंकि आज़मशाह जैसा व्युत्पन्न साहित्यिक किसी साधारण ग्रन्थ की प्रशंसा नहीं करता।

वर्ण्य विषय :—भावविलास का वर्ण्य विषय है :

> "कवि देवदत्त शृंगार-रस सकल भाव-संयुत सँच्यो,
> सब नायकादि-नायक-सहित, अलङ्कार वर्णन रच्यो॥"

देव का सिद्धान्त है कि जीवन के चार पदार्थों में सब से प्रथम स्थिति है धर्म की, धर्म से अर्थ की उत्पत्ति होती है, अर्थ से सुख की। सुख का सर्वस्व रस है, और रस का कारण है भाव। रसों में मुख्य शृंगार है, इसलिये प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने केवल उसी का सर्वाङ्ग विवेचन किया है, अन्य रसों का स्पर्श भी नहीं किया। भाव-विलास में पांच विलास हैं। पहले विलास में स्थायी भाव रति का विवेचन है। रति दर्शन या श्रवण से उद्बुद्ध होती है। फिर विभाव अर्थात् आलम्बन और उद्दीपन का और अन्त में अनुभाव का वर्णन है। दूसरे विलास में शारीर और आंतर संचारियो का अर्थात् सात्विक भावों और प्रचलित निर्वेदादि संचारियो का विवेचन है। आन्तर संचारियो की संख्या देव ने छल को मिला कर ३४ मानी है और वितर्क के चार अवांतर भेद किये हैं—विप्रतिपत्ति, विचार, संशय और अध्यवसाय। तीसरा विलास रस का वर्णन करता है। रस दो प्रकार का होता है—लौकिक और अलौकिक। अलौकिक के तीन भेद हैं—स्वाप्निक, मानोरथिक और औपायनिक; और लौकिक के ६ भेद हैं शृङ्गारादि। नाटक में भरत आदि ने ८ रस ही माने हैं, परन्तु काव्य में शान्त सहित नौ रस होते हैं। शृङ्गार के साधारणतः दो भेद हैं संयोग और वियोग। परन्तु देव ने इनके अतिरिक्त दो अन्य भेद भी माने हैं प्रच्छन्न और प्रकाश। संयोग के अन्तर्गत हाव का उल्लेख किया गया है, और वियोग के अन्तर्गत दश अवस्थाओ तथा मान आदि का। चतुर्थ विलास मे नायक-नायिकादि का वर्णन है : यह नायिका-भेद प्राचीन संस्कृत आचार्यों के अनुकूल ही है। देव ने जाति, सत्व, अंश, देश आदि का अपना प्रस्तार यहां नहीं फैलाया। पांचवें विलास मे अलङ्कार हैं। देव ने अलङ्कारो की संख्या ३६ ही मानी है, और अलङ्कार जो भी हैं वे इनके भेद-प्रभेद ही कहे जा सकते हैं, स्वतन्त्र नहीं :

'अलङ्कार मुख्य उनतालिस हैं देव कहैं,
येई पुराननि मुनि मतनि मैं पाइये।
आधुनिक कविन के संमत अनेक और,
इनहीं के भेद और विविध बताइये।'

इन ३९ में रसवंत, ऊर्जस्वल और प्रेम (प्रेय) के भी नाम हैं।

जैसा कि मैंने अभी कहा—वर्णन का यह क्रम—अर्थात पहले स्थायी भाव, फिर विभाव, अनुभाव, सात्विक और संचारी, उसके उपरांत रस,—हाव का संयोग के अन्तर्गत वर्णन, इत्यादि, ज्यों का त्यों भानुदत्त की रसतरंगिणी के अनुकूल है। इसके अतिरिक्त अन्य मुख्य उद्भावनाएं भी—उदाहरण के लिए सात्विक और साधारण संचारियों के 'शारीर' और 'आंतर' नाम, वितर्क के चार भेद, चौंतीसवां संचारी 'छल', रस के लौकिक अलौकिक और फिर स्वाप्निक आदि भेद, सभी भानुदत्त से ही ग्रहण किए गये हैं। परन्तु लक्षण और उदाहरण दोनों में ही देव स्वतन्त्र हैं। लक्षण में कहीं-कहीं रसतरंगिणी की ध्वनि मिल भी जाए किन्तु उदाहरण सर्वथा मौलिक हैं। भानुदत्त के अतिरिक्त भावविलास का दूसरा आधार है केशव। श्रृंगार के प्रच्छन्न और प्रकाश भेद तथा अलङ्कारों के नाम और लक्षण प्रायः केशव के ग्रन्थों से लिए गये हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भाव-विलास वास्तव में बाल-कवि का पहला सफल अभ्यास है। रीति-ग्रन्थ की दृष्टि से उसमें विवेचन की मौलिकता निस्सन्देह नहीं है, परन्तु विवेक और स्वच्छता अवश्य है। भाव-विलास में लक्षण बहुत स्पष्ट हैं और उदाहरण अत्यन्त स्वच्छ। प्रस्तार का गोरख-धन्धा, जो देव के रीति-विवेचन का सब से बड़ा दोष है, इसमें नहीं है। काव्य की दृष्टि से प्रस्तुत छन्द अत्यन्त सरस और मधुर हैं—भावों की कोमलता और हलकी रंगीनी, जो किशोर वय का वरदान होती है, उसमें सर्वत्र झलकती है। शैली में अभी वह प्रौढ़ता और गाढ़बन्धत्व नहीं आया जो देव के बाद के ग्रन्थों में मिलता है—परन्तु उनके अभाव में एक सुख-सरल गति, अर्थव्यक्ति एवं स्फीतता उसमें अनिवार्यतः मिलती है। उसमें देव के प्रौढ़ ग्रन्थों की वह दुरूहता और कष्टार्थ नहीं है, जो उनकी शैली का सब से बड़ा अभिशाप है। यही कारण है कि वह रसिकों को इतना अधिक प्रिय रहा है।

अष्टयाम—

अष्टयाम देव का दूसरा ग्रन्थ है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से प्रमाणित होता है, इसकी रचना भाव-विलास के कुछ ही समय बाद संवत् १७४६ में हुई होगी। तभी भाव-विलास और अष्टयाम को लेकर देव आज़मशाह के दरबार में उपस्थित हुए होंगे। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता तो निर्विवाद ही है—

स्वयं देव के शब्द ही उसके साक्षी हैं—'सुन्यो सराह्यो ग्रन्थ यह, अष्टजाम संजूत।' इसकी कविता में सौन्दर्य एवं माधुर्य की अपेक्षाकृत न्यूनता है, इसलिए बड़ी सरलता से यह माना जा सकता है कि प्रस्तुत रूप ही इसका मूल रूप है।

इसका वर्ण्य विषय नाम से ही स्पष्ट है—इसमें नायक-नायिका के अष्ट-याम अथवा चौंसठ घड़ी के विविध विलास का क्रमबद्ध वर्णन है :—

*दंपति नीके देव कवि बरनत विविध विलास।
आठ पहर चौंसठ घरी पूरन प्रेम-प्रकास॥

अष्टयाम की यह परम्परा वैष्णव कवियों से ग्रहण की गई है, रीति-काव्य में इस प्रकार का विशेष प्रचलन नहीं था। वैष्णव कवियों ने जिस रीति और क्रम से भगवान् अथवा राधाकृष्ण का कार्यक्रम वर्णित किया है, उसी रीति और क्रम से देव ने नायिका या दम्पति के विविध विलासों का वर्णन किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लगभग यह सम्पूर्ण कार्यक्रम शृंगारमय ही है, बस भोजन का केवल एक बार वर्णन है। यह वास्तव में तत्कालीन धनपतियों के अकर्मण्य विलासी जीवन का चित्र है जो बर्नियर आदि के वर्णनों से ज्यों का त्यों मिल जाता है। रीति की दृष्टि से अष्टयाम को भी नख-शिख की भांति संयोग-शृंगार का एक अंग ही मानना चाहिए जिसमें स्वकीया के विविध विलासों का वर्णन होता है।

काव्य की दृष्टि से देव के ग्रंथों में अष्टयाम का महत्व शिवाष्टक को छोड़, और सबसे कम है—उसमें उत्कृष्ट छंद न हो यह बात नहीं, यों तो देव के कतिपय प्रथम श्रेणी के छंद उसमें मिलते हैं, परन्तु उनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत थोड़ी है। अष्टयाम के बहुत थोड़े छंदों की ही देव ने अन्य ग्रन्थों में पुनरावृत्ति की है। वर्णन कहीं-कहीं सर्वथा इतिवृत्तात्मक हो गये हैं। शैली में अभी वह प्रौढ़ि, तथा भाषा में वह गभीर झंकार नहीं आई।

सब मिलाकर अष्टयाम में ६५ दोहे, ३२ सवैया और ३२ कवित्त घनाक्षरी हैं। सभी छंद नवीन हैं। भाव-विलास के एक भी छंद की अष्टयाम में पुनरावृत्ति नहीं हुई।

भवानी-विलास—

भवानी-विलास का रचना-काल नहीं दिया हुआ है—अतएव बहिर्साक्ष्य तथा अन्तर्साक्ष्य के आधार पर ही उसका निर्णय हो सकता है। भवानी-विलास के लिए दुर्भाग्य से बहिर्साक्ष्य का भी अभाव है क्योंकि उसका उल्लेख कहीं दूसरी जगह नहीं आता। स्वयं देव ने शब्द-रसायनादि में भाव-

* दंपतीनि के

विलास और रस-विलास का उल्लेख तो किया है, परन्तु भवानी-विलास के विषय में वे मौन हैं। ऐसी स्थिति में हमारे पास केवल अन्तर्साक्ष्य का ही आधार शेष रह जाता है। भवानी-विलास दादरी के राजा सीताराम के सुपुत्र (वास्तव में भतीजे) भवानीदत्त वैश्य को समर्पित है :

श्रीपति जेहि सम्पति दई सन्तति सुमति सुनाम,
आदरीक अति दादरी-पति नृप सीताराम ॥
सँवलसिंह *(पति ?) धर्मधुज सीताराम नरेन्द्र,
ता सुत इन्द्र कुबेर सम वैस्य सुबंस महेन्द्र ॥

** **

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि भवानीविलास राजा सीताराम के ही राज्य-काल (संवत् १७५०-१८००) में रचा गया था। भवानीदत्त अभी युवक ही थे। राजा का ख़िताब उन्हें अभी नहीं मिला था।

काव्यगुण और विवेचन की प्रौढ़ता की दृष्टि से भवानी-विलास देव की आरम्भिक रचना ही ठहरती है। उसके विवेचन में भाव-विलास की अपेक्षा अधिक विस्तार है—काव्य में अष्टयाम की अपेक्षा स्पष्टतः ही अधिक प्रौढ़ता और सौंदर्य्य है। नायिकाओं का जाति-भेद अंश-भेद के अनुसार विस्तार सबसे पूर्व इसी ग्रंथ में किया है। परन्तु अभी देश-भेद का प्रस्तार नहीं फैलाया गया। जैसा कि अन्य पण्डितों का भी अनुमान है, देश-भेद का यह प्रस्तार देव की देश-विदेश यात्रा का परिणाम था—और सबसे पूर्व जाति-विलास में फिर रस-विलास में इसका समावेश किया गया था। काव्यगुण की दृष्टि से भवानी-विलास रस-विलास की अपेक्षा स्पष्टतः ही हलका है। अतएव भवानी-विलास की रचना कम से कम जातिविलास से पूर्व और भाव-विलास तथा अष्टयाम के बाद ही मानी जा सकती है। अब अगर जातिविलास को देव की देशव्यापी यात्रा के अनुभव का परिणाम मानें और रस-विलास के आधार पर उसका रचना-काल सं० १७८० के कुछ पूर्व निर्धारित करें, तो ऐसा अनुमान करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि कवि की यह यात्रा १७६५ के आस-पास आरम्भ हुई होगी। यह सीमा अभी कुछ और नीचे उतारी जा सकती है, क्योंकि भवानीविलास की प्रशस्ति से स्पष्ट है कि देव भवानीदत्त के यहां काफ़ी दिन तक ८-१० वर्ष तक अवश्य सम्मानपूर्वक रहे। ग्रंथ-रचना इस आश्रय-काल के आरम्भ में ही मानी जा सकती है। उसी के आधार पर तो यह मैत्री अथवा आश्रय मिला होगा। इसी प्रकार भवानी-विलास के रचना-काल की द्वितीय सीमा को हम सं० १७५५

---

* (सुत अथवा पितु)

तक आसानी से खींच ले आ सकते हैं। सम्भावना यही है कि दिल्ली में आज़मशाह के यहाँ कुछ वर्ष ही रहने के बाद—क्योंकि आज़मशाह इन दिनो दक्षिण में व्यस्त था—देव वहीं से दादरी चले आये होंगे और वहीं रहकर सं० १७५०-५५ के बीच उन्होंने भवानीविलास की रचना की होगी। इस अनुमान में बहुत-सी कड़ियां जोड़नी पड़ी हैं परन्तु वे असम्बद्ध नहीं हैं।

प्रामाणिकता – भवानी-विलास की प्रामाणिकता मे कोई संदेह नहीं है। प्राय: प्रत्येक विलास के अन्त में देव ने अपना और अपने आश्रयदाता का नाम दिया है। भाव-विलास के अनेक छंद उद्धृत हैं और इसके अनेक छंदों की देव के अन्य प्रायः सभी ग्रंथों में पुनरावृत्ति हुई है। इसके अतिरिक्त भवानी-विलास के रस और नायिका-विवेचन का क्रम, शब्दावली आदि भी ठीक वैसे ही हैं जैसे कि रस-विलास या कुशल-विलास आदि ग्रंथों के। इसका केवल एक ही संस्करण प्राप्त है, जो भारत-जीवन प्रेस से बा० रामकृष्ण वर्मा के सम्पादन में प्रकाशित हुआ है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ सूर्यपुरा, टीकमगढ (?), गंधौली, लखनऊ आदि में उपलब्ध हैं। यह संस्करण पाठ-शुद्धि की दृष्टि से अत्यन्त असन्तोषजनक है। इसमें स्थान स्थान पर यहां तक कि विलासों के क्रम-बंधन में भी अशुद्धियां मिलती हैं। चौथा विलास कहां समाप्त होता है, इसका निर्देश ही नहीं है।

वर्ण्य विषय :—भवानीविलास यद्यपि रस के विवेचन से आरम्भ होता है, परन्तु उसका वर्ण्य विषय नायिका-भेद ही है। इसमें आठ विलास हैं, पहले विलास मे मंगलाचरण के उपरांत ग्रन्थ-निर्देशिका स्तुति है; फिर श्रृङ्गार रस की प्रमुखता का प्रतिपादन और उसका सांगोपांग वर्णन है। दूसरे मे श्रृङ्गार की प्रधान आलम्बन नायिका का जाति तथा कर्मभेद से वर्णन है और तीसरे में अंशभेद के अनुसार। चौथे मे मुग्धा के प्रथम चार भेदों के साथ पूर्वराग वियोग का वर्णन है, जिसमे अभिलाष आदि दस काम-दशाओ का भी समावेश है। पांचवें विलास मे मुग्धा के अन्तिम भेद सलज्जरति और मध्या के प्रथम दो भेदों के साथ पहले समागम का वर्णन है, और अन्त मे मध्या के अन्तिम दो तथा प्रौढा के चारों भेदों के साथ सुख-भोग का। छठे विलास में मध्या के अन्तर्गत नायिका की (स्वाधीन-पतिका, वासक-सज्जा आदि) आठ अवस्थायें, और प्रौढा के अन्तर्गत दश हाव वर्णित किये गये हैं। सातवें विलास में मध्या-प्रौढा के मान का विवेचन करते हुए धीरा, धीर-धीरा, अधीरा, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, अन्य-सम्भोग-दुःखिता, गर्विता आदि का विवरण है—फिर परकीया के भेद संक्षेप में कहे गये हैं; और अन्त में नायक के भेद, सखा-सखी आदि का चलता उल्लेख है। आठवें तथा अन्तिम विलास में श्रृङ्गार के अतिरिक्त शेष आठों रसो का वर्णन है। देव ने वीर रस के युद्धवीर, दानवीर और दयावीर तीन भेद माने है। शान्त के पहले शरण्य और शुद्ध शांत दो भेद; फिर शरण्य के

प्रेम-भक्ति, शुद्ध-भक्ति और शुद्ध-प्रेम—तीन भेद दिये गये हैं। हास्य के उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन भेद; और करुण के--करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुख-करुण ये पाँच भेद माने हैं। देव ने अपने रस-सम्बन्धी मुख्य सिद्धान्तों का प्रथम विवेचन भवानीविलास में ही किया है। भवानीविलास में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि नौ रसों में तीन मुख्य हैं—श्रृङ्गार, वीर और शान्त—शेष छः रस दो दो कर इन्हीं तीनों में लीन हो जाते हैं:—हास्य और भय श्रृङ्गार में; रौद्र और करुण वीर में; तथा अद्‌भुत और वीभत्स शान्त में। अन्त में शान्त और वीर भी श्रृङ्गार में लीन हो जाते हैं। अतएव मूल रस श्रृङ्गार ही है:

> "भूलि कहत नव रस सुकवि, सकल मूल श्रृङ्गार,
> तेहि उछाह निर्वेद लै, वीर सांत संचार।
> भाव सहित सिंगार में, नवरस झलक अजत्न,
> ज्यो कंकन मनि-कनक को ताही में नवरत्न॥"

जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा है—भवानीविलास का साहित्यिक मूल्य भावविलास से विशेष अधिक नहीं है। उसके रीति-विवेचन में भावविलास की स्वच्छता का स्पष्ट अभाव है। भावविलास के कवि की दृष्टि लक्षण-ग्रन्थ की रचना पर स्थिर रही थी। परन्तु भवानीविलास में ऐसा नहीं है। उदाहरणों का महत्व लक्षणों की अपेक्षा कहीं बढ गया है, भेद-प्रस्तार में वृद्धि हो रही है; इसलिए अनुपात शिथिल हो गया है। इसी प्रकार भावाभिव्यक्ति में भी स्वच्छता अपेक्षाकृत कम है। भावविलास के छन्दों की चंचलता और सुकुमारता भी यहां नहीं मिलती। परन्तु कविता के कण्ठ में कुछ गांभीर्य अवश्य आता जा रहा है। रचना में शब्द-गुम्फों की कडियां जो देव की भाषा का विशेष गुण है—धीरे धीरे बनना आरम्भ होगई हैं—यह सहज ही लक्ष्य किया जा सकता है।

शिवाष्टक—

शिवाष्टक देव की अत्यन्त आरम्भिक कृति है। पुस्तिका के अन्त में देव ने स्वयं ही उसका रचना-काल दे दिया है:—इति श्रीदेवदत्तविरचितं शङ्करस्तोत्राष्टकं समाप्तम् सं० १७५५ ज्येष्ठ वदी ४। अतएव अनुमानतः भवानी-विलास की रचना के आस-पास ही इन छन्दों का भी निर्माण हुआ होगा। इसमें शिव की स्तुति के केवल ८ कवित्त हैं। कुछ विद्वानों को इन छन्दों के देव-कृत होने में सन्देह है, परन्तु वास्तव में सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं है। इसकी मूल प्रति पर देव का नाम अङ्कित है। राय कृष्णदास जी को यह प्रति देव-वंशज पण्डित मातादीन जी से प्राप्त हुई थी, जिनके यहां वह देव के दो तीन अन्य ग्रन्थों और भोगीलाल के दो ग्रन्थों के साथ बहुत दिनों से—शायद देव के ही

समय से ही रखी हुई थी। देव वैसे तो राधा-कृष्ण के उपासक थे, परन्तु कुछ साम्प्रदायिक व्यक्तियों को छोड़कर हिन्दुओं की ईश्वर भावना मध्ययुग से ही इतनी व्यापक रही है कि वे शिव, विष्णु, शक्ति आदि में विशेष अन्तर नहीं करते आये हैं। कुसमरा ग्राम में आज भी देव जी की बगीची के जो भग्नावशेष मिलते हैं, उसमें एक छोटे से चबूतरे पर स्थापित शिवलिंग भी है। वहीं देव अपना पूजन-आराधन किया करते थे।

शिवाष्टक देव की सबसे हलकी रचना है—उसके छंदों में तन्मयता का अभाव होने के कारण रस अत्यन्त क्षीण है। कुछ छंद तो शिव के विभिन्न विशेषणों को जोड़कर ही बना दिये गये हैं। शब्दाडम्बर इतना अधिक है कि अर्थ की संगति बैठाने में भी बड़ी कठिनाई होती है। भाषा में भी वह गुम्फित झंकार नहीं मिलती जो देव की अपनी विशेषता है। फिर भी सब मिलाकर इसकी रचना में कुछ संकेत ऐसे अवश्य मिलते हैं, जिनसे इसे देव की आरम्भिक निम्न कोटि की कृति मानने में आपत्ति नहीं की जा सकती। शिवाष्टक अभी पुस्तकाकार होकर सामने नहीं आया, परन्तु फरवरी १९२८ की माधुरी में स्वर्गीय रत्नाकर जी की टीका और आलोचना सहित प्रकाशित हो चुका है।

प्रेम-तरङ्ग—

जैसा कि मैंने ऊपर निर्देश किया है, भवानीविलास के समर्पण से ध्वनित होता है कि देव भवानीदत्त के आश्रय में कुछ दिन अवश्य रहे होंगे। वे सोलह-सत्रह वर्ष की अवस्था में घर से चले थे और कम से कम आठ-दस वर्ष पश्चिम में रहकर घर लौटे होंगे। घर आकर कुछ दिन तक अर्जित सम्पत्ति का उपभोग करते हुये उन्हें जीविका की ओर से निश्चिन्त रहने का अवकाश मिला होगा। हमारी धारणा है कि प्रेम-तरङ्ग का प्रणयन इसी अवकाश-काल में हुआ होगा। इसीलिए प्रेम-तरङ्ग किसी को समर्पित नहीं है। अनुमानतः इसका रचनाकाल संवत् १७६०. के आस-पास माना जा सकता है। रीति-विवेचन की दृष्टि से प्रेम-तरङ्ग में कोई नवीनता नहीं है। इसकी एक ही अपूर्ण प्रति प्राप्त है, जिसमें केवल तीन तरङ्ग प्राप्त हैं, परन्तु उसमें और कुशल-विलास में इतना अधिक साम्य है कि कुशल-विलास के आधार पर उसके वर्ण्य-विषय और वर्णन-पद्धति का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। मुग्धा, मध्या, प्रौढा के अंश-भेद, जैसे कि भवानीविलास में दिए गए हैं, यहां भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भवानीविलास में देव ने मुग्धा के साथ दस कामदशाओं, मध्या के साथ आठ अवस्थाओं और प्रौढा के साथ दस हावों के वर्णन का जो नया क्रम बांधा था, वही इसमें ग्रहण किया गया है। [यद्यपि पुस्तक का यह भाग खंडित है, पर चौथी

तरङ्ग का शीर्षक—इस विषय में कोई संदेह नहीं छोड़ता]। वर्णन की दृष्टि से इसमें एक ही नवीनता है—वह है पति के विभिन्न दृष्टिकोणों के प्रति स्वकीया की प्रतिक्रिया, जो सभी अवस्थाओं में अनुकूल रहती है। इस प्रकार प्रेम-तरंग में स्वकीयावाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है। भवानीविलास से तुलना करने पर प्रेम-तरंग के लक्षणों में भी बहुत कम नवीनता मिलती है। प्रायः तीन चौथाई लक्षण ज्यों के त्यों उद्धृत हैं। परन्तु उदाहरणों में पूर्ण मौलिकता है। प्रेम-तरङ्ग के सभी उदाहरण मौलिक हैं—भावविलास, अष्टयाम और भवानीविलास का प्रायः एक भी उदाहरण इसमें नहीं मिलता है। वास्तव में भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास और प्रेम-तरङ्ग चारों देव के कृतित्व काल की रचनायें हैं। अभी वे नवीन ग्रन्थ ही लिख रहे थे—छंदों की उलट-पुलट करके ग्रन्थ जोड़ना अभी आरम्भ नहीं हुआ था। काव्य की दृष्टि से प्रेम-तरङ्ग देव के द्वितीय श्रेणी के ग्रन्थों में आयेगी। इसकी कविता में तल्लीनता का गुण-शैली में रंगों की चटक अपेक्षाकृत कम है। अष्टयाम की कविता में थोड़ा अर्थ-गांभीर्य तथा उसकी सह-वर्तिनी दुरूहता और आजाने पर उसका जो रूप होता, वही प्रेम-तरङ्ग की कविता का समझना चाहिये।

अपूर्ण होने पर भी प्रेम-तरङ्ग की प्रामाणिकता में संदेह नहीं किया जा सकता। उसकी तीनों तरङ्गों के अन्त में देव का नाम आता है—और लगभग सम्पूर्ण सामग्री ही कुशल-विलास और सुखसागर तरङ्ग में उद्धृत है।

कुशल-विलास—

कुशल-विलास एक प्रकार से प्रेम-तरङ्ग का संशोधित संस्करण है। प्रेम-तरङ्ग की सामग्री उसी क्रम से लक्षण और उदाहरण सहित दो-चार छन्दों को छोड़ ज्यों की त्यों उसमें उद्धृत कर दी गई है। अतएव यह कल्पना सहज सम्भव है कि उसकी रचना प्रेम-तरङ्ग के कुछ ही बाद हुई होगी। यदि कुछ अधिक अन्तर होता, तो इस बीच में कवि कुछ नये छन्दों की रचना कर उसमें और जोड़ता। यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि ऐसा ही क्यों माना जाए कि प्रेम-तरङ्ग का अन्तर्भाव कुशल-विलास में हुआ है, क्रम इसके विपरीत भी तो हो सकता है। इसके उत्तर में केवल एक ही बात कही जा सकती है —प्रेम-तरङ्ग की रचना स्वेच्छा से हुई है, किसी आश्रयदाता के आदेश से अथवा उसके प्रसादन के लिए नहीं हुई। स्वेच्छा से जो ग्रन्थ रचा जायगा, वह स्वभावतः स्वतन्त्र ही होगा, किसी दूसरे ग्रन्थ का रूपांतर नहीं। क्योंकि स्वान्तः-सुखाय रचे हुये काव्य में अपने ही ग्रन्थ का ज्यों का त्यों रूपांतर कर देने की क्या आवश्यकता हो सकती है? इसके अतिरिक्त प्रेमतरङ्ग के विवेचन अथवा उदाहरणों में

किसी प्रकार का संशोधन भी लक्षित नहीं होता, जिससे यह अनुमान कर लिया जाए कि कवि ने स्वतः ही अपनी पहली कृति को दुहरा कर शुद्ध किया होगा। इसके विपरीत कुशलविलास राजा कुशलसिंह का आश्रय प्राप्त करने के लिए लिखा गया था। उसके क्रम में भी प्रेमतरङ्ग की अपेक्षा कुछ अधिक स्वच्छता है। अतएव यही सम्भव प्रतीत होता है कि उसकी रचना प्रेमतरङ्ग के उपरांत, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है, थोड़े ही कालान्तर से हुई थी। समर्पण से विदित होता है कि राजा कुशलसिंह शुभकर्ण के सुपुत्र और सेंगर क्षत्रिय थे। उनकी राजधानी फफूंद थी। वे दानी और काव्य-रसिक नृपति थे—पर वैभव उनका साधारण ही था। फफूंद की राजवंशावली के अनुसार उनका समय विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक ठहरता है :—

इन्हीं साक्ष्यों के आधार पर कुशलविलास का रचनाकाल संवत् १७६० के कुछ बाद माना जा सकता है :—

वर्ण्य विषय:—कुशलविलास का वर्ण्य विषय नायिका-भेद ही है। इसमे नौ विलास हैं। पहले में शृंगाररस की उत्पत्ति और उसके विभिन्न अंगों, विभाव, अनुभाव, तनसंचारी, मनसंचारी और नायक-नायिका का वर्णन है। दूसरे मे नायक की विभिन्न चेष्टाओं के प्रति स्वकीया की प्रतिक्रियायें वर्णित हैं। नायक का दृष्टिकोण तो सदा एक-सा नहीं रहता :—

मुग्धदसा अनुकूल पति, मध्यदसा पति दच्छ।
प्रौढ़दसा सठ धृष्ट पति, इष्ट बहिक्रम पच्छ॥

परन्तु स्वकीया नायक की शठता और धृष्टता के प्रति भी अनुकूल ही रहती है चाहे पुत्र आदि में उसकी प्रीति बट भले ही जाये।

पति की चौविधि रसिकता तिहूँ वैस बढ़ि जात।
प्रीति प्रौढ़ स्वकियान त्यौं पति सुव हित घटि जात॥

गृहस्थ जीवन के कठोर सत्य का कितना निर्मम अंकन है। अन्त मे स्वकीया का राज-मत से विचार है, अर्थात् राजाओं के महल में स्वकीया की क्या परिभाषा है, इसका विचार है :

भूपन के संभोग हित भोग भामिनी और,
जो गंधर्व विवाह विधि ब्याही मुख सिरमौर।

यह भी पातिव्रत धर्म का पालन करती हुई अपनी सेवा से स्वामी को सदैव प्रसन्न रखती हैं। इस विलास मे परकीया की निन्दा करते हुये स्वकीया-वाद की प्रतिष्ठा की गई है। तीसरे विलास में परकीया और सामान्या के भेद

कह स्वकीया, परकीया और सामान्या के परिजनों का विवरण है। चौथे में नायिका के साधारण—जाति और अंश भेद देकर अंत में गंधर्वांश मुग्धा के पांचो भेदों का वर्णन है। मुग्धा के इस वर्णन-क्रम में एक नवीनता है, यहाँ उसके दो प्रकार से प्रचलित भेदों को एकरूप कर वर्णित किया गया है। उदाहरण के लिए नवमुग्धा और वयःसन्धि एक ही रूप के दो नाम हैं, नववधू और अज्ञात-यौवना एक ही हैं, नवयौवना और ज्ञात-यौवना में, नवल अनंगा तथा नवोढ़ा में, और सलज्जरति तथा विश्रब्ध-नवोढा में कोई अन्तर नहीं है। यह क्रम नवीन अवश्य है, परन्तु इसमें खींचतान भी की गई है, उदाहरण के लिये नवल-अनंगा और नवोढा एक कैसे हो सकती हैं? जाति और अंश भेद के लक्षण भवानीविलास से उद्धृत हैं, परन्तु उदाहरण सभी भिन्न हैं। पाँचवें विलास में मध्या और प्रौढा के भेद हैं। इस प्रकार प्रेमतरंग की तीन तरंगों की सामग्री कुशलविलास के पांच विलासों में विभक्त कर दी गई है। छठे, सातवें और आठवें विलासों में, क्रमशः, मुग्धा के साथ दस कामदशाओं का, मध्या के साथ आठ अवस्थाओं का, और प्रौढा के साथ दस हावों का वर्णन है। इन विलासों में कामदशा आदि के लक्षण नहीं दिये गये, केवल उदाहरण ही हैं; नवें विलास में धीरा-अधीरा, प्रेम-गर्विता, रूपगर्विता तथा ज्येष्ठा-कनिष्ठा का उल्लेख है, और अन्त में संयोग-वियोग का थोड़ा-सा वर्णन देकर ग्रन्थ समाप्त का दिया गया है। कुशलविलास में सब मिलाकर २०६ छंद हैं, जिनमे से यदि ११६ दोहों को निकाल दिया जाए तो सवैया और कवित्तो की संख्या १८७ रह जाती है। यह ग्रन्थ अभी मुद्रित नहीं है, हस्तलिखित प्रतियाँ भी इसकी बहुत नहीं हैं। अभी तक देखने सुनने में प्रायः २-३ ही प्रति आती है। (१) श्री व्रजराज पुस्तकालय गंधौली (पण्डित कृष्णबिहारी जी) की प्रति (२) हिन्दुस्तानी एकेडेमी की प्रति।

जातिविलास—

जातिविलास के विषय में देव ने स्वयं रसविलास में लिखा है:—

देवल रावल राजपुर नागरि तरुनि निवास।
तिनके लच्छन भेद सब बरनत जातिविलास॥

वास्तव में रसविलास को जातिविलास का संशोधित और परिवर्धित संस्करण कहना चाहिये। जातिविलास और भवानीविलास की अपेक्षा उसमें इतने कम नवीन छंद हैं कि उनकी रचना में कवि को बहुत ही थोड़ा समय लगा होगा। इसलिए जातिविलास का रचनाकाल रसविलास से कुछ ही पूर्व, अनुमानतः संवत् १७८० के आस-पास माना जा सकता है। अगर यह अंतराय अधिक होता तो देव और भी थोड़े बहुत छंदों की रचना कर अपने गुणज्ञ

आश्रयदाता को समर्पित करते। जैसा कि सभी पण्डितों का मत है—जातिविलास एक देशव्यापी यात्रा के फलस्वरूप लिखा गया है। यह यात्रा काफ़ी लम्बी थी और दस-पन्द्रह वर्षों में अवश्य समाप्त हुई होगी। अतएव, सम्भवतः संवत् १७६५ के लगभग राजा कुशलसिंह के आश्रय से किसी कारण विमुख होकर देव देशाटन के लिए चल पड़े होंगे। इस यात्रा में देव ने समस्त भारत में पर्यटन किया, और वहाँ के सौंदर्य्य का, सौदर्य्य से तात्पर्य उस समय केवल नारी-सौंदर्य का ही था, अवलोकन किया। जातिविलास में मुख्यतः जाति (वर्ण-व्यवसाय), वास तथा देश के क्रम से नायिकाभेद का वर्णन है। इसके अतिरिक्त अष्टांगवती-नायिका का भी विवरण दिया हुआ, है परन्तु उसमे कुछ नवीनता नही है।

जाति-विलास की केवल दो प्रतियाँ ही उपलब्ध हैं :—१ मिश्रबन्धुओं की प्रति जो अपूर्ण है—जिसमे केवल केरल वधू तक का वर्णन है; (२) दीक्षित गोकुल-चन्द्र की प्रति जो पूर्ण है—जिसमें देश-भेद पूरे दिए हुए हैं।

रसविलास—

रस-विलास के रचना-काल के विषय में तो कोई सन्देह ही नहीं है। स्वयं देव के अनुसार उसका निर्माण विजयादशमी संवत् १७८३ वि० में हुआ था। कुशलविलास की रचना के उपरांत लगभग १५ वर्ष तक देव को वाञ्छित आश्रयदाता की खोज में भटकना पड़ा, अंत में १७८२-८३ के आस-पास उनको राजा भोगीलाल का आश्रय मिला। भोगीलाल वास्तव में अत्यन्त गुणज्ञ एवं काव्यानुरागी राजा थे, फिर, इतने वर्षों तक इधर-उधर भटकने के उपरांत देव को सम्यक् सम्मान प्राप्त हुआ था। अतएव कवि ने अपने हृदय की सम्पूर्ण कृतज्ञता उनके प्रति उंडेल दी है। रस-विलास की रचना के समय उसकी अवस्था ५३ वर्ष की हो चुकी थी। स्वभावतः वैराग्य की भावनाये भी अब उनके हृदय में अंकुरित होने लगी थी।

इन्दु सो आनन तू जु चितै, अरविन्द से पाँयन पूजि गुविन्द के।

इस ग्रंथ मे लक्षण के १३४ दोहो के अतिरिक्त कुल २१६ कवित्त और सवैया है—परन्तु इन में से अधिकांश भवानीविलास और जातिविलास से उद्धृत हैं।

रस-विलास की प्रामाणिकता भी स्वतःसिद्ध है—ग्रंथ के आरम्भ में तथा प्रत्येक विलास के अंत में देवदत्त कवि का नामोल्लेख, देव के अनेक प्रचलित छंदो की पुनरावृत्ति, रस-रीति का क्रम आदि सभी उसके साक्षी हैं।

वर्ण्य-विषय :—रस-विलास भी जैसा कि उसके नाम से भासित होता है रस का ग्रंथ नहीं है। इसका सम्पूर्ण कलेवर नायिकाभेद को ही अर्पित है। ग्रंथ के आरम्भ में ही कवि ने नारी के महत्व-वर्णन द्वारा अपने शृंगार-सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। संसार में योग का महत्व मुक्ति के लिये है, मुक्ति का भोग (आनन्द) के लिये—परन्तु योग, मुक्ति और भोग का मूल है काम—और जिस काम की पूर्ति के बिना परमपद भी क्षुद्र लगता है, उसको तृप्त करने वाली है, चन्द्रवदनी नारी :

'रमनी राका-ससि-मुखी पूरें काम समुद्र।' इसीलिये तो देवता, राक्षस, मनुष्य, पशु और कीट पतंग सभी स्त्री के ही साथ सुखी हैं।

रस-विलास में सात विलास हैं जिनमें कामिनी के शत शत भेदों का वर्णन है। रीति-काल का रसिक कवि नारी को उसके समस्त रूपों में कितना चाहता था, इसका असंदिग्ध प्रमाण रस-विलास है। इसमें पहले नागरी, पुरवासिनी, ग्रामीणा, वनवासिनी, सैन्या, पथिक वधू—ये ६ भेद दिये गये हैं, फिर इनके अनेक अवांतर भेद, जिनमे चूहरी से लेकर ऋषिपत्नी तक को वसीट लिया गया है। ये भेद प्रायः जाति (वर्ण-व्यवसाय) को लेकर किए गये हैं। इसके उपरांत नायिका के यौवन, रूप, शील आदि आठों अंगों का सूक्ष्म वर्णन है। देव ने यहां रूप-शील आदि अमूर्त गुणो की परिभाषा करने का बहुत कुछ सफल प्रयत्न किया है। आगे जाति, (पद्मिनी आदि), कर्म, गुण (सत्, रज, तम) और देश के क्रम से भेदों का विस्तार है, और अंत मे काल , वय, प्रकृति और सत्व के अनुसार। प्रकृति वैद्यक के आधार पर तीन प्रकार की कही गई है : वात, पित्त, कफ; और सत्व नौ प्रकार के : सुर, किन्नर, नर, पिशाच, नाग, खर, कपि, और काग। सातवें और अंतिम विलास में संयोग के अन्तर्गत नायिका के दस हावों, और वियोग के अंतर्गत दस काम-दशाओं का वर्णन है। यह स्वीकार करते हुये भी कि संयोग दशा में अनेक हावों की उद्बुद्धि होती है, देव ने इनकी संख्या दस ही ठीक मानी है। वियोग-जन्य दस अवस्थाओं के वर्णन में अवश्य देव ने मान्य परिपाटी से कुछ स्वतंत्रता ली है और प्रत्येक के अनेक अवांतर भेद कर डाले हैं। उदाहरण के लिए :—

अभिलाष के पॉच भेद—श्रवणाभिलाष, उत्कण्ठाभिलाष, दर्शनाभिलाष, प्रेमाभिलाष।

चिंता के तीन भेद—गुप्त चिंता, संकल्प चिंता, विकल्प चिंता।

स्मरण के आठ भेद—अश्रु-स्मरण, स्वेद-स्मरण आदि (अन्य सात्विकों के अनुसार)

प्रलाप के सात भेद––ज्ञान-प्रलाप, वैराग्य-प्रलाप, उपदेश-प्रलाप, प्रेम-प्रलाप संशय-प्रलाप, विभ्रम-प्रलाप, निश्चय-प्रलाप।

उन्माद के पाँच भेद—मदनोन्माद, मोहोन्माद, विस्मरणोन्माद, विक्षेपोन्माद, वियोगोन्माद।

व्याधि के तीन भेद––संताप-व्याधि, ताप-व्याधि, पश्चात्ताप-व्याधि।

जड़ता और मरण—इनका एक ही एक भेद होता है।

इस प्रकार रस-विलास नारी के विभिन्न भेदों और हाव-भावों का एक कोष है। परन्तु यह सब प्रस्तार नारी के विभिन्न रूपों का ही निदर्शन करता है—वैसे तो नारी, पुरुष के मन पर अधिकार करने वाली—देखते ही मन को हर लेने वाली, मूलतः एक ही है :—

तातें कामिनि एक ही कहन सुनन को भेद।
राचैं पागैं प्रेम-रस मेटै मन के खेद॥

इस ग्रन्थ की मिश्रबन्धुओं ने आवश्यकता से अधिक प्रशंसा की है। रीति-विवेचन की दृष्टि से तो कवि के पहले ग्रंथों की अपेक्षा इसमें कोई विशेषता है ही नहीं, क्योंकि जाति-विलास की तरह यह भी वर्णनात्मक ही अधिक है काव्य की दृष्टि से अवश्य इसमें प्रौढ़ता मिलती है, परन्तु वह भी एक सीमा के भीतर ही। हाँ, यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि देव की शैली का स्वरूप इसके नवीन छन्दों मे आकर पूर्णरूप से परिपक्व हो गया है—उसका अपना वैशिष्ट्य अपने समस्त गुण दोषों के साथ यहाँ आकर स्थिर होगया है।

प्रेमचन्द्रिका—

प्रेमचन्द्रिका में रचनाकाल नहीं दिया हुआ, अतएव उसका निर्णय केवल अंतर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर ही किया जा सकता है। अंतर्साक्ष्य हो सकता है महाराज मर्दनसिंह के पुत्र उद्योतसिंह का समय तथा शैलीगत प्रौढ़ता; और बहिर्साक्ष्य हो सकता है प्रेमचन्द्रिका के छंदों का अन्य ग्रंथों में समावेश। राजा उद्योतसिंह डोडिया खेरा के राजा थे—उनका समय अठारहवीं शताब्दी का चतुर्थ चरण है।

विषय की गम्भीरता और शैली की परिपक्वता की दृष्टि से प्रेमचन्द्रिका रस-विलास की अपेक्षा अधिक प्रौढ ग्रन्थ है, इसमे संदेह नहीं। कवि की मनोवृत्ति वैचित्र्य और विस्तार से सिमट कर धीरे धीरे गंभीर और एकाग्र होती जा रही है, उसका झुकाव शरीर से मन तथा आत्मा की ओर–स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ रहा है। भवानी-विलास तथा रस-विलास में जिस आग्रह के साथ शृंगार-रस

और नारी की स्तुति की गई थी, प्रेमचन्द्रिका और सुजानविनोद में उसी आग्रह के साथ प्रेम का माहात्म्य वर्णित है—

भवानीविलास— मूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल सिंगार।

रसविलास— काम अंधकारी जगत लखै न रूप कुरूप।
हाथ लिए डोलत फिरत कामिनि छरी अनूप॥

प्रेमचन्द्रिका— ऐसे ही बिन प्रेमरस नीरस रस सिंगार।
प्रेम बिना सिंगार हू, सकल रसायन सार॥

❀ ❀ ❀

बानी बनिता रस मधू प्रभु प्रिय प्रेम अनूप।
आसी विष फाँसी विषम विषय विष महा कूप॥

इसमें बाह्य अलंकरण की अपेक्षा आंतरिक रसात्मकता के प्रति आग्रह अधिक है, शब्दों की व्यंजना-शक्ति अत्यन्त विकसित हो गई है। छन्दों की आवृत्ति के विचार से इसका साम्य भवानीविलास, प्रेमपचीसी और सुजानविनोद से अधिक है। इन दशाओं के उदाहरण इसमें और भवानी-विलास में बहुत कुछ एक से हैं, गोपी-प्रेमासक्ति के छन्द प्रेमपचीसी में मिलते हैं और प्रेम का वर्णन ज्यों का त्यों सुजानविनोद में दिया हुआ है। प्रेमचन्द्रिका के जिन छः दोहों में प्रेम और विषय का अन्तर दिया गया है, वे तो यथावत सुजानविनोद में दिए ही हुए हैं, उनके उपरांत इसी के आगे पाँच दोहे और भी हैं। इस प्रसंग को पढ़कर यह कल्पना सहज ही की जा सकती है कि प्रेमचन्द्रिका से ही सुजान-विनोद में ये दोहे उद्धृत किए गये हैं। अगर क्रम उलटा होता तो सुजान-विनोद के सभी दोहे प्रेमचन्द्रिका में उद्धृत होते, क्योंकि उसके शेष पांच दोहे भी काफी सुन्दर और महत्वपूर्ण हैं। अतएव हमारी धारणा है कि प्रेमचन्द्रिका की रचना रस-विलास के उपरांत और सुजान-विनोद से पहले हुई है। उद्योतसिंह के समय को देखते हुए हम इसे संवत् [illegible] के आस-पास मान सकते हैं।

इसकी प्रामाणिकता में भी कोई सन्देह नहीं है, इसके लिए भी वे सभी प्रमाण उपस्थित किए जा सकते हैं जो भवानीविलास तथा रसविलास के लिए दिए गए हैं। प्रेमचन्द्रिका का केवल एक यही संस्करण मिलता है जो [illegible] के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है।

इसमें सब [illegible] छन्द हैं जिनमें लगभग २६ दोहे हैं और १०१ कवित्त-सवैया हैं। [illegible] छन्दों में भी [illegible] लक्षण या सिद्धांत प्रतिपादन के लिए प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु इसमें [illegible] नहीं हुआ। इसके कुछ दोहे भी [illegible]

की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। प्रेमचन्द्रिका में नवीन छन्दों की संख्या अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक है।

वर्ण्य-विषय—प्रेमचन्द्रिका शुद्ध प्रेम-रस का ग्रन्थ है। देव ने इसमें बड़े सशक्त शब्दों में विषय का तिरस्कार करते हुए प्रेम का माहात्म्य प्रतिष्ठित किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि देव का दृष्टिकोण रीतिकाल के शुद्ध शृंगारिक और शुद्ध प्रेमी कवियों का मध्यवर्ती था। पुस्तक में चार प्रकाश हैं। पहले में साधारण प्रेम का वर्णन है जिसके अंतर्गत प्रेम-रस, प्रेम-स्वरूप, प्रेम-माहात्म्य तथा प्रेम और विषय का अन्तर अत्यंत स्पष्ट रूप में व्यक्त किया गया है। दूसरे प्रकाश में प्रेम के पाँच भेद किए गए हैं। सानुराग शृंगार, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य। सानुराग शृङ्गार का वास्तविक रूप मुग्धा के पूर्वानुराग में मिलता है—जिसका प्रस्फुटन अभिलाषादिक दश दशाओं में होता है। द्वितीय प्रकाश में इन्हीं का सविस्तर वर्णन है। तीसरे में मध्या और प्रौढ़ा का प्रेम है। देव का मत है कि मध्या का प्रेम कलह और प्रौढ़ा का गर्व से कलुषित होता है। इसके आगे परकीया के प्रेम की अभिव्यक्ति की गई है जो तल्लीनता की दृष्टि से ग्रन्थ का सब से सरस भाग है। चौथे प्रकाश में प्रेम के शेष चारों भेदों का क्रमशः गोपियो के सौहार्द, गोपियों की भक्ति, यशोदा के वात्सल्य और राजा नृग के कार्पण्य आदि के व्याज से वर्णन है।

प्रेमचन्द्रिका शुद्ध काव्य की दृष्टि से देव का सब से सरस ग्रंथ है। रीति-बन्धन से मुक्त होकर इसमें कवि के अनुरागी मन ने समग्रतः डूब कर प्रेम के गीत गाये हैं। इतना आवेग, इतनी तल्लीनता, रीतिकाल में केवल घनानन्द को छोड अन्य किसी भी कवि में अप्राप्य है। यहाँ, वास्तव में प्रेम का वर्णन न होकर प्रेम की अभिव्यक्ति है— ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व पिघल कर बह उठा हो।

सुजान-विनोद या रसानन्द लहरी—

यह प्रेमचन्द्रिका के बाद की रचना है। इसमें प्रेम का साधारण-वर्णन प्रेम-चन्द्रिका से उद्धृत है—और मुग्धा के पूर्वानुराग की दस दशाओ, मध्या की आठ अवस्थाओ तथा प्रौढ़ा के दस हावो का वर्णन बहुत कुछ भवानी-विलास और रस-विलास से उद्धृत है। यहाँ भी प्रश्न उठ सकता है कि ऐसा ही क्यो माना जाए कि ये वर्णन रस-विलास आदि से उद्धृत हैं, वास्तविकता इसके विपरीत भी हो सकती है। जहाँ तक रस-विलास का सम्बन्ध है, यह बडी सरलता से माना जा सकता है कि सुजानविनोद की रचना रस-विलास से कहीं अधिक प्रौढ है। रस-विलास में प्रधानता है जाति और देश के क्रमानुसार नायिका के भेद-विस्तार की, जो

रीति और काव्यगुण दोनों की ही दृष्टि से गाम्भीर्य्य के अभाव का द्योतक है। पर सुजान-विनोद में उसको त्याग दिया गया है, उसके विवेचन और दृष्टिकोण में स्पष्टतः स्थिरता है। इसके अतिरिक्त उसमें षट् ऋतु वर्णन को प्रधानता दी गई है—और षट् ऋतु के ये उत्कृष्ट छंद सुखसागर तरङ्ग को छोड और किसी भी ग्रंथ में नहीं मिलते। अध्यात्म-सम्बन्धी काव्यों में तो उनके लिए स्थान ही क्या था, परन्तु नायिका-भेद के अन्य ग्रंथों में उनका न होना इस बात की ओर अवश्य संकेत करता है कि वे सभी सुजान-विनोद से पहले नहीं बन चुके थे क्योंकि ऐसे उत्कृष्ट छंदों को अपने नवीन ग्रंथों में उद्धृत करने का लोभ देव कठिनाई से ही संवरण कर पाते। प्रेमचन्द्रिका के विषय में तो अभी कहा जा चुका है कि वह सुजान-विनोद से पूर्व की रचना है। उसका समय यदि संवत् १७६० के आस-पास माना जाए तो सुजान विनोद की रचना सं० १७६५ के आस-पास मान लेना अनुचित न होगा।

मिश्रबन्धुओं ने स्पष्ट लिखा है कि सुजान-विनोद किसी व्यक्ति को समर्पित नहीं है—उन्होंने सुजान का अर्थ केवल सहृदय अथवा रसज्ञ ही माना है। परन्तु उसके विपरीत कुसमरा-निवासी पं० मातादीन दुबे के यहाँ सुरक्षित सुजान-विनोद की अपूर्ण प्रति में, तथा पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित के पास रखी हुई सम्वत् १८०७ की एक अन्य प्रति में आरम्भ के १५ छंदों द्वारा आश्रयदाता का वर्णन किया गया है। उपर्युक्त दोनो प्रतियाँ हमने कुसमरा और भरतपुर जा कर स्वयं देखी हैं। मातादीन जी की प्रति भी काफी पुरानी है—सम्भवतः देव के ही हाथ की हो। उधर दीक्षित जी की प्रति मे तो लिपिकार ने संवत् १८०७ स्पष्ट ही दे दिया है। "शुभमस्तु श्रीरस्तु संवत् १८०७ मिती आश्विन मासे शुक्ल पच्छे सुदि ४ चतुर्थी बेनीधर त्रिपाठी स्वहस्ताक्षरस्तथा स्वपठनार्थं शुभम्।" यह प्रति मौलिक सुजान-विनोद से लिपि-बद्ध की गई मालूम पड़ती है। अतः ये छंद देव के नहीं है, ऐसा सन्देह करने के लिए कोई स्थान नही है। शैली देव की ही है। ऐसी दशा में यही माना जा सकता है कि मिश्रबन्धुओं की प्रति मे ये छंद नही हैं।*
भाव-विलास और रस-विलास की प्रतियों में भी ऐसा है। इन दिनो उपलब्ध संस्करणों में क्रमशः

> द्यौसरिया कवि देव कौ नगर इटायें बास।
> जोबन नवल सुभाव रस कीन्हो भावविलास॥

---

* वास्तव में मिश्रबन्धुओं की प्रति मे मातादीन और दीक्षित जी वाली प्रतियों के प्रारम्भिक २० छंद नहीं हैं जिनमें से पहले १५ में राजवंश का वर्णन है और शेष में प्रेम-माहात्म्य, प्रेम देव राधाहरि की महिमा, तथा सयोग वियोग की चर्चा है। वृन्दावन-माहात्म्य के २१ वे छंद से तीनो में समानता है।

तथा भोगीलाल-सम्बन्धी छंद नहीं मिलते। इस प्रकार यह सिद्ध है कि सुजान-विनोद की रचना दिल्ली के कायस्थ रईस पातीराम के सुपुत्र श्री सुजानमणि के विनोदार्थ हुई थी। वर्णन से प्रतीत होता है कि सुजानमणि वैभव-सम्पन्न, गुणज्ञ एवं दानी थे।

वर्ण्य-विषय :—सुजान-विनोद में ऋतुओं के अनुसार-अथवा यों कहिए कि विनोद-काल के अनुसार नायिका-भेद वर्णित है। शिशिर-वसन्त में शृङ्गार की उत्पत्ति होती है जिसकी पात्र है मुग्धा; ग्रीष्म-वर्षा विनोद का समय है जिसकी पात्र है मध्या, और शरद-हेमन्त विलास तथा उत्सव का समय है जिसकी पात्र है प्रौढ़ा। इसमें सात विलास हैं, पहले में साधारण प्रेम का वर्णन है जो लगभग सभी प्रेम-चन्द्रिका से उद्धृत है। दूसरे और तीसरे में, शिशिर-वसन्त में रसोत्पत्ति की पात्र मुग्धा की चेष्टाओं, भेदों और पूर्वानुराग की दस दशाओं का वर्णन है, और चौथे में ग्रीष्म वर्षा में रस-प्रमोद की पात्र मध्या की आठ अवस्थाओं का वर्णन है। पांचवें विलास के विषय है प्रौढ़ा के हाव, तथा रूप-प्रेम आदि का गर्व। इन वर्णनों के भी अधिकांश छन्द भवानी-विलास, रस-विलास और प्रेमचन्द्रिका से उद्धृत हैं। छठे और सातवें विलासों में केवल ऋतु-वर्णन है। यद्यपि ऋतु-वर्णन के भी अनेक छन्द पुराने ही हैं, फिर भी सुजान-विनोद का मौलिक अंश यही है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में ३२४ छन्द हैं जिनमें से ८६ दोहे कम कर देने से कवित्त और सवैयों की संख्या २३८ रह जाती है। परन्तु इनमें से आधे से अधिक छन्द पुराने हैं।

सुजानविनोद देव के प्रौढतम ग्रन्थों में से है—काव्य की दृष्टि से इसका और प्रेमचन्द्रिका का ही स्थान सर्वोच्च कहा जा सकता है। ये दोनों ग्रन्थ देव के प्रौढ जीवन की कृतियाँ हैं। कवि की रस-दृष्टि यहां आकर पूर्णतः परिपक्व होगई है, और वास्तव में इतनी प्रगाढ रसार्द्रता और किन्हीं ग्रन्थों में नहीं मिलती। यहां कवि की अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों का सम्यक् सन्तुलन मिलता है। अनुभूति में जितनी गम्भीरता है, अभिव्यक्ति में उतनी ही शक्ति है।

राग-रत्नाकर—

राग-रत्नाकर भी लक्षण ग्रन्थ है—परन्तु इसका विषय साहित्य न होकर सङ्गीत है। सुजान-विनोद के उपरांत कवि का ध्यान शुद्ध काव्य के अतिरिक्त गम्भीर लक्षण-ग्रन्थों अथवा वैराग्य की कविता की ओर चल पड़ा था। राग रत्नाकर इसी समय की रचना मालूम पड़ती है। इसमें दो अध्याय हैं—पहले में छः रागों का उनकी भार्याओं सहित सांगोपांग वर्णन है, और दूसरे में तेरह उपरागों का उल्लेख मात्र है। रागों और उनकी भार्याओं का वर्णन रीति-निरूपण और काव्य दोनों की दृष्टि से अत्यन्त रोचक है। देव ने एक ही छन्द में

राग का स्वरूप, गाने का समय, सहचारी वाद्य, वाहन, भूषण तथा स्वर-लक्षण आदि समस्त ज्ञातव्य बातों का निरूपण तो कौशल-पूर्वक किया ही है, इसके अतिरिक्त राग-भार्याओं का प्रतीकात्मक चित्रण भी बहुत सुन्दर किया है। इन सभी छन्दों में 'सुरंग में प्यौ धनी' शब्द माला की सम्पूर्णतः या अंशतः आवृत्ति हुई है, जिसमें शाब्दिक अर्थ के अतिरिक्त 'सा, रे, ग, म, प, ध, नी' का भी संकेत है। यह ग्रन्थ देव की बहुज्ञता का द्योतक है। श्री मिश्र बन्धुओं ने प्रसिद्ध संगीतज्ञ विंदादीन के द्वारा इसके राग विवेचन की परीक्षा कराई थी। विंदादीन जी का निर्णय है कि यह विवेचन सर्वथा शुद्ध और शास्त्र-सम्मत है। इससे स्पष्ट है कि देव साहित्य की ही नहीं सङ्गीत की भी रीतियों से पूर्णतः परिचित थे। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं है। शैली स्पष्ट रूप से देव की है, इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के आरम्भ में तथा प्रत्येक अध्याय के अन्त में देव का नाम उसी परिचित शब्दावली में दिया हुआ है।

शब्द-रसायन—

शब्द-रसायन देव का सब से प्रौढ़ रीति-ग्रन्थ है—अन्य सभी ग्रन्थों में देव का कवि रूप मिलता है परंतु इसमें वे निश्चय-पूर्वक आचार्य रूप में प्रकट हुए हैं। शब्द-रसायन का रीति-विवेचन सर्वाङ्ग-पूर्ण एवं गम्भीर है। भाव-विलास में केवल शृङ्गाररस और ३९ अलङ्कारों का वर्णन है, परन्तु इसमें काव्य की महिमा, काव्य का स्वरूप, पदार्थ-निर्णय, नौ रस, दश-रीति, (गुण), चार-वृत्ति, अलंकार तथा पिंगल का सम्पूर्ण विवेचन है। उदाहरण-स्वरूप जो नवीन छन्द उद्धृत हैं, वे भी अत्यन्त प्रौढ हैं। इस प्रकार विषय और प्रतिपादन शैली दोनों की दृष्टि से शब्द-रसायन भाव-विलास से लेकर सुजान-विनोद तक सभी ग्रन्थों से गम्भीर है। नायिका-भेद को कवि ने एक हलका विषय समझ कर यहां छोड़ ही दिया है। यह ग्रन्थ किसी को भी समर्पित नहीं है, और न कहीं अन्यत्र इसका उल्लेख ही मिलता है। अतएव केवल अन्तर्साक्ष्य और वह भी केवल विषय और शैली की गम्भीरता एवं प्रौढ़ता के बल पर ही यह निर्णय किया जा सकता है कि उसकी रचना नीति और विराग की कविता तथा देव की अन्तिम कृति सुख-सागर-तरंग को छोड़ शेष सभी ग्रन्थों के पश्चात् हुई होगी। देव के अन्तिम शृंगार-ग्रन्थ प्रेम-चन्द्रिका और सुजान-विनोद हैं जो रसविलास के बाद लिखे गये थे। पहले तो देव जी राजा भोगीलाल के यहाँ ही काफी दिनों तक रहे होंगे। फिर राजा उद्योतसिंह का आश्रय प्राप्त करने तथा उनके यहाँ रहने में, और अन्त में, दिल्ली जाकर सुजानमणि जी के आश्रय में रह कर सुजान-विनोद की रचना करने में भी पर्याप्त समय लगा होगा। रस-विलास का रचना संवत् १७८३ है, अतएव शब्द-रसायन का निर्माण-काल संवत् १८०० के आस-पास माना जा सकता है। शब्द-रसायन आज साहित्य-

सम्मेलन की कृपा से मुद्रित रूप में प्राप्त है। मुद्रित संस्करण के अतिरिक्त उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी अनेक उपलब्ध हैं। एक श्री मैथिलीशरण गुप्त की प्रति ना० प्र० स० काशी के कलाभवन में सुरक्षित है, दूसरी श्री कृष्णबिहारी जी के पास है, तीसरी मिश्रबन्धुओं की अपनी प्रति है, चौथी नागरी प्रचारिणी के पुस्तकालय में है, और इनके अतिरिक्त दो तीन प्रतियाँ प्रस्तुत संस्करण के सम्पादक श्री मनोज जी के पास भी हैं।

शब्दरसायन रीति का सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है—इसमें एकादश प्रकाश हैं। पहले प्रकाश के आरम्भ में देव ने काव्य के माहात्म्य तथा समर्थ काव्य के स्वरूप का वर्णन किया है।

ऊंच नीच तरु कर्म बस, चलो जात संसार,
रहत भव्य भगवंत-जस, नव्य काव्य सुखसार।
रहत न घर बर, धाम, धन, तरुवर, सरवर कूप,
जस शरीर जग में अमर, भव्य काव्य रस-रूप।

समर्थ काव्य के स्वरूप के विषय में देव का मत है:—

शब्द सुमति मुख ते कढ़ै, लै पद बचननि अर्थ,
छन्द, भाव, भूषण सरस, सो कहि काव्य समर्थ।

इस प्रकार देव काव्य को जीवन की एक बहुत बड़ी विभूति मानते हैं—परन्तु उसका प्राण वे हरिजस को ही मानते हैं। आगे शब्दशक्तियों का सभेद विवेचन है। देव ने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के अतिरिक्त इन तीनों में रमी हुई चौथी वृत्ति तात्पर्य्य के अस्तित्व को भी स्वीकृत किया है। शब्द-शक्तियों के सम्बन्ध में उनका सिद्धांत है:—

तिहूँ शब्द के अर्थ में, तीनिउ ओत प्रोत,
पै प्रवीन ताही कहत, जाको अधिक उदोत।

इस विलास में लक्षणा का वर्णन अत्यन्त विस्तृत है—उसके, पहले, समस्त शुद्ध भेद दिये गए हैं। फिर मिलित लक्षणा के भेदों का भी निरूपण है। दूसरे प्रकाश में तीनों वृत्तियों के संकीर्ण भेदों का विवेचन है, यथा:—शुद्ध अभिधा, अभिधा में अभिधा, अभिधा मे लक्षणा, अभिधा में व्यंजना और इसी प्रकार शुद्ध व्यंजना, व्यंजना में अभिधा, व्यंजना में लक्षणा, व्यंजना में व्यंजना। इसके उपरांत तीनों वृत्तियों के चार-चार मूल आधार-भेदों का निरूपण है। अभिधा के आधार-भेद:—जाति, क्रिया, गुण और यदृच्छा, लक्षणा के कार्य-कारण, सदृशता, वैपरीत्य और आक्षेप; व्यंजना के वचन, क्रिया, स्वर और चेष्टा। तीसरे विलास मे रस-निर्णय है। इसके महत्व का प्रतिपादन करने के उपरांत कवि ने रस-लक्षण, रस-भेद

रसोत्पत्ति, रस के विभिन्न अंग—स्थायी, सात्विक संचारी आदि; तथा रसों के सापेक्षिक गौरव आदि का वर्णन किया है।

रस के इस विवेचन का आधार भाव-विलास और भवानी-विलास हैं:—स्थायी, सात्विक, संचारी आदि का वर्णन भाव-विलास पर आश्रित है; रसों का पारस्परिक सम्बन्ध, विभिन्न रस-भेदों के लक्षण-उदाहरण प्रायः ज्यों के त्यों भवानी-विलास में से उद्धृत कर दिए गए हैं (यद्यपि उनका मूलाधार भानुदत्त की रस-तरंगिणी ही है।)। भाव-विलास में रस-तरंगिणी के अनुकरण पर जो कुछ नवीन भेदान्तर दे दिये गए हैं, उनको शब्द-रसायन मे अनावश्यक विस्तार समझकर छोड़ दिया गया है। उदाहरण के लिए:—रस के लौकिक और अलौकिक भेद जिनके अन्तर्गत स्वाप्निक, मानोरथिक आदि का विवरण है, अथवा नवीन संचारी छल, या फिर भवानीविलास मे दिए गए शांतरस के भेदान्तर। पांचवें प्रकाश मे रसों की मित्रता और शत्रुता का विवेचन है—शत्रुरस भी किस प्रकार कवि-कौशल द्वारा मित्र बन जाते हैं, इसका प्रमाण दिया गया है। फिर सरस रस, उदास रस और निरस रस का वर्णन है—जिसमें निरस रस के देश, काल, विधि-संधि-भाव आदि के विरोध पर आश्रित आठ भेदों का भी उल्लेख है; और उसके उपरांत रस के सम्मुख-विमुख, स्वनिष्ठ-परनिष्ठ रूप दिए गए हैं जो बहुत कुछ रस-तरंगिणी से ही अनूदित है। इसके आगे विभिन्न रसों के संचारियो का, और अंत में कौशिकी, आर्भटी, भारती और सात्वती वृत्तियों का विवेचन है। छठे प्रकाश में प्रधान रस—शृंगार का विशेष विवरण है:—

> प्रकृति पुरुष शृंगार मै नौ रस कौ संचार,
> जैसे मठ आकाश में घटत अकास, प्रकास।

इन नौ रसों में से हास्य वीर और अद्भुत संयोग के अंग हैं, करुण, रौद्र और भयानक वियोग के, तथा वीभत्स और शांत रस दोनों के। रसों का यह संयोग नवीन है। भावविलास और भवानीविलास में इस प्रकार नहीं मिलता। इस प्रकाश में नायक-नायिका का भी संक्षिप्त वर्णन है, परन्तु वह विभाव के रूप में सीधा नहीं दिया गया है, वरन् शृंगार के वाच्य-वाचक, लक्ष्य-लाक्षणिक, तथा व्यंग्य-व्यंजक पात्रों के क्रम से अत्यन्त संक्षिप्त रूप में दिया हुआ है। वाचक पात्र हैं—शुद्ध-स्वभाव स्वकीया, अनुकूल पति, विद्यागुरु सखी, पीठमर्द नर्म सचिव, कुल-धर्म-उपदेशी धाय, दूती आदि; लाक्षणिक पात्र हैं—गर्व-स्वभाव स्वकीया, दक्षिण नायक, अतिसंग-धृष्टा-सखी, विटनर्म सचिव, परिजन-वधू दूती, वशीकरण दूती आदि; व्यंजक पात्र हैं—शुद्ध परकीया, शठ स्वभाव उपपति, विद्यानाट्य-गुरु सखी, नर्म-सचिव-विदूषक, पुरजन दूती, निंद्य कर्म उपदेशी, आदि। इसके आगे वाच्य-वाचक पात्र (गर्व-स्वभाव स्वकीया) और व्यंग्य-व्यंजक पात्र (शुद्ध

परकीया) की रसाभिव्यक्ति के अंगः–संचारी, सात्विक तथा अनुभाव आदि का वर्णन है। इस विवेचन के परिणाम स्वरूप देव का मत है :—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षना लीन,
अधम व्यंजना रस-कुटिल, उलटी कहत नवीन।

देव के उपर्युक्त दोहे को लेकर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें कुछ झटके देने का प्रयत्न किया है और उनके अनुकरण पर दूसरे लोगों ने भी इस सिद्धांत पर आश्चर्य प्रकट किया है। परन्तु इसका वास्तविक अर्थ प्रसंग से पृथक् करके नहीं समझा जा सकता। इस दोहे के साथ ही आपको देव का एक और दोहा भी ध्यान में रखना होगा :—

स्वीय मुग्ध मूरति सुधा, प्रौढ-सिता पयसिक्त,
परकीया कर्कससिता, मरिच-परिचयनि-तिक्त।

देव ने पात्र के क्रमानुसार अभिधा को स्वकीया से, और व्यंजना को परकीया से एक रूप कर देखा है—अतएव यह तिरस्कार व्यंजना का तिरस्कार नहीं है, परकीया द्वारा अभिव्यक्त रस का है। शुद्ध रसवादी होने के कारण देव अभिधा को प्रधानता तो देते ही थे, इसमें संदेह नहीं, किन्तु इतने अनाडी नहीं थे कि व्यंजना को केवल पहेली बुझौवल ही मान बैठते।

सातवें प्रकाश मे रीति का वर्णन है। रीति से तात्पर्य देव ने गुण का लिया है, और उसको काव्य का द्वार अर्थात्, शायद, अभिव्यक्ति का माध्यम माना है। रीति अर्थात् गुण साधारणतः दस हैं, जिनके नागर और ग्रामीण दो दो भेद हैं। परन्तु यमक और अनुप्रास को मिलाकर उनकी संख्या बारह हो जाती है। आठवें प्रकाश का वर्ण्य विषय है, चित्रकाव्य। चित्रकाव्य को देव ने अधम काव्य माना है, उसमें केवल शब्दचित्रों का ही आकर्षण है। चित्र के मूलतत्व हैं, अनुप्रास और यमक, इस प्रकाश मे पहले इन्हीं का वर्णन किया गया है। सिंहावलोकन का उल्लेख दास से पहले देव ने किया है, परन्तु उसे स्वतंत्र अलंकार न मानकर अनुप्रास का ही भेद माना है। इसके उपरांत कामधेनु आदि अनेक चित्रबन्धो का चक्रव्यूह रचा गया है। यह सब भिन्न रुचि के लोगों के परितोष के लिए ही किया गया है। देव का अपना सिद्धांत तो स्पष्टतः ही यह है—

मृतक काव्य बिनु अर्थ को, कठिन अर्थ के प्रेत।
सरसभाव, रस काव्य सुनि, उपजत हरि सों हेत॥

नवें प्रकाश में अर्थालंकार हैं, भावविलास के ३९ अलंकारों को छोड देव ने यहाँ ४० मुख्य और ३० गौण अलंकारो का विवरण किया है। उन सबका मूल माना है उपमा को, जिसका कि यहां काफी विस्तार किया गया है। अंतिम

दो प्रकाश पिंगल को समर्पित हैं। आरम्भ में गद्य और पद्य का साधारण परिचय देकर गण, गणदेवता आदि का विवरण है, फिर मुख्य छंदों का संक्षेप में वर्णन है। इस वर्णन की दो विशेषताएँ हैं : एक तो लक्षण और उदाहरण एक ही छंद मे दिये गए हैं, दूसरे, छंदो का वर्णन गणों के क्रम से किया गया है अर्थात् एक गण से चलने वाले सभी छंदो का वर्णन एक साथ ही दिया गया है। सवैया का वर्णन करते हुए, उसके सभी भेदो के लक्षण केवल भगण के द्वारा ही समझाये गये हैं। दण्डकों मे देव ने ३३ वर्णों के दण्डक के रूप में एक नया आविष्कार किया है।

इस प्रकार काव्य के लगभग सभी अंग शब्दरसायन के अंतर्गत आ जाते हैं। कवि ने प्राकृत और संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन करके अत्यन्त परिश्रम-पूर्वक इस ग्रन्थ की रचना की है। इसका नाम शब्दरसायन इसलिए रखा गया है, कि इसमें शब्द और अर्थ दोनो के रस का सार दिया गया है।

शब्दरसायन नाम यह, शब्द-अर्थ रस सार।

जैसा कि मैंने आरम्भ में ही कहा है, यह ग्रन्थ शुद्ध रीति-निरूपण के निमित्त रचा गया है, अतएव जहाँ अन्य ग्रन्थो में कवि की दृष्टि लक्षण से अधिक उदाहरण पर केन्द्रित रही है, यहाँ हम उसे अत्यन्त परिश्रमपूर्वक रीति-तथ्यों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हुए पाते हैं। शब्दरसायन में प्रत्येक उदाहरण के बाद दोहो के द्वारा लक्षण और उदाहरण का सम्बन्ध घटाते हुए अभीप्ट तथ्य की व्याख्या की गई है, परन्तु फिर भी साहित्य के ये जटिल विषय छोटे छोटे छंदों में कैसे स्पष्ट हो सकते हैं। देव की ओर से भरसक प्रयत्न होने पर भी शब्द-शक्ति, रीति और अलंकार तीनों का निरूपण सर्वथा अस्पष्ट ही रह गया है। आपको यदि इन विषयों का ज्ञान पहले से ही है, तब तो अवश्य आप शब्द-रसायन को पढ कर कुछ प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु यदि आप केवल उसी पर आश्रित हैं, तो आपका साहित्यिक ज्ञान सर्वथा अपरिपक्व ही रहेगा। देव के निरूपण में एक और दोष है : उनकी उलझी हुई अभिव्यक्ति, जो काव्य मे थोडी बहुत निभ भी जाये परन्तु रीति-विवेचन में सर्वथा असमर्थ ही सिद्ध होती है। उदाहरणों की दुरूहता से यह उलझन और भी बढ जाती है। दास, मति-राम, प्रतापसहि की भाषा की स्वच्छता यहाँ अप्राप्य है, अतएव देव का विवेचन भी उनका जैसा स्वच्छ नहीं हो पाया। अलंकार-प्रसंग में उपमा, स्वभावोक्ति, रूपक आदि कुछ मुख्य अलंकारो को छोड़ शेष का बहुत ही चलता निरूपण किया गया है, एक ही छंद में तीन-तीन चार-चार अलंकारो को उदाहृत कर दिया गया है। वास्तव में उपर्युक्त विषय देव को अधिक प्रिय नहीं थे। उनका प्रिय विषय था रस, और रस का विवेचन शब्द-रसा-

यन में अपेक्षाकृत बहुत ही सुव्यक्त एवं स्पष्ट है, साथ ही रस के विषय में देव के मूलगत सिद्धांत भी अत्यत सशक्त और दृढ हैं। इसके अतिरिक्त पिंगल का वर्णन भी अपेक्षाकृत सुलझा हुआ है—कवि को विषय का अच्छा ज्ञान है, और उसने कौशलपूर्वक उसका प्रयोग किया है। सब मिलाकर और रीतिकाल की सीमाओं को भी ध्यान में रखते हुए, शब्द-रसायन को उसके गौरव-पद से वंचित नहीं किया जा सकता। और यह गौरव-पद उसे सदैव प्राप्त रहा है। शिवसिंह सेंगर साक्षी है कि उनके समय में काव्यरीति के जिज्ञासु शब्दरसायन का पाठ्य-ग्रंथ के रूप मे अध्ययन किया करते थे।

देव-चरित्र

शब्द-रसायन के निर्माण तक देव ७० वर्ष के आस-पास पहुँच चुके होगे। आरम्भ में ही उनकी प्रकृति में एक तत्व ऐसा अवश्य मिलता है जो राग-लिप्त उनके हृदय को कभी कभी बडे जोर से वैराग्य की ओर धकेल देता था। ७० वर्ष की अवस्था तक पहुँचते पहुँचते यह तत्व इतना प्रबल हो चुका होगा कि उनकी रसिकता पर भी हावी हो जाए। उधर, कृष्ण को शुद्ध शृंगार-नायक रूप मे ग्रहण करने की अवस्था से परब्रह्म रूप में उनका चिंतन करने की अवस्था तक पहुँचने में थोडा समय अवश्य लगा होगा। इस बीच में उनके अलौकिक चरित्र का स्तवन करना आवश्यक था। क्योंकि वही इन दोनो अवस्थाओं का संधि-काल है। अतएव हमारी धारणा है कि उनके विराग-काल की पहली रचना देव-चरित्र ही है। भाव-विलास से लेकर शब्दरसायन तक कृष्ण को शुद्ध शृंगार-प्रतीक रूप मे चित्रित करते रहने के उपरान्त, देव ने इस ग्रन्थ मे उनके विभिन्न चरित्रों का वर्णन करते हुए रसिकराय के लोक पावन रूप की भी यत्किञ्चित् झाँकी दी है। देव-चरित्र में १५० छंद हैं, जिनमें लगभग १० पुराने हैं, शेष सभी नये है। सम्पूर्ण ग्रन्थ एक ही भाग मे समाप्त है, इसमें कोई अंतर्विभाग नहीं है। स्वयं देव के शब्दों में, इसमें कृष्ण के गुणकर्म का सूक्ष्म वर्णन है। ग्रन्थ का आरम्भ श्री-कृष्ण जन्म और व्रज-सौभाग्य से होता है। अपूर्व पुण्यवती यशोदा के गर्भ से कृष्ण का जन्म होते ही सम्पूर्ण व्रज मे मानों सौभाग्य उमड उठा है, सारी वसुधा व्रज को अंक में भरने के लिए लालायित हो रही है। कृष्ण अभी छः दिन के भी नहीं हो पाये कि उन्होंने दुष्ट बकी और तृणावृर्त राक्षस का वध कर डाला। फिर क्रमशः छठी और नामकरण का वर्णन है। अब कृष्ण का शिशुरूप थोड़ा विकसित हो गया है, उनके मोहक सौंदर्य और लीलाओं को देखकर यशोदा तथा अन्य गोपियाँ वात्सल्य-गद्गद् हो जाती हैं। माखन-चोरी भी आरम्भ हो गई

है। आगे वृन्दावन-प्रयाण, फिर क्रमशः वकासुरवध, कालवन-वध, कालिय-दमन और प्रलम्बासुर के नाश का वर्णन है। चीर-हरण का वर्णन केवल दो छंदों में बहुत चलता हुआ किया है। इसके उपरान्त गोवर्धन-लीला, वरुण से नंद की मुक्ति और तत्पश्चात् रास-रस का विस्तृत वर्णन है। कुछ दिन बाद ही अक्रूर आजाते हैं, और कृष्ण ब्रजवासियों को अत्यन्त शोकाहत अवस्था में छोड़ मथुरा चले जाते हैं। वहाँ दुर्विनीत रजक को दण्ड देकर कुब्जा का उद्धार कर, और कंस के समस्त उत्पातों और शक्तियों को विफल कर भरी सभा में उसका वध कर डालते है। यहाँ तक तो कथा की रेखा सर्वथा स्पष्ट है, उसकी घटनाओं में भी पर्याप्त रंग है। पर आगे केवल सात छन्दों में जरासंध के भय से कृष्ण का द्वारका-गमन, रुक्मिणी-स्वयंवर, सत्यभामा-वरण, भौमासुर के बन्धन से सोलह सहस्र रानियों का उद्धार तथा उनका पत्नी रूप में ग्रहण, रुक्मिणी के पुत्र का जन्म, महाभारत में पाण्डवों की सहायता आदि अनेक छोटे बडे प्रसंगों का अत्यन्त संक्षिप्त तथा खण्डित वर्णन है। अन्त में कृष्ण के अपार ऐश्वर्य की महिमा एव उनकी वन्दना के साथ ग्रन्थ समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार देव-चरित्र कवि का प्रथम और एक मात्र खण्ड काव्य है। केवल १५० छन्दों मे सम्पूर्ण कृष्ण-चरित्र को संकलित कर दिया गया है, इससे साधारणतः यही विचार उठता है कि कथा-प्रवाह सर्वथा खण्डित होगा, परन्तु वास्तव मे स्थिति इतनी असन्तोषजनक नही है। ब्रजराज कृष्ण की सभी लीलायें एक सूत्र में गुंथी हुई हैं और उनके वर्णन भी रंग-भरे हैं। बाल-क्रीडाओं में वात्सल्य, कालियदमन तथा गोवर्धन-धारण के वर्णनों में करुण, और रास लीला मे शृंगार का सम्यक् परिपाक है। कंस-वध प्रसंग का वीर रस भी अपुष्ट नहीं है। वास्तव में चित्रण-कला में देव अत्यन्त प्रवीण थे। अतएव जहाँ उनको थोड़ा अवकाश मिला है, उन्होंने परिस्थिति और भावना के काफ़ी सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं। जहाँ ऐसा नही हुआ, जहाँ कवि प्रसंग पर ठहरा नहीं है, वहाँ कविता इति-वृत्त-कथन के धरातल पर उतर आई है। और अन्त में जाकर तो सूत्र ही खण्डित हो गया है। देव-चरित्र खण्ड काव्य की दृष्टि से अधिक सफल नहीं है, परन्तु वह इतना संकेत अवश्य करता है कि कवि में कथा-निर्वाह की प्रतिभा निस्सन्देह थी और यदि इस ओर वह ध्यान देता तो अवश्य ही उसका यथेष्ट विकास कर सकता था।

देव-मायाप्रपंच नाटक—

देव-माया-प्रपंच विषय की गंभीरता और शैली की दृष्टि से देव चरित्र के बाद की रचना ठहरती है। यह अब तक अप्राप्य ग्रन्थ समझा

जाता था, परन्तु इसकी एक अत्यन्त प्राचीन प्रति देव के पौत्र छत्रपति की लिखी हुई पं० मातादीन के पास है और एक पं० कृष्णविहारी जी के यहाँ मौजूद है। कवि इस समय किसी के आश्रित नहीं था। उसकी विराग-भावनायें धीरे धीरे अत्यन्त पुष्ट होती जा रही थी। देव-चरित्र में जहाँ मूर्त तथ्यों का वर्णन है देव-माया-प्रपंच मे वहाँ जीवन के सूक्ष्मतम तत्वों का विवेचन है। देव-चरित्र की शैली जहाँ शुद्ध वर्णनात्मक है वहाँ देव-माया-प्रपंच की शैली में सांकेतिकता एवं प्रतीकात्मकता भी मिलती है।

प्रामाणिकता :—देव-माया-प्रपंच देव-कृत रचना है, इस विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सन्देह प्रकट किया है परन्तु वास्तव मे उसके लिये कोई स्थान नहीं है। ग्रन्थ के अन्त मे कवि ने स्पष्ट ही अपने नाम का उल्लेख किया है—

"हृदै बसौ कवि देव कैं सतसंगति को पाय।"

इसके अतिरिक्त शैली पर भी देव की छाप असंदिग्ध है, और सब से पुष्ट प्रमाण यह है कि ऐसे कुछ छन्द जो देव के सर्व-स्वीकृत ग्रन्थों मे मिलते हैं, इसमे भी उद्धृत हैं। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छन्द देव-माया-प्रपंच तथा देव-शतक के जगदर्शन-पचीसी खण्ड दोनों मे उद्धृत है

हाय दई यह काल के ख्याल मे फूल से फूलि सबै कुम्हिलाने।
देव अदेव सभी बल हीन चले गये मोह की हौंस हिलाने॥
या जग बीच बचै नहीं मीचु पै, जे उपजे ते मही में मिलाने।
रूप कुरूप गुनी निगुनी जे जहाँ उपजे ते तहाँ ही बिलाने॥

इसी प्रकार एक और छन्द लीजिये जो देव-माया-प्रपंच और शब्द-रसायन दोनों मे मिलता है।

अंतरु कै नहि, अंतरु कै, मिलि अंतरु कै, सुनिरंतरु धारै,
ऊपर बाहि न, ऊपर बाहित, ऊपरि बाहिर की, गति चारै;
बातन हारति, बात न हारति, हारति जीभ न बातन हारै,
'देव' रंगी सुरत्यौ, सुरत्यो, मनु देवर की, सुरत्यो न बिसारै।

देव-माया-प्रपंच प्रबोध-चन्द्रोदय की शैली पर लिखा हुआ पद्य-बद्ध नाट्य-रूपक है। इसकी कथा का मूल सूत्र इस प्रकार है : परं पुरुष के दो पत्नियाँ हैं—एक प्रकृति दूसरी माया। प्रकृति से बुद्धि का जन्म होता है, माया से मन का। मन पर माया का प्रभाव इतना बढ जाता है कि वह पिता, विमाता और बहिन तीनों से विद्रोह कर बैठता है। परं पुरुष माया का बन्दी बन जाता है। बुद्धि भी इस यंत्रणा से क्षुब्ध होकर मन से भटक जाती है। कुछ समय इधर उधर भटकने

के बाद वह जन-श्रुति के उपदेश से सत्संगति से मिलती है। फिर धर्मपक्ष और अधर्मपक्ष में युद्ध होता है। परन्तु तर्क की गुप्त मंत्रणा से मन का मोह पहिले ही दूर हो जाता है। वह माया के फन्दे से छूट कर बुद्धि से और फिर अपने पिता से मिलता है। उधर अधर्म पक्ष की पूर्ण पराजय होती है। माया के बंधन से परं पुरुष मुक्त हो जाता है। अन्त में प्रकृति, मन और बुद्धि सब का परं पुरुष से संयोग हो जाता है।

नाटक में छः अंक हैं। पहले में प्रस्तावना है, जिसमें नान्दी-पाठ के उपरान्त सूत्रधार रंगमंच पर उपस्थित हो कर निम्नलिखित सांकेतिक दोहा पढ़ता है :

सुत भूल्यौ सुत के भये, पर्यो पिता सो बीचु।
मातु मते भगिनी तजी, घर घर नाच्यो नीचु॥

इधर वह इसका अर्थ स्पष्ट करने का उपक्रम करता है, उधर नेपथ्य में से एक बाला विलाप करती हुई प्रकट होती है। बस यहीं से नाटक की कथा आरम्भ हो जाती है जो एक प्रकार से उपर्युक्त दोहे का ही व्याख्यान है। जनश्रुति आकर नट आदि को यह बतलाती है कि यह बाला बुद्धि है जो अपने बन्धु से वियुक्त हो कर भटकी फिर रही है। इसके लिये एक ही गति है, वह है संगति की शरण में जाना। इतने में ही कलि के आने का उत्पात सुनाई पड़ता है। दूसरे अंक में कलि का कलह और कलंक से सम्मिलन होता है, ये आपस में मिल कर बुद्धि और सत्संगति के संयोग के परिणामों पर विचार करते हैं। अंक के अन्त में दृश्य बदल जाता है। यह संगति का रम्य प्रदेश है जहाँ बुद्धि को लेकर जनश्रुति जा पहुँचती है। तीसरे अंक में सत्संगति और उसकी अनुवर्तिनी श्रद्धा, करुणा, तत्वचिंता आदि द्वादश कृत्याओं का वर्णन है जो सभी अपने अपने अनुसार बुद्धि को उपदेश देती हैं। बुद्धि को वहीं छोड़ कर अब जनश्रुति कपट वेश धारण कर माया नगरी का भेद लेने के लिए जाती है। वहाँ उसकी वृथा-पुष्ट, व्यभिचार आदि से भेंट होती है। माया नगरी का वैभव अपार है, उसके वर्णाश्रम, उसके योद्धा, उसके शास्त्रकार सभी उसी के अनुकूल हैं। जनश्रुति के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर सहजानन्द, इच्छानन्द, लिंगानन्द आदि उसको अपने अपने मत की दीक्षा देने का प्रयत्न करते हैं; धूर्तराज तंत्र, मंत्र, यंत्र आदि का बखान करते हैं। अन्त में, माया की स्तुति के साथ अंक समाप्त होता है। छठे अंक में ज्यों ही युवराज मन का राज्याभिषेक समाप्त होता है त्यों ही सत्संगति पक्ष के सेनानायक शांतानन्द के दूत उनके पास आते हैं और शांतानन्द का उपदेश उनको सुनाते हैं। अवसर पाकर तर्क मन के भ्रम को दूर कर देता है और वह जनश्रुति और तर्क के साथ माया के नगर से भाग कर बुद्धि के पास पहुँच जाता है। इधर माया अहंकार का अभिषेक

कर उसे शांतानन्द आदि से युद्ध करने भेजती है। युद्ध में माया की पूर्ण पराजय होती है, उसके समस्त योद्धा नष्ट हो जाते है और वह स्वयं भाग जाती है। पूर्ण पुरुष इस प्रकार बन्धन से मुक्त हो जाता है और अन्त में मन बुद्धि और प्रकृति आकर उससे मिल जाते हैं।

रूपक का दार्शनिक आधार तो सर्वथा स्पष्ट ही है, माया का प्रपंच बड़ा भयंकर है। स्वयं पूर्ण पुरुष भी उसके बंधन मे फँस कर अनेक यातनाये भोगता है। उसी के प्रभाव से मन बुद्धि का तिरस्कार कर काम क्रोध आदि के वशीभूत हो जाता है। अंत मे जब सत्संगति तथा श्रद्धा, करुणा आदि के प्रभाव से बुद्धि शुद्ध हो जाती है और मन उसे पुनः प्राप्त कर लेता है तो उसका मोह नष्ट हो जाता है, माया का प्रभाव दूर हो जाता है, और आत्मा पुनः अपने शुद्ध-बुद्ध चेतन स्वरूप को प्राप्त करता है। कथा के सैद्धान्तिक तथा इति-वृत्तात्मक पक्षों में सामंजस्य का निर्वाह प्रायः ठीक हो हुआ है। अतएव रूपक की दृष्टि से उसमे कोई असंगति नही है।

श्री मिश्रबन्धुओं ने देव-माया-प्रपंच को अर्थनाटक माना है, शायद उनका तात्पर्य यह है कि इसमें कार्य-व्यापार का अभाव है। परन्तु यह तो रूपक की अनिवार्य सीमा है। इसके अतिरिक्त उसका कथा-विकास ठीक ही है। घटनाएं सहज क्रम से आगे बढ़ती हैं। वर्णनो मे भी वास्तविकता, रोचकता और रस की कमी नही है। माया के वैभव का वर्णन बहुत सुन्दर है। चौथे और पाँचवें अङ्क में व्यभिचार, धूर्तराज और विभिन्न शास्त्रकारों की बातचीत बडी सजीव है। दृश्य-विधान भी काफी अच्छा है। इसके अतिरिक्त कवि ने मुद्राओं के सूक्ष्म वर्णन देकर रंग-संकेत का भी नियोजन स्थान स्थान पर किया है :—

पछिताय कलह रिसाय कलि सों, 'क्यौ दई तुम छोरि'।
मुख मोरि नाक सकोरि त्यौरी तोरि भौंह मरोरि॥

भाषा मे गति है और प्रसंगोचित चांचल्य भी है। सूक्ष्म तत्वों को मूर्त रूप में अंकित करने में कवि ने सफलता-पूर्वक प्रतीकात्मक एवं सांकेतिक प्रयोगो का उपयोग किया है। श्रद्धा, करुणा आदि के वर्णन पूर्णतः प्रतीकात्मक है, क्षमा, तुष्टि आदि के सांकेतिक।

प्रबोध-चंद्रोदय का प्रभाव :—इस प्रकार के सैद्धान्तिक रूपकों का आदर्श कृष्ण मिस्र का प्रबोधचन्द्रोदय नाटक ही रहा है। देव के सम्मुख भी यही आदर्श था, इसमें संदेह नही। दोनों की शैली तो एक-सी है ही, दोनो के प्रतिपाद्य में भी थोड़ी बहुत समानता है। प्रबोधचन्द्रोदय का प्रतिपाद्य शांकराद्वैत सिद्धान्त है, देवमायाप्रपंच मे भी उसी का ही प्रतिपादन है। उधर दम्भ, मोह,

श्रद्धा आदि कुछ पात्र भी समान हैं। बस इसके आगे कोई समानता नहीं है। कथावस्तु दोनों की सर्वथा भिन्न है और आत्मा में भी किसी प्रकार का साम्य नहीं है।

देवशतक—

देवशतक में चार पृथक पचीसियां हैं—जगद्दर्शन-पच्चीसी, आत्म-दर्शन-पच्चीसी, तत्व-दर्शन-पच्चीसी और प्रेम-पच्चीसी। इनमें प्रेम-पच्चीसी तो निश्चित ही रस-विलास से पूर्व की रचना है क्योंकि रस-विलास में उसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है-'अथ उपदेश-प्रलाप वर्णन—तथा प्रेम-पचीसी में वैराग्य-सत्य कह्यौ है। (रस-विलास, भारत जीवन प्रेस) उपर्युक्त उद्धरण से यह भी अनुमान होता है कि प्रेम-पचीसी या प्रेम-पच्चीसी का पूर्णरूप थोड़ा इससे भिन्न था। इसमें कुछ छंद तो भवानी-विलास से उद्धृत हैं, शेष अनुमानतः उसी के पश्चात् रचे गये हैं। बाद में, तन्मयता, उन्माद आदि के ये छंद रस-विलास में और गोपियों की प्रेम-भक्ति के छंद प्रायः ज्यों के त्यों प्रेम-चन्द्रिका में उद्धृत कर दिए गए हैं।

प्रथम तीन पच्चीसियों के प्रायः छंद मौलिक ही हैं। इन छंदों में जगत् की असारता, उसमें लिप्त रहने के लिये जीव की भर्त्सना और अंत में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन है। यौवन के शृंगार-छंदों की भांति ये वैराग्य-छंद भी कवि की सच्ची आत्माभिव्यक्ति हैं। वास्तव में इनमें से अनेक छंदों में तो जैसे उसकी आत्मा अपनी असहायावस्था पर फूट फूट कर रो उठी है। देव में तीव्र राग के साथ ही विराग की चेतना आरम्भ से ही वर्तमान थी, जीवन के कटु अनुभवों से उद्दीप्त होकर वृद्धावस्था में वह स्वभावतः ही पूर्णतया परिपक्व हो गई थी। अतएव इसमें संदेह नहीं है कि ये छंद उसकी वृद्धावस्था की ही सृष्टि हैं और उनकी रचना देव-माया-प्रपन्च आदि के बाद ही हुई है—क्योंकि देवमाया-प्रपञ्च आखिर एक क्रम-बद्ध प्रयत्न है जिसमें कवि-कौशल की चेतना भी स्पष्टतः वर्तमान है। ज्यों ज्यों कवि की अवस्था बढ़ती गई होगी, यह चेतना निश्चित ही कम होती गई होगी, और अन्त में लिखे हुए छंदों में शुद्ध आत्माभिव्यक्ति मात्र ही रह गई होगी। इसलिए कवि की अंतिम रचना ये पच्चीसियाँ ही प्रतीत होती हैं। अपने अंतिम दिनों में वृद्ध कवि ने एक क्रम-बद्ध नाट्य-रूपक न लिखकर, वैराग्य के फुटकर छंद ही लिखे होंगे, ऐसा अनुमान सहज ही किया जा सकता है। इनके बाद शायद उसने कुछ लिखा नहीं—बस अपने पूर्व लिखित रस के छंदों को सुखसागर-तरङ्ग में संगृहीत कर अकबरअलीखां को समर्पित कर दिया। इस शतक में १०२ छंद हैं—

जिनमें लगभग ७५ नये हैं। जगद्दर्शन-पचीसी में २६ छंद हैं—जिनका वर्ण्य विषय जीवन और जगत की निस्सारता है। आत्म-दर्शन-पचीसी में २५ छंद हैं जिनमें जीव के भ्रम का वर्णन है। इन छंदों में मानव-मन की निर्मम भर्त्सना है। तत्वदर्शन मे ब्रह्म-तत्व का निरूपण है : इस संसार में एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है, जो चराचर को अपने में समाये हुए है। वह एक ओर अभेद और अनिर्वचनीय है, दूसरी ओर भावना के अनुसार उसके अनेक रूप भी हैं। प्रेम-पचीसी मे प्रेम-तत्व का वर्णन है। परमात्मा केवल प्रीति मे मिलता है। जीवन में प्रेम ही सार है। प्रेम के बल पर ही गोपियों ने उद्धव के निर्गुण-ज्ञान को मिथ्या सिद्ध कर दिया था।

देवशतक अत्यन्त प्रौढ रचना है। दार्शनिक भावनाओं को कवि ने पूर्ण अनुभूति के साथ अभिव्यक्त किया है। अतएव वे कोरा दर्शन न रहकर काव्य बन गई हैं। उसके आत्म-ग्लानि के उद्‌गारो मे उतनी ही तन्मयता है जितनी भक्त कवियों मे मिलती है। भाषा की चंचलता और विलास पूर्णतः नष्ट हो चुके हैं। उसमें वस्तु के अनुरूप गांभीर्य्य और स्थिरता आ गई है।

सुखसागर-तरङ्ग—

सुखसागर-तरङ्ग पिहानी के अधिपति अकबरअलीखां को समर्पित है। अकबरअलीखां का शासन-काल संवत् १८२४ से आरम्भ होता है जब कि देव की अवस्था ९४ वर्ष की हो चुकी थी। अभिषेक आदि के उत्सवो पर राजाओं को विविध प्रकार की भेटें देने की प्रथा तो पुरानी है ही—अतएव सम्भावना यही है कि अकबरअलीखां के गद्दी पर बैठते ही देव ने सुखसागर-तरङ्ग मे अपने ग्रंथों का संग्रह कर उनको समर्पित किया होगा। इसी समय के आस-पास कवि की मृत्यु भी हो गई होगी—क्योंकि देव जैसे व्यक्ति के लिए ९४, ९५ वर्ष की अवस्था काफ़ी होती है।

सुखसागर-तरंग को स्वयं देव ने 'संग्रह' कहा है :—'इति श्रीमद्विबुधविरुदावली-विराजमान महालक्ष्मीरूपावलोकन-निधान श्री खान साहेब अली अकबर-खान कारिते देवदत्त कविरचिते शृङ्गार सुखसागरतरंगसंग्रह- ...'। वास्तव में ९४ वर्ष की अवस्था मे कवि से संग्रह के अतिरिक्त कोई मौलिक ग्रन्थ रचने की आशा करना भी व्यर्थ है—सुखसागर-तरंग में मुख्यतः अष्टयाम, भवानी-विलास कुशलविलास, रसविलास, सुजान-विनोद और कुछ अंशों मे भाव-विलास और प्रेमचन्द्रिका के छंदों का समावेश तो स्पष्टतया हुआ ही है—परन्तु इनके अतिरिक्त भी ऐसे काफ़ी छन्द रह जाते हैं जिनके मौलिक होने का भ्रम हो सकता है। स्वयं मिश्रबन्धुओं को भी कुछ इस प्रकार की धारणा हुई है,

परन्तु वास्तव में यह बात नही है। ऐसे छन्दों की संख्या दो सौ के लगभग अवश्य है, और यह कल्पना करना कि इतनी जर्जर अवस्था में कवि ने दो सौ छन्दों की रचना की होगी, सर्वथा असंगत होगा। ऐसी दशा मे प्रत्यक्षतः यही परिणाम निकाला जा सकता है कि शेष छन्द कवि के उन ग्रन्थों से संगृहीत हैं जो आज अप्राप्य हैं। सुखसागर-तरंग की हस्तलिखित प्रतियाँ श्री व्रजराज-पुस्तकालय गंधौली में, तथा मिश्रबन्धुओं के पास हैं। पं० बालदत्त जी द्वारा सम्पादित उसका एक मुद्रित संस्करण भी संवत् १९५४ में अयोध्या से प्रकाशित हुआ था। यह संस्करण अशुद्धियों से मुक्त नही है – और दुर्भाग्य से आज अप्राप्य भी है।

सुखसागर-तरंग मे बारह अध्याय और ८५६ छन्द हैं। इसका वर्ण्य विषय सांगोपांग शृंगार है, जिसक अन्तर्गत नायिका-भेद का अत्यन्त विस्तृत वर्णन है। प्रथम अध्याय मे आश्रयदाता का संक्षिप्त वंश-वर्णन देने के उपरांत सरस्वती, महालक्ष्मी, गौरी, जानकी रुक्मिणी और राधा की वन्दना है। फिर शृंगार का स्वरूप और उसी प्रसंग में शृंगार के मांगलिक उत्सवों का वर्णन है, जिसके अन्तर्गत गौरी, जानकी, रुक्मिणी और राधा का सौभाग्य और श्रीपंचमी-महोत्सव का चित्रण है। अन्त मे दम्पती का परस्पर-शृंगार और उनके प्रेमांकुर के मूल कारण श्रवण, चित्रदर्शन और स्वप्न का उल्लेख है। वास्तव मे इस अध्याय का मुख्य वर्ण्य विषय मंगलोत्सव ही है और विषयों का क्रम अत्यन्त शिथिल है। दूसरे अध्याय का आरम्भ विचित्रतः प्रत्यक्ष-दर्शन से किया गया है। पहले रति के पोषक आलम्बन-उद्दीपन विभाव, प्रकाशक साधारण अनुभाव, विशेषक सात्त्विक, विलासक संचारी भावों का उल्लेख है, फिर षट्ऋतु का, और अन्त में अष्टयाम शुरू हो जाता है। पर अध्याय का अन्त बीच मे संध्या के वर्णन पर ही समाप्त हो जाता है। यह अष्टयाम पूरा नहीं है। तीसरे अध्याय मे रात्रि के शेष यामों की शृंगार-क्रीड़ाओं के उपरांत, नायिका के नख-शिख और और वर्ण (व्यवसाय) भेद का सविस्तर अंकन है। अष्टयाम और वर्ण-भेद के ये प्रसंग अष्टयाम, रस-विलास अथवा जाति-विलास से उद्धृत हैं। चौथे अध्याय में नायिका के आठ अंग तथा पद्मिनी आदि चार जाति-भेद दिये हुए हैं। शेष आठों अध्यायों मे क्रमशः अंश-भेद और उनके अन्तर्गत वयःक्रम भेद, मुग्धा, मध्या आदि की शिक्षा, फिर उसी पूर्व-क्रम से मुग्धा की दस दशायें, मध्या की आठ अवस्थायें, प्रौढा के दस विलास, और अन्त मे नायक तथा उसके सहायकों के भेद, मानलीला, आदि प्रभूत उदाहरणों द्वारा सविस्तर वर्णित हैं। इस प्रकार सुखसागर-तरंग को नायिका-भेद का एक विश्व-कोष समझना चाहिए। वास्तव में देव के सुन्दर छन्दों का स्वयं उन्हीं के द्वारा चयन होने के कारण इस ग्रन्थ का महत्व और ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक है।

एक ग्रन्थ की खण्डित प्रति—

कुसमरा के पं० मातादीन दुबे के पास रसानन्द-लहरी (सुजान-विनोद) की खण्डित प्रति के अतिरिक्त देव के एक अन्य ग्रन्थ की खंडित प्रति भी है। इस पर स्वयं मातादीन जी अथवा किसी आधुनिक पण्डित ने 'नायिका-भेद' नाम लिख दिया है, परन्तु यह नाम प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। नायिका-भेद तो देव के सभी ग्रन्थो का विषय है, फिर भी उन्होंने किसी का नाम नायिका-भेद नहीं रखा। अतएव यह 'सुमिल-विनोद' जैसे किसी अप्राप्य ग्रन्थ की प्रति है, ऐसा ही निर्णय दिया जा सकता है। इस प्रति मे बीच के लगभग ८० छन्द हैं—आरम्भ के तीन छन्दों में संयोग वर्णन है, उसके उपरांत लगभग ६०-६५ छन्दों में षट्ऋतु वर्णन है जो कुछ छन्दों के उलट-फेर से प्रायः ज्यों का त्यो 'सुजान-विनोद' से उद्धृत कर दिया गया है; अन्त के १०-१५ छंदों मे मान और दान-लीला का वर्णन है। प्रस्तुत प्रति को देखकर सहसा यही धारणा होती है कि शायद यह किसी उपलब्ध ग्रन्थ का ही खण्डित अंश हो। पहले मुझे भी यही भ्रम हुआ था कि यह सुजान-विनोद (रसानन्द-लहरी) का ही अंश है। क्योंकि इसके ५५-६० छंद ज्यो के त्यो उसी के षट्ऋतु वर्णन से उद्धृत हैं, परन्तु अधिक छान-बीन करने पर यह धारणा निर्मूल सिद्ध हुई। इसके कारण हैं—

(१) रसानन्द-लहरी (सुजान-विनोद) की जो खण्डित प्रति मातादीन जी के यहाँ इसके साथ सुरक्षित है, उसकी और इसकी हस्तलिपि, स्याही आदि मे बहुत अंतर है।

(२) षट्ऋतु के समान छंदों में भी क्रम का भेद है। कुछ छंद ऐसे हैं जो एक मे हैं, और दूसरी प्रति में नहीं हैं। प्रस्तुत प्रति में षट्ऋतु वर्णन के कुछ अतिरिक्त छन्द भी हैं।

(३) षट्ऋतु वर्णन के अतिरिक्त मान और दान-लीला के छन्द नवीन न होते हुए भी इस क्रम से किसी अन्य प्राप्य ग्रन्थ में नहीं पाये जाते।

(४) एक आध छन्द ऐसा भी है जो देव के किसी भी अन्य ग्रन्थ में हमें नहीं मिला।

(अ) गोरसु कहा है हरि जो रसु लिवैयां सांझ भोर सु अंचैकै सबही सौं लरिबो करिरे।
बाला दुलही ये कुलही सौं करि पालागनु आई है निसंकु उन्हें अंक भरिबो करि रे।
देव तजि कानि आनि चेरीं भई तेरी हरिनी-दृग अहेरीहियो हेरि हरिबो करि रे।
या ब्रज को राजु आजु तेरे घर आयो तोहि जोई मन भायो सोई काजु करिबो करि रे।
(आ) गोरस के प्यासे हैं उपासे तन तो रसके अधर सुधा से मंद हांसी ही हितौनि के

सूखे जात रूखे मुख भूखे हँसि बोलन के देव कहैं सेवक हैं सुघर सलौनि के।
देखे सुखु पावत-सु आवत निवहि इत गावत निपुन गुन प्यारी गज गौनि के।
आकर बिनोद राधिका कर बिकाने चेरे वदन सुधाकर के चाकर चितौनि के।

देव के अप्राप्य ग्रन्थ—

देव के प्राप्त ग्रंथ केवल उपयुक्त १६ या १७ ही हैं—देवशतक की चारों पच्चीसियों को पृथक् ग्रंथ मान लेने पर यह संख्या १९ या २० हो जाती है। इनके अतिरिक्त सुखसागर-तरङ्ग के उन छंदों के परीक्षण से जो प्राप्य ग्रंथों से बाहर के है, कम से कम नखशिख, पट्ऋतु और राम-चरित्र इन तीन ग्रंथों का निश्चय और होता है। इनके नाम चाहे भिन्न हों, परन्तु इन विषयों पर तीन ग्रंथ अवश्य रहे होंगे। नखशिख का उल्लेख तो नागरी प्रचारिणी की खोज में ही मिलता है। भवानी-विलास मे एक स्थान पर जय-विलास नाम के ग्रंथ की ओर भी संकेत है :— 'यथा जय-विलासे' (भ. वि. पृ. ४, भारत जीवन प्रेस)। देव ने अन्य ग्रंथों मे भी अपनी पहली रचनाओं का संकेत किया है—जैसे रस-विलास में जाति-विलास का, या काव्य-रसायन में भाव-विलास का। अतएव जय-विलास भी देव का ही कोई ग्रंथ है, जो आज अप्राप्य है। तीन ग्रंथ ऐसे हैं जिनकी प्रतियाँ प्राप्त नही हैं, परन्तु जिनको श्री युगलकिशोर जी 'व्रजराज'—तथा पं० बालदत्त जी ने स्वयं देखा है। व्रजराज जी ने वृक्षविलास और पावस-विलास—दो ग्रंथ देखे थे। वृक्ष-विलास तो आज भी इटावा प्रांत के ताखा ग्राम मे एक ब्राह्मणी के पास सुरक्षित बताया जाता है। श्रीयुत हरिश्चन्द्र देव वर्मा चातक के मित्र बिसनगढ़-निवासी ठा० हरनामसिंह बी. ए., एल. एल. बी. ने उसे स्वयं देखा है। अभी तक वह स्त्री उसे किसी अन्य को दिखाने या देने के लिए प्रस्तुत नहीं हुई। नीति-शतक पं० बालदत्तजी ने देखा था "चाहिए जिस कवि के शांत रस व भक्ति-पक्ष काव्य को इनके नीति-शतक व वैराग्य-शतक से, जो हमने देखे हैं मिला देखिये" (सुखसागर-तरङ्ग की भूमिका)। इसमें वैराग्य-शतक तो देव-शतक का ही दूसरा नाम है, नीति-शतक भिन्न कृति है। पावस-विलास में पावस-ऋतु का वर्णन बताया जाता है, वृक्ष-विलास में अन्योक्तियाँ हैं और नीति-शतक का विषय तो नाम से ही स्पष्ट है। देव का एक ग्रंथ नल-दमयंती भी कहा जाता है। पं० मातादीन जी ने स्वयं उसे देखा है। वह पहले उन्हीं के पास था, परन्तु कुछ वर्ष हुए उनके एक सम्बन्धी पं० रामबाबू (जिनका नाम देव के वंश-वृक्ष मे आता है) उसे जयपुर ले गये— तब से वह उन्हीं के चक्कर में पड़ा हुआ है, और आज प्रयत्न करने पर भी प्राप्य नहीं हो रहा। व्रजराज जी तथा मिश्रजी प्रतिष्ठित काव्य-मर्मज्ञ व्यक्ति थे। मातादीन

जी भी काफ़ी दिनों से देव के विषय में सतर्क हैं, अतएव इनके साक्ष्य को न मानने का कोई कारण नहीं है।—अब कुछ ग्रंथ ऐसे रह जाते हैं जिनको किसी ने देखा नहीं है—उनका आधार केवल जनश्रुति ही है। सबसे पूर्व इनका उल्लेख शिवसिंह-सरोज में मिलता है। इनके नाम इस प्रकार हैं: रसानन्द-लहरी, प्रेम-दीपिका, सुमिलविनोद तथा राधिका-विलास। इनमें से रसानन्द-लहरी तो सुजान-विनोद का ही दूसरा नाम है। सुजान-विनोद की तरङ्गों के अंत में यह नाम बार-बार प्रयुक्त हुआ है:—'इति श्रीरसानन्दलहरीविलासे, सुजान-विनोदे कवि-देवदत्त-विरचिते .... प्रथमो विलासः'। अंतिम विलास में केवल इतना ही लिखा है 'इति श्री सुजान-विनोदे श्रीदेवदत्त-विरचितायां रसानन्दलहरी-नायिकावर्णनम् समाप्तम्।' इसके अतिरिक्त पं० मातादीन और दीक्षित जी वाली सुजान-विनोद की प्रतियों में एक दोहा और मिलता है जो इस भ्रम को निर्मूल कर देता है—

लहरी रस आनन्द की राधा-हरिगुन गान।
रचत देव बानी वचन सुनियो रसिक-सुजान॥

एक तो इसी दोहे के आधार पर, दूसरे रसानन्द-लहरी का नाम सुजान-विनोद में इतनी बार आया है इसलिए भी, मातादीन जी ने अपनी प्रति के शीर्षक रूप में 'रसानन्दलहरी' ही लिख दिया है, मानो पुस्तक का वहीं नाम हो। इस प्रकार इन उद्धरणों और प्रमाणों से स्पष्ट है कि रसानन्दलहरी सुजानविनोद का उपशीर्षक है, कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। शिवसिंह जी को इन्हीं उल्लेखों के कारण भ्रम हो गया है। प्रेमदीपिका शायद प्रेमचन्द्रिका का ही दूसरा नाम हो—अथवा फिर उसी के समानान्तर ग्रंथ हो। राधिका पर तो देव ने अनेक छंद लिखे ही है—प्रायः सभी ग्रंथों के मंगलाचरण में राधिका की वंदना है। इसके अतिरिक्त सुखसागरतरंग में उन पर बहुत से छंद एकत्र दिए हुए हैं—और वैसे तो नायिका ही राधिका का रूप है। इसलिए राधिका-विलास इन्हीं या ऐसे ही छंदो का संग्रह होगा। सुमिल-विनोद वास्तव में कुछ विचित्र-सा नाम है—कुछ पंडितो का मत है कि यह शायद सुजान-विनोद हीं है जो लिपिकार की असावधानी से सुमिलविनोद बन गया है। परन्तु यह कुछ कष्ट-कल्पना है, सुजान और सुमिल में बहुत अन्तर है। नाम से यह भी नायिका-भेद का ही ग्रंथ जान पड़ता है। नागरी-प्रचारिणी की खोज में प्रेम-दर्शन नामक एक अन्य पुस्तक का उल्लेख है—जो कम से कम नाम से देवकृत अवश्य मालूम पड़ती है क्योंकि एक ओर प्रेम-तरंग, प्रेमचन्द्रिका, प्रेमपचीसी, प्रेमदीपिका और दूसरी ओर तत्वदर्शन, आत्मदर्शन तथा जगद्दर्शन जैसे नाम देव को प्रिय थे।

देव-साहित्य के पंडितों में अभी तक ये ही ग्रंथ दर्शन और श्रवण के आधार पर प्रचलित थे। श्री मिश्रबन्धु-तथा पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने इन्हीं को स्वीकृत किया है। परन्तु उनके वाद में एक-दो विद्वानों ने देव के कतिपय अन्य ग्रंथों को भी देखा और सुना है। भारत के धुरंधर कवि के लेखक श्री कन्नोमल जी ने उपर्युक्त सूची के ग्रंथों के अतिरिक्त भानुविलास, श्यामविनोद, काव्यरस-पिंगल तथा सुमाल-विनोद इन चार ग्रंथों का हवाला और दिया है। इनमें सुमाल-विनोद तो सुमिल-विनोद का और काव्यरस-पिंगल काव्य-रसायनपिंगल (काव्य-रसायन का अंतिम खण्ड पिंगल है) का ही लिपि-दोष है। शेष के विषय में कन्नोमल जी ने कोई आधार अथवा प्रमाण नहीं दिया है। इसलिए उनके विषय में कोई मत स्थिर करना सम्भव नहीं है, बस इतना ही कहा जा सकता है कि मान्य विद्वानो ने उनको स्वीकृत नहीं किया। अस्तु!

अब शृंगार-विलासिनी के संपादक पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित की दी हुई एक लम्बी सूची रह जाती है जो उन्होने सप्रमाण उपस्थित की है। उसमें शृंगारविलासिनी तथा कतिपय स्तोत्र मिलाकर ११ ग्रन्थ तो संस्कृत के हैं, और ८ ग्रन्थ भाषा के हैं, यथा—बखतविलास (रचनाकाल संवत् १८२१), बखत-विनोद (र० का० सं० १८२५), कालिका-स्तोत्र, श्रीनृसिंह—चरित्र, प्रज्ञानशतक, माधवगीत (सं० १८२१) और वृत्तमंजरी (सं० १८४६ वि०)। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है, दीक्षित जी का विवेचन अधिक संगत एवं विश्वसनीय नहीं है, इसकी सतर्क आलोचना हम अन्यत्र कर चुके हैं। यहाँ उनके गिनाए हुये ग्रन्थों की थोड़ी परीक्षा करना पर्याप्त होगा। संस्कृत के ग्रन्थों में शृंगार-विलासिनी को ही ले लीजिए, यह नायिका-भेद का ग्रन्थ है, परन्तु न तो इसका रीतिक्रम और न उदाहरणगत भाव ही देव के अन्य ग्रंथो मे मिलते हैं। हमने शृंगार-विलासिनी को भावविलास और भवानीविलास दोनों के साथ रखकर पढा है, परन्तु एक स्थान पर भी इनमें भाव-साम्य नहीं है। देव जैसे कवि के ग्रन्थों में भावसाम्य का न होना असम्भव ही प्रतीत होता है, उनकी कोई भी रचना ऐसी नहीं है जिसमें छंदों का उलट-फेर न हो। अब हिन्दी की रचनाओं को लीजिए। दीक्षित जी के पास 'बखत-विलास' की जो प्रति मौजूद है वह संवत् १८३१ की है और उस पर देव नाम अंकित है: "इतिश्रीमद्दीक्षितदेवदत्तविरचितो बखतविलासाख्यो ग्रन्थो समाप्तः"। दीक्षित देवदत्त कवि ने उसे गोहद के राणा बखतसिंह के विनोदार्थ लिखा था। परन्तु मिश्रबन्धुओं ने जिस बखतविलास का उल्लेख किया है वह आज भी कुसमरा में पं० मातादीन जी के पास सुरक्षित है। मैंने स्वयं उस ग्रन्थ को आरम्भ से अंत तक पढा है। वह न तो देवदत्त

दीक्षित का लिखा हुआ है और न गोहद के बखतसिंह के विनोदार्थ ही रचा गया था। वह निश्चित ही राजगढ के राजा बखतावरसिंह के लिये देव के प्रपौत्र भोगीलाल द्वारा संवत् १८५७ में लिखा गया था —

"उदित उदारो सिरदारौ लोभ धारो कलि देखि अविचारो करतारो हिय धर को।
संपति बहाल भोगीलाल भाल दीननि कैं लिखौं जो विलास सो करैगो कौन धर को।
ह्वै रह्यो उदास तौलौं देखौ आस-पास जस प्रगट प्रकास ज्यों सुबास सुरवर को।
छोडि के अंदेस विधि बानो गह्यो बेस बखतावर-नरेश के भरोसो जानि कर को।

दो०—एक एक तैं अधिक हैं गढ अनेक अवनीस।
तिनमें राजत राजगढ राजत बिस्वाबीस॥

❀ ❀ ❀

"इति श्री कछवाह-कुल-भूषण नरुका (?) श्री रावराजा बखतावरसिंह-आनन्दकृते कविभोगीलालविरचिते बखतविलासे मंगलारम्भ राजकवि कुल-वर्णनं प्रथम-विलासः"—इसके अतिरिक्त दीक्षित जी वाले बखत-विलास की कविता भी उनके मत के प्रतिकूल पड़ती है। निम्नलिखित दोहे भोगीलालकृत बखतविलास में कहीं नहीं मिलते है। —भोगीलाल स्वयं सत्कवि थे उनके काव्य का धरातल इनसे कहीं ऊंचा है।—

इक कर कुच इक नीवि गहि परी बखत पिय पास।
सोवत कै जागत पिया, भूली पिय बिसवास॥

❀ ❀ ❀

कहा करौं बखतेस बिनु, छाती कँपै निदान।
निस कारी निसि सी घटा, चढी प्रबल असमान॥
बखत रिझावन तिय चली, हिय सजि बैन रसाल।
तन सजि भूषण को अधिक, सोही दीधित काल॥

❀ ❀ ❀

सकल तियनु ते बखत पिउ, उर में बसत निदान,
प्यारी किमि रस अधिक दै, छुई प्रेम विज्ञान।

तात्पर्य यह है कि दीक्षित जी के पास सुरक्षित 'बखतविलास' और मातादीन के पास रखा हुआ 'बखत-विलास' एक नहीं है। दीक्षित जी ने दूसरे ग्रन्थ को बिना देखे ही दोनों को एक मान लिया। इसी प्रकार 'बखत-शतक' के भी कुछ दोहे लीजिये :—

सरवस में बखतेश को, कौन वस्तु प्रिय आहि।
याही में सो पाइये, देखो चित्त लगाहि॥

❀ ❀ ❀

कुच मांगे उरु देत तिय, उरु मांगे कुच देइ।
रति मांगे न देति है, बखतसिंह, हां लेइ॥

❀ ❀ ❀

क्यों सिसकै मसि केहि क्यों, मसि के ना रस लेइ।
मसि के मिसु रसु बरसि है, बखत सिसिकि कें देइ॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त दोहे देव-काव्य के धरातल से बहुत ही नीचे हैं और फिर ये दोनों ग्रन्थ देव ने क्रमशः १०१ और १०५ की आयु में लिखे बताये जाते हैं। एक तो जगद्दर्शन, तत्वदर्शन और आत्मदर्शन के छंदों की रचना करने के उपरान्त ऐसे घोर शृंगारिक दोहों की रचना कवि ने इतनी आयु में की होगी—इसमें ही संदेह हो सकता है, दूसरे इन दोहों की शैली और काव्य-सामग्री दोनों ही देवोचित नहीं हैं। इतनी हलकी कविता देव ने कभी नहीं की। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया था, देव की कविता अनुभूति और अभिव्यक्ति की दृष्टि से निरन्तर गंभीर एवं प्रौढ होती गई थी—अतएव सौ वर्ष की आयु पार करने पर उन्होने इतने छिछले छंद लिखे होंगे यह अकल्पनीय है। यही बात संवत् १६३६ में रचे गए माधवगीत और संवत् १६४६ में रची गई वृत्तमंजरी के विषय में भी कही जा सकती है। उनके उदाहरण दीक्षित जी ने अपनी भूमिका मे दिये हैं। अतएव हमारा निर्णय तो निश्चित-रूप से यही है कि ये ग्रन्थ दूसरे देवदत्त कवि की ही रचना है। ये कवि देवदत्त अपने को दीक्षित लिखते थे। अपने ग्रन्थो के अंत में उन्होंने श्रीमद्दीक्षित देवदत्त लिखा है—जब कि हमारे आलोच्य देव ने किसी ग्रन्थ में भी दीक्षित पद का उल्लेख नही किया। [द्विवेदी कान्यकुब्जों में दीक्षित होते भी हों तो भी हमारी युक्ति खण्डित नहीं होती, क्योंकि हम तो केवल यही कहना चाहते हैं कि प्रसिद्ध कवि देव अपने को दीक्षित नही लिखते थे।] दुर्भाग्य से दीक्षित जी की अभी अभी मृत्यु हो गई है उनके पुत्र पं० उमेशचन्द्र दीक्षित से भी हमे ये ग्रन्थ प्राप्त नही हो पाये। अतएव हम उनसे मिलकर इस विषय में अधिक विचार-विनिमय करने मे असमर्थ हैं। परन्तु हम अपने पक्ष में उपर्युक्त तर्कों के अतिरिक्त देव के विशेषज्ञ श्री मिश्रबन्धु एवं पं० कृष्णविहारी जी की साक्षी भी उपस्थित कर सकते हैं। वे भी इन ग्रन्थो को प्रस्तुत कवि देव की रचना नही मानते।

देव के ग्रन्थों की संख्या—

इस प्रकार देव के प्राप्य ग्रन्थ अभी तक १८, १६ ही हैं—अप्राप्य ग्रन्थ जो अनुमानतः विश्वसनीय प्रतीत होते हैं लगभग ११ हैं, जिनके अंतर्गत ब्रजराज जी, तथा पं० बालदत्त जी के साक्ष्य, नागरीप्रचारिणी की खोज, सुखसागरतरंग में संकलित सामग्री के परीक्षण, शिवसिंह सेंगर के उल्लेख और देव के एवाध ग्रन्थ मे दिये हुए संकेतो के आधार पर अनुमानित अथवा स्वीकृत सभी ग्रन्थों का समावेश हो जाता है। इनके अतिरिक्त भी कुछ ग्रन्थ देव ने और लिखे होंगे, यह कल्पना सुखसागर-तरंग को पढ़कर अवश्य की जा सकती है।—फिर भी कुल संख्या ५२ या उससे भी २० अधिक ७२ तक पहुँची होगी ऐसी धारणा कम ही बँधती है क्योंकि देव पर पिछले ५० वर्ष से खोज हो रही है,—पर जयपुर, बुन्देलखण्ड (टीकमगढ़), दतिया, इटावा, कुसमरा, पिहानी, और पूर्व यू. पी. के विभिन्न स्थानो पर संगृहीत ग्रन्थों की संख्या १६ से अधिक नहीं हो पाई। अतएव यही संभावना अधिक है कि लोगों ने शायद तीनों चारो देव कवियों के ग्रन्थो को पृथक् न कर—उनको एक ही कवि की कृतियाँ मानकर उनकी संख्या ५२ तक पहुँचा दी थी और शिवसिंह ने इसी जनश्रुति को प्रमाण मान कर उसे शब्द-बद्ध कर दिया।

———

देव की कविता के विभिन्न पक्ष

रीतिकाल का विवेचन करते हुए हमने उसकी दो मूल प्रवृत्तियाँ निर्धारित की थीं—१. शृंगारिकता २. आचार्यत्व। देव की कविता में इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरी प्रवृत्ति भी आरम्भ से ही मिलती है—वह है वैराग्य-भावना। इस प्रकार उनके काव्य के स्पष्टतः तीन पक्ष हैं :—

१. राग अथवा शृंगारिक पक्ष।
२. विराग अथवा दार्शनिक पक्ष।
३. रीति अथवा आचार्य पक्ष।

रीतिकाल के अन्य कवियों में शृंगारिकता और रीति-निरूपण प्रायः अविभाज्य रूप में मिले हुए रहते हैं—परन्तु देव में ऐसा एक विशेष सीमा तक ही है—उनके काव्य के तीनों पक्ष प्रायः पृथक् और स्पष्ट हैं। राग अथवा शृंगारिक पक्ष के अन्तर्गत उनके काव्य का अधिकांश—साधारणतः अष्टयाम, जाति-विलास, रस-विलास, सुजान-विनोद, सुखसागरतरंग-संग्रह और विशेषतः प्रेम-चन्द्रिका और प्रेम-पचीसी आते हैं। भाव-विलास, भवानी-विलास में शृंगारिक प्रवृत्ति के अतिरिक्त रीति-निरूपण को भी यथेष्ट महत्व दिया गया है, अतएव इनकी दोनों पक्षों के अंतर्गत गणना होगी। विराग अथवा दार्शनिक पक्ष के अंतर्गत देव-माया-प्रपंच और जगद्दर्शन-पच्चीसी, आत्मदर्शन-पच्चीसी, तथा तत्व-दर्शन-पच्चीसी का नाम आता है। देव-चरित्र की स्थिति मध्यवर्ती है। देव की रस-दृष्टि देव-चरित्र पर स्थिर होती हुई—दर्शन की ओर प्रवृत्त हुई है। देव काव्य का आचार्य या रीति-पक्ष साधारणतः भाव-विलास और भवानी-विलास में तथा विशेषकर शब्द-रसायन में प्रस्फुटित हुआ है।

———

देव की श्रृंगार कविता

श्रृंगार का स्वरूप :—

शास्त्रीय विवेचन :— श्रृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तम-प्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते। (साहित्य-दर्पण)

श्रृंग का अर्थ है कामोद्रेक—उसके आगमन अर्थात् उत्पत्ति का कारण श्रृंगार कहलाता है। उत्तम प्रकृति का ही कामोद्रेक श्रृंगार कहलाता है, अर्थात् ऐन्द्रिय वासना-युक्त कामोद्रेक जिसमें शारीरिकता का ही प्राधान्य हो श्रृंगार के अन्तर्गत नहीं आ सकता। इसके आलम्बन है—नायक-नायिका; उद्दीपन हैं सखी, मंडन, परिहास आदि अथवा षट्-ऋतु, वन, उपवन, चन्द्र आदि; अनुराग-पूर्ण भृकुटि-भंग, हाव-भाव आदि अनुभाव हैं, आलस्य, मरण, उग्रता तथा जुगुप्सा को छोड अन्य निर्वेद :—असूया धृति आदि सभी संचारी हैं, और स्थायी भाव रति है। रति का अर्थ है मनोनुकूल वस्तु मे सुख प्राप्त होने का ज्ञान—अथवा प्रिय वस्तु के प्रति मन के उन्मुख होने का भाव—नायक और नायिका का पारस्परिक अनुराग—प्रेम !

'रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।'

इस प्रकार शास्त्र के अनुसार स्त्री पुरुष के हृदय मे एक दूसरे के प्रति एक सहज आकर्षण-'उन्मुखीभाव' वर्तमान रहता है जो अनुकूल परिस्थिति मे उद्बुद्ध होकर विशेष मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त होता है- इसे ही श्रृंगार या प्रेम कहते हैं।

मनोवैज्ञानिक विवेचन—संस्कृत साहित्य-शास्त्र का उपर्युक्त विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान के विवेचन से तत्वतः भिन्न नहीं है। मनोविज्ञान के अनुसार 'भाव'—किसी वासना (सहज प्रवृत्ति) के चारों ओर केन्द्रित मनोविकार है [Emotion is the feeling centred round an instinct] जीवन की एक प्रमुख वासना है काम—मिलनेच्छा। काम पर आश्रित मनोविकार ही श्रृंगार या रति है। प्रत्येक भाव के दो पक्ष होते है एक मानसिक दूसरा शारीरिक। मानसिक पक्ष के अंतर्गत आत्म-चेतना—[अर्थात् मैं अमुक परिस्थिति मैं हूँ, इस चेतना पर मन की सम्पूर्ण वृत्तियों का केन्द्रित हो जाना] के अतिरिक्त जो वास्तव में भाव की केन्द्रीय चेतना है, तीन तथ्य विचारणीय हैं :—

(१) भाव का कारण—व्यक्ति वस्तु अथवा परिस्थिति—जिसे साहित्य-शास्त्र में आलम्बन कहा गया है।

(२) भाव का अनुभूत्यात्मक रूप—जो सुखमय, दुखमय अथवा मिश्र हो सकता है।

(३) विभिन्न परिवर्तित भाव-रूप जो उसके विकास का सहचरण करते हैं। ये ही वास्तव में साहित्य के संचारी हैं।

शारीरिक पक्ष में :—

(१) ऐन्द्रिय संवेदनाएँ—जो सात्विक भावों से अधिक भिन्न नहीं हैं।

(२) बाह्य शारीरिक चेष्टाएँ—जिन्हें साहित्य मे 'अनुभाव' कहते हैं।

शृंगार या रति का कारण—अर्थात् आलम्बन है स्त्री अथवा पुरुष (नायक-नायिका), अनुभूति मूलतः सुखद है [इसीलिए विश्वनाथ ने शृंगार को सत्प्रकृति कहा है], परिवर्तित भाव-रूप असूया, हर्ष, आदि हैं; ऐन्द्रिय संवेदनाएँ रोमांच, स्वरभंग, विवर्णता, स्वेद-अश्रु आदि हैं— और शारीरिक चेष्टाएँ हैं स्मिति, कटाक्ष, चुम्बन, आलिंगन आदि।—मनोविज्ञान की दृष्टि से रति काम पर आश्रित भाव-विशेष है, [और काम अर्थात मिलनेच्छा पर आश्रित होने के कारण वह सहज ही एक प्रकार का उन्मुखी भाव है—रागात्मक भाव है] जो हर्ष, असूया, आदि सहचारी भावों को जन्म देकर उनसे पुष्ट होता हुआ रोमांच, स्वरभंग, आदि सूक्ष्म ऐन्द्रिय संवेदनों और स्मिति, कटाक्ष, चुम्बन, आलिंगन, रति आदि स्थूल शारीरिक क्रियाओं में अभिव्यक्त होता है। मनोविश्लेषण मे इसी तथ्य को थोड़े भिन्न शब्दों में कहा गया है। यहाँ जीव की मूल वृत्ति मानी गयी है काम (Libido); प्रेम इसी मूल वृत्ति का एक परिमित अंश है जो दमन और कुण्ठाओं के प्रभाव-वश विभिन्न मार्गों में प्रेरित होता रहता है।

आध्यात्मिक विवेचन :—शृंगार अथवा रति की आध्यात्मिक व्याख्या भी पौरस्त्य और पाश्चात्य दर्शनों में की गई है। भारतीय अध्यात्म के अनुसार विश्व की एकमात्र सत्ता है ब्रह्म अथवा पुरुष जो मायावश अपने को दो रूपों में विभक्त कर लेता है—ये दो रूप हैं जीव तथा प्रकृति, या आत्म और अनात्म। भारतीय दर्शन का आरम्भ आत्म और अनात्म के पृथक्करण से होता है। आत्म का स्वभाव है अपना विस्तार करना, वास्तव में आत्म का अनात्म में विस्तार—अथवा यों कहिए कि आत्म का अनात्म को अधिकृत करने का प्रयत्न ही जीवन है। क्योंकि आत्म सक्रिय है और अनात्म निष्क्रिय, इसलिए भारतीय दार्शनिकों ने आत्म को पुरुष और अनात्म को नारी रूप में देखा है। पुरुष रूप आत्म अपना विस्तार कई क्रियाओं द्वारा करता है, इनमें सबसे मुख्य है प्रजनन। अतएव प्रजनन के लिए वह नारी रूप अनात्म के संग की कामना करता है। 'एकाकी नारमत आत्मानं द्वेधापातयत्, ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।' अर्थात एक में वह नहीं रमा, पति और

पत्नी के रूप में उसने अपने दो भेद कर लिए (वेदोपनिषद्)। लौकिक शृंगार इसी आध्यात्मिक क्रिया का प्रतिबिम्ब है। उसकी तीव्रता आत्म-विस्तार की इच्छा की तीव्रता है, उसका सुख आत्म-विस्तार का ही सुख है। भक्ति सम्प्रदायों में राधा-कृष्ण—अथवा गोपियों तथा कृष्ण के शृंगार की इसी आधार पर व्याख्या की गई है। रूपक को अलग कर यह कहा जा सकता है कि जीवन की मूल वृत्ति है आत्म-विस्तार, आत्म-विस्तार की प्राथमिक क्रिया है प्रजनन (Pro-creation) प्रजनन के द्वारा आत्म अनात्म को अधिकृत कर अपने विस्तार का ही तो प्रयत्न करता है। आत्म-विस्तार के इसी मूल-गत प्रयत्न—प्रजनन का सहकारी भाव शृंगार या रति है।

वैज्ञानिक विवेचन—काम-शास्त्र तथा जीव-विज्ञान में जो प्रेम का विवेचन किया गया है, उसका आधार भी तत्वतः उपर्युक्त सिद्धान्त से भिन्न नहीं है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष का शरीर कीटाणुमय कोष्ठकों (cells) से बना हुआ है—इनमें कुछ प्रेरक और कुछ ग्राहक होते है। मनुष्य की जीवनी-शक्ति का मूल कारण ये ही कीटाणु-युक्त कोष्ठक हैं। शरीर-निर्माण की कुछ अवस्था तक दोनों प्रकार के कीटाणु वर्तमान रहते हैं, परन्तु कुछ समय के उपरान्त उनमें से एक की संख्या कम होती, और दूसरी की बढ़ती चली जाती है। बस तभी से योनि-निर्णय हो जाता है। पुरुष-कीटाणु प्रेरक (katabolic) होते हैं, स्त्री-कीटाणु संग्राहक एवं ग्राहक (anabolic) होते है—उन्हीं के अनुपात के अनुसार लगभग छः सप्ताह के उपरांत बालक-पिण्ड में पुरुष स्त्री का योनि-भेद हो जाता है। प्रकृति का एक मात्र सत्य है सृजन; उसकी समस्त क्रियायें एक इसी उद्देश्य की प्रेरणा से हो रही है। इसी नियम के अनुसार पुरुष और स्त्री के कीटाणु स्वभावतः एक दूसरे के पूरक रूप हैं—एक दूसरे से मिलने की उनमे सहज प्रवृत्ति वर्तमान है। सर्जन की प्रेरणा से इन्हीं दोनों पूरक कीटाणुओं का पारस्परिक आकर्षण पुरुष और नारी के चिर-रहस्मय प्रेम का आख्यान है। हृदय के जिस पवित्र भाव को अनादि काल से मनुष्य अध्यात्म और काव्य के अनेक आवरण मे लपेट कर रखता आया है—आज के जीव-विज्ञानी के लिये उसकी कहानी कितनी संक्षिप्त है।

शृङ्गार रस का महत्व :—साहित्य मे आरम्भ से ही शृंगार-रस को सबसे अधिक महत्व मिला है। आदि आचार्य भरत के शब्दों में—'यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते।' अर्थात् संसार मे जो कुछ पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल और दर्शनीय है वही शृंगार है। भरत के उपरान्त लगभग सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में उसके महत्व को स्वीकृत किया है। अग्नि-पुराण में उसका गौरव-गान है—भोज ने शृंगार-प्रकाश में शृंगार को ही एक-

मात्र रस मानते हुए उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा की है। हिन्दी के लगभग सभी आचार्यों ने एक स्वर से उसे रस-राज माना है।—इसके अतिरिक्त संसार के साहित्य का वृहदंश शृंगार से ही अनुप्राणित है।

संस्कृत-हिन्दी तथा विदेश के साहित्य-शास्त्रों में इस प्रसंग का विस्तृत विवेचन किया गया है जिसका सारांश इस प्रकार है—

उत्तमता—उत्तमता की दृष्टि से शृंगाररस सर्व-श्रेष्ठ है। शृंगार का स्थायी भाव रति अथवा प्रेम है। आध्यात्मिक दृष्टि से स्त्री-पुरुष का प्रेम प्रकृति और पुरुष की प्रणयलीला का प्रतिबिम्ब है। वह सृष्टि-विकास की अनिवार्य्य आवश्यकता है। जीवन की स्फूर्ति, सद्प्रेरणाएं, भक्ति और धर्म, साहित्य और कला सभी के मूल में प्रेम की प्रेरणा है। जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप अहंकार है। और अहंकार का सबसे अमोघ उपचार है प्रेम, जिसके सत्प्रभाव से मनुष्य मृत्यु की भीति से विचलित नहीं होता। मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रेम मे मनोवृत्तियों के समीकरण की अद्वितीय शक्ति है, इस कारण वह आनन्द का पर्याय है। जीवन की आत्माथिंनी (Egoistic) और पराथिंनी (Altruistic) वृत्तियो का इतना पूर्ण समन्वय किसी अन्य मनोदशा मे सम्भव नहीं है।

मौलिकता और गम्भीरता—भारतीय-दर्शन के अनुसार जीव की दो मौलिक प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं: राग और द्वेष। इनमें वास्तव में द्वेष, राग का वैपरीत्य ही है- स्वतन्त्र वृत्ति नहीं है। इस प्रकार जीवन की मौलिक-वृत्ति राग अथवा रति ही है। विदेश मे भी प्रसिद्ध मनस्तत्ववेत्ता फ्रायड का मत बिल्कुल यही है। उसके मतानुसार भी जीवन की दो मूल वृत्तियां हैं: एक जीवन की ओर उन्मुख है, दूसरी विनाश की ओर। ये दोनों वृत्तियां इरॉश और थेनैटॉस (Eros and Thanatos) भी वास्तव में राग और द्वेष की ही पर्याय हैं। इन दोनो में भी पहली—अर्थात् इरॉस या राग ही मूल वृत्ति है। विनाश तो जीवन का वैपरीत्य-मात्र है। इसी रागात्मक वृत्ति को वहाँ लिबिडो या काम कहा गया है, और फ्रायड आदि मनस्तत्व के आचार्य्यों ने उसको जीवन की संचालिका वृत्ति माना है। भारतीय-दर्शन में भी काम की ऐसी ही महिमा कही गई है।

"काममय एवायं पुरुषः"—वेद।
त्रिवृद् ब्रह्म ततो विश्वं कामश्चेच्छा त्रयं कृतम्
स्पन्दोऽपशक्यो यं मुक्त्वा कामः संकल्प एवाह।
(शिव-पुराण, धर्म संहिता, अ० ८)

काम ही संकल्प है जिसके बिना कोई भी स्पन्दन सम्भव नहीं है। काम से ही यह विश्व उत्पन्न हुआ है।

श्रोत्र त्वक् चक्षुः जिह्वा घ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनसाधिष्ठितानाम् स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यान्तःप्रवृत्तिः कामः। (कामसूत्र १, २। वात्स्यायन)

कान, त्वचा, आंख, जिह्वा और नासिका—ये पाँचों इन्द्रियाँ—अपने अपने कार्यों मे मन की प्रेरणा के अनुसार काम के द्वारा ही प्रवृत्त होती हैं।

गांभीर्य्य और तीव्रता के विचार से भी शृंगार-भावना का ही स्थान सर्वोच्च है। जीवन की मूल-वृत्ति होने के कारण वह स्वभावतः ही सब से अधिक गंभीर-वृत्ति भी है। उसके द्वारा जीवन में गहनतम परिवर्तन हो जाते हैं, जीवन की कोई भी मनोदशा इतनी स्थायी नही होती। मन स्वभाव से ही चंचल है, परन्तु प्रेम के वशीभूत होकर उसमें असाधारण एकाग्रता आ जाती है। सम्पूर्ण आत्म-निलय प्रेम में ही सम्भव है, अतएव प्रेम मे अन्य भावनाओं की अपेक्षा तीव्रता भी अधिक है।

व्यापकता :—अन्य रसो एवं भावों की अपेक्षा शृंगार की परिधि भी अत्यधिक व्यापक है। मानव-हृदय के दोनों प्रकार के भाव—सुखात्मक एवं दुःखात्मक इसके अंतर्भूत हो जाते हैं। प्रेमार्द्र मन में जीवन की प्रत्येक वस्तु के प्रति द्रवित होने की शक्ति आ जाती है। प्रेम मे सभी कुछ प्रिय लगता है। शृंगार का परिधि-विस्तार मानव-हृदय तक ही सीमित न होकर पशु-पक्षी, तथा लता-गुल्मो तक फैला हुआ है। वनस्पति जगत् का यौवन, उनका प्रस्फुटन, एक निश्चेतन क्रिया नहीं है, उसमें स्पष्ट रूप से उत्पादन की प्रेरणा है। पशु-पक्षियों का प्रेम तो मानव-प्रेम के लिए उपमान बन गया है। सिंह का स्वकीया-भाव, कपोत का गार्हस्थ्य, मयूर का प्रेम-विभोर नृत्य, सारस की मृत्यु-भेदी अतल अनुरक्ति आदि काल से प्रेम के प्रतीक रूप में प्रयुक्त होते आ रहे हैं। शास्त्र के अनुसार भी शृंगार का क्षेत्र सब से अधिक व्यापक है ; इसके संचारियो की संख्या सभी से अत्यधिक है; केवल ४ संचारी ही ऐसे हैं, जो इसको पुष्ट करने में असमर्थ हैं। अनुभाव भी प्रेम के असंख्य हैं। सात्विक-भाव सभी इसके अंतर्गत आ जाते है। दश अवस्था और हाव-केवल शृंगार की ही संपत्ति हैं। इसके अतिरिक्त मित्र-रसो की संख्या भी इसकी ही सब से अधिक है। कुछ रस तो सहज रूप में ही इसके अंगी बन जाते हैं, शेष अमित्र रस भी समय अथवा आलम्बन के अंतराय से इसके साथ-साथ चल सकते हैं। केशव और देव आदि ने तो नौ रसो को ही शृंगार का अंग बना दिया है। वास्तव में जैसा कि भोजराज ने कहा है, हमारे सभी भाव हमारी अहंकार-वृत्ति के ही प्रोल्लास हैं। रस में जो आस्वादित होता है, वह यही अहंकार है। इसी को प्रवृत्ति अथवा रति कहते हैं—अतएव सभी रस शृंगार के अंतर्भूत हैं।

उपर्युक्त युक्तियों में थोड़ा अतिवाद हो सकता है, परन्तु शृंगार की महत्व-

स्वीकृति में आपत्ति किसे हो सकती है। वास्तव में हमारा समस्त जीवन राग पर स्थित है। हमारी कलाएं—हमारा साहित्य जीवन की—और स्पष्ट शब्दों में—हमारी रागात्मक प्रवृत्ति की ही अभिव्यक्ति है, और यह रागात्मक प्रवृत्ति काम-मूलक है। अतएव विश्व-साहित्य का अधिकांश शृंगारमय है।

शृंगार-रस के भेद—शृंगार के दो मूल भेद हैं—संयोग और वियोग। संयोग मे आश्रय आलम्बन का मिलन रहता है, अतएव वह सुखात्मक है। रूप-वर्णन अर्थात् नख-शिख एवं आभूषण-वर्णन, हाव-चित्रण, अष्टयाम, उपवन उद्यान जलाशय आदि के क्रीड़ा-विलास, परिहास-विनोद, इसके अंतर्गत आते हैं। वियोग में प्रेमी-प्रेमिका का विच्छेद रहता है, अतएव स्वभावतः वह दुःखात्मक है। उसके चार भेद हैं:—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। पूर्वराग संयोग से पहले उत्पन्न होने वाली प्रणय की आकुलता है। मान, किसी अपराध के कारण (प्रायः) नायिका के रूठ जाने को कहते हैं, (हिन्दी कवियो ने नायक का रूठ जाना भी वर्णित किया है); प्रवास में नायक का विदेश-गमन होता है; करुण में किसी आधिदैविक अथवा अन्य प्रबल व्यवधान के कारण संयोग की आशा अत्यन्त क्षीण अथवा नष्टप्राय हो जाती है। वियोग के अंतर्गत कवियों में दश कामदशा, पत्र, दूती, बारहमासा आदि का वर्णन करने की परिपाटी है। षट्ऋतु का अंतर्भाव संयोग-वियोग दोनो मे हो सकता है।

भारतीय-साहित्य में शृंगार-भावना का विकास—मानव-शास्त्र के पंडितों का मत है कि आदिम-युग में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध सभी प्रकार के बन्धनों और नियन्त्रणों से मुक्त था। मानव अपनी समस्त जीवन-वृत्तियो को, जिनमें क्षुधा और काम मुख्य थीं, स्वच्छन्दता से तृप्त करता था। सामाजिक रीति-विधान तो उस समय था ही नहीं—परिवार के भी सदस्यों मे माता, बहिन और पुत्री का विवेक नही था। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वोलगा से गंगा' की पहली दो कहानियो मे आदिम मानव की इसी अवस्था का अत्यन्त सुंदर वर्णन किया है। उनका कहना है कि आदिम युग में समाज-विधान माता के द्वारा शासित था क्योंकि उस समय केवल मातृत्व ही निश्चित था, पितृत्व नहीं। माता अपने अधिकार का प्रयोग जीवन के अन्य उपकरणों के विशिष्ट उपभोग के लिए ही नही, वरन् सब से स्वस्थ और सुंदर पुत्र का अपने लिए वरण करने के लिए भी करती थी, उस युग में शृंगार-भावना एक शुद्ध शारीरिक आवश्यकता थी। किसी प्रकार की मनोग्रंथियां—चाहे वे नैतिक हों अथवा आध्यात्मिक, उसमें बाधक नहीं थीं। वैदिक काल तक आते आते मानव-सभ्यता काफ़ी मंज़िल तै कर चुकी थी। समाज-विधान बनकर व्यवस्थित हो चुका था। मानव के अन्य कर्मों की भांति स्त्री-पुरुष

का सम्बन्ध भी सामाजिक नियमों द्वारा नियंत्रित था। विवाह-संस्था का अपने पूर्ण व्यवस्थित रूप मे स्थापन हो गया था। समान गुण, कर्म, स्वभाव वाले युवक और युवती उचित अवस्था को प्राप्त होने के उपरांत विद्वानों और वयोवृद्ध कुल-पुरुषो के समक्ष एक दूसरे का वरण करते थे। यह वरण केवल कुल को ही नहीं, वरन् गोत्र को छोड़कर भी प्रायः दूर-स्थित स्त्री-पुरुषो के बीच ही होता था—जैसा कि दुहिता की निरुक्त-कृत व्युत्पत्ति से स्पष्ट है, और इसका मूल उद्देश्य होता था सन्तान द्वारा कुलवृद्धि करना—"ओं अमोऽमस्मि सा त्व ँ सा त्वमस्यमोऽहम् सामाहामस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टयः संप्रियौ रोचिष्णु सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत ँ श्रृणुयाम शरदः शतम्।"—अर्थात् हे वधू! जैसे ज्ञानवान् मै ज्ञानपूर्वक तेरा ग्रहण करता हूँ वैसे तू भी ज्ञानपूर्वक मेरा ग्रहण करती है। मैं सामवेद तुल्य हूँ, तू ऋग्वेद के तुल्य है। तू पृथ्वी के समान है, और मैं सूर्य्य के समान हूँ। वे तू और मैं दोनो ही प्रसन्नता-पूर्वक विवाह करें, साथ मिलकर वीर्य्य धारण करें, उत्तम संतति उत्पन्न करें, बहुत से पुत्र उत्पन्न करें। वे पुत्र चिरायु हो। एक दूसरे के प्रति प्रीतिभाव रखने वाले, एक दूसरे मे रुचि रखने वाले, अच्छी तरह विचार करते हुए सौ वर्ष तक एक दूसरे को प्रेम की दृष्टि से देखते रहे। सौ वर्ष पर्य्यंत आनन्द से जीवित रहे—और सौ वर्ष पर्य्यन्त प्रिय वचनो को सुनते रहें।

इस प्रकार वैदिक काल में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध शारीरिक आवश्यकता मात्र न रहकर नैतिक एवं धार्मिक कर्तव्य बन गया था। शृंगार-भावना नीति और धर्म के नियमो द्वारा अनुशासित हो चली थी।

इसके उपरांत महाकाव्यो का युग आता है—रामायण और महाभारत इस युग की सृष्टि हैं। रामायण में नीति के बधंन अत्यन्त दृढ़ हो गए थ। विवाह-संस्था के साथ इस समय स्वकीया भाव का महत्व भी अनिवार्य हो गया था। स्त्री-पुरुषो की वरण-सम्बन्धी स्वतंत्रता कम हो चली थी। विशेषकर स्त्री वरण मे स्वतंत्र नहीं रह गई थी। यद्यपि स्वयंवर-प्रथा अब भी प्रचलित थी, पर स्त्री के गुरुजन ही उसके योग्य पुरुष का चुनाव करते थे। भारतीय ही नहीं—योरोप आदि के महाकाव्यो मे भी एक बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से मिलती है. वह यह कि उनमे शृंगार-भावना का महत्व सर्वत्र गौण रहा है। उनका मुख्य विषय रहा है सामूहिक जीवन; मर्यादा-पुरुषोत्तम राम सामूहिक जीवन के ही प्रतीक हैं। अतएव रामायण का मूल उद्देश्य धर्म है। सीता-राम का विवाह प्रेम के लिए नहीं होता—धर्माचरण के लिए होता है।

अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्धनम् ।
इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव ॥
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना ।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा ॥

(बालकाण्ड)

कौसल्यापुत्र रामचन्द्र से राजा जनक बोले—"यह सीता मेरी कन्या है, और तुम्हारे साथ धर्माचरण करने के लिये तुम्हें दी जाती है। इसका तुम ग्रहण करो, तुम्हारा कल्याण हो, इसका हाथ अपने हाथ में लो, यह पतिव्रता और तुम्हारी छाया के समान होगी।" रावण सीता का हरण अपने प्रेम की पूर्ति के लिए नहीं करता, वरन् बहिन के अपमान का प्रतिशोध करने के लिये—धर्म के निमित्त करता है। [काम की किंचित् प्रमुखता हमें केवल दशरथ-केकयी सम्बन्ध में मिलती है, परन्तु सम्पूर्ण रामायण में उसकी भर्त्सना की गई है। एक प्रकार से रामायण की करुणा का बीज ही वाल्मीकि ने इसी तथ्य को बनाया है।]—सीता-हरण के उपरांत राम का विलाप विप्रलम्भ शृंगार का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। रस का परिपाक वहां अत्यन्त पुष्ट और गम्भीर है, परन्तु उस विलाप में भी स्थान स्थान पर ऐसा लगता है जैसे राम का प्रेम ही नहीं, उनका धर्म भी आहत होकर रो रहा है। वे बार बार यही सोचते हैं—

कथं नाम प्रवेक्ष्यामि शून्यमन्तःपुरं मम ।
निर्वीर्य इति लोको माम् निर्दयश्चेति वक्ष्यति ॥
कातरत्वं प्रकाशं हि सीतापनयनेन मे ।
निवृत्तवनवासश्च जनकं मिथिलाधिपम् ॥
कुशलं परिपृच्छन्तं कथं शक्ये निरीक्षितुम् ।
विदेहराजो नूनं मां दृष्ट्वा विरहितं तया ॥
सुता-विनाशसंतप्तो मोहस्य वशमेष्यति ।
अथवा न गमिष्यामि पुरीं भरत-पालिताम् ॥

(अरण्य-काण्ड)

अर्थात् सीता के बिना मैं शून्य अंतःपुर में कैसे प्रवेश करूंगा। लोग मुझे निर्वीर्य और निर्दय कहेंगे। सीता के नष्ट हो जाने पर मेरी अधीरता प्रकाशित हो जायेगी। वनवास से लौटने पर मिथिलाधिप राजा जनक जब मुझसे कुशल पूछेंगे तब मैं उनकी ओर कैसे देखूंगा।—इत्यादि।

महाभारत में आकर नीति-बंधन बहुत कुछ शिथिल हो गये हैं, परन्तु उसमें भी मूल वृत्ति धर्म ही है काम नहीं। वहां भी शृंगार-भावना स्पष्ट रूप से जीवन-

धर्म की अनुगामिनी है। तभी द्रौपदी पांच पतियों की भार्या हो सकती थी—तभी कुन्ती विभिन्न देवताओं से पुत्र के लिये याचना कर सकती थी। इस प्रकार महाकाव्यों में काम-भावना धर्म का एक अंग थी—उसका महत्व अपने में स्वतन्त्र नहीं था। वीर-तत्व का मिश्रण उसमें हो चला था। राम को सीता के लिये धनुष तोड़ना पड़ा था। अर्जुन को सीता के लिये मत्स्य-भेद करना पड़ा था। परन्तु फिर भी प्रमुखता शृङ्गार-भावना की नहीं थी—उसमें भी क्षात्र धर्म का ही प्राधान्य था। राम और अर्जुन दोनों में से किसी में भी पूर्वराग का उद्भव नहीं हुआ था। वे क्षात्र धर्म की प्रेरणा से ही शौर्य-परीक्षा में प्रविष्ट हुए थे, प्रेम की प्रेरणा से नहीं। इस दृष्टि से उनका दृष्टिकोण मध्ययुग के चरित-नायकों के दृष्टिकोण से भिन्न था।

चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर हर्ष-वर्धन और कुछ बाद तक का समय भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति के लिये सुवर्ण-काल था। यह भारतीय साहित्य के भी वैभव का युग था। रूप और रस की मधुर-कोमल भावनाओं से समृद्ध ललित काव्य की सृष्टि इसी युग मे हुई। कालिदास, भवभूति, बाण, श्रीहर्ष के काव्य गीति-वैभव से समृद्ध हैं। उन सभी मे अपनी विशेषताएं होते हुए भी गीत का लालित्य और लावण्य सर्व-सामान्य है। यह काव्य स्वीकृत रूप से शृंगार-काव्य हैं। शृंगार-भावना यहां अत्यन्त परिष्कृत और संस्कृत रूप में हमारे सामने आती है। शारीरिकता की उसमें स्वीकृति है, पर वह शरीर की प्रकृत भूख नहीं है, उसमें मन की कोमल सौन्दर्य-वृत्तियों को ही अधिक मूल्य दिया गया है। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध-वैभव और विलास के इस युग में, शरीर की आवश्यकता नहीं था, वह मन का विलास था, इसीलिये उसमे तीव्रता एवं उत्कटता के स्थान पर माधुर्य और मसृणता मिलती है। दुष्यन्त अथवा माधव, अथवा नल का विरह भी सरस-कोमल ही है। इसी प्रकार शकुन्तला, कादम्बरी, मालती आदि रस-सृष्टियां ही हैं, जिनमें मन की सौन्दर्य-चेतनायें मूर्तिमती हो गई हैं। वैभव से परितृप्त मन और कल्पना के शत शत रंगो के स्पर्श से इस शृंगार में भारतीय रोमानी-भाव का अतिशय परिष्कृत लावण्य मिलता है। शोभा, श्री, कान्ति और सुकुमारता का ऐसा अपूर्व मिश्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

इसके उपरांत मध्यकालीन वीर-गाथाओं का युग आता है। योरुप के मध्य युग की भांति यह भी सामन्तवाद के चरम विकास का युग था। इस युग में एक अनगढ़ अहंवाद का जन्म हुआ जो सामन्तवाद की मानसिक पक्ष था। अधिकार और आत्माभिमान इस अहंवाद की दो मूल वृत्तियां थीं। काम के क्षेत्र में प्रवेश पाकर इन्हीं दोनों में नारी ने वीरगाथाओं के शौर्याश्रित शृङ्गार (Chivalrous love)

को जन्म दिया। इस श्रृंगार में नारी के प्रति काम-चेतना के अतिरिक्त एक वत्सल भाव भी था। पुरुष की चिर-अधिकृत नारी एक ओर अपनी कोमलता में रक्षणीया बन गई थी, तो दूसरी ओर उसके शौर्य का पुरस्कार भी वही थी। 'None but the brave deserve the fair!'—'वीर ही सुन्दरी के अधिकारी हैं'—मध्य युग का यह सिद्धांत-वाक्य उसकी मनोवृत्ति का सहज परिचायक है। पृथ्वीराज रासो तथा अन्य वीर-गाथाओं के आधार-रस वीर और श्रृंगार ही हैं। इस युग मे आकर इन दोनों में पोषक और पोष्य का सम्बन्ध स्थापित हो गया है। वैसे तो प्रायः वीर पोष्य और श्रृंगार पोषक है, परन्तु कही कही यह क्रम उलट भी जाता है, वीर पोषक और श्रृंगार पोष्य बन गया है। दूसरे शब्दों में, इन काव्यों में वर्णित युद्ध और विवाहों के बीच यही सम्बन्ध है। विवाह या तो युद्ध का परिणाम है—या कारण।

भारतीय साहित्य में वीर-गाथाओं की परम्परा लगभग २०० वर्ष तक चली। चौदहवीं शताब्दी के मध्य मे जब हिन्दू-शौर्य ने विजेता आक्रमणकारियों से हार मान कर निराशा के आँचल में मुँह छिपा लिया, तो स्वभावतः ही उनका युग समाप्त हो गया और पराजय तथा निराशा के अवसाद में से भक्ति का जन्म हुआ। अध्यात्म अथवा परोक्ष-प्रेम भौतिक जीवन की विफलता का ही दूसरा रूप है। इस जीवन मे अभिव्यक्ति न पाकर पराजित हृदय की वृत्तियाँ उस जीवन की ओर मुड़ीं, नर से त्रस्त होकर उन्होंने नारायण को अपना लक्ष्य बनाया। सारा देश भक्ति—अपार्थिव प्रेम के मद में झूम उठा। विजित हिन्दू और विजेता मुसलमान दोनों ही उसमे विभोर हो उठे। वैसे तो भक्ति अथवा अपार्थिव प्रेम के सभी रूप—अनन्य, दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य—राग अथवा रतिमूलक होने के कारण श्रृंगार के अन्तर्गत आते हैं, परन्तु यहां केवल दाम्पत्य या माधुर्य से ही हम को प्रयोजन है क्योंकि श्रृंगार का वास्तविक रूप वही है। इस दृष्टि से भक्ति-युग में भागवत, गीतगोविन्द और सूफ़ी धर्म से प्रभावित, विद्यापति, मीरा, जायसी और सूर ही श्रृंगार-भाव का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस युग का श्रृंगार अपार्थिव श्रृंगार है—अर्थात् उसका आलम्बन मनुष्य न होकर भगवान् हैं। इस अपार्थिव श्रृंगार का अपना शास्त्र और अपना दर्शन है परन्तु मनोविज्ञान पार्थिव और अपार्थिव श्रृंगार मे कोई मौलिक भेद नहीं करता—इसका एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि भक्ति श्रृंगार का प्रमुख शास्त्र-ग्रंथ उज्ज्वल नीलमणि मूलतः लौकिक श्रृंगार के आधार पर ही रचा गया है। उसके भेद-प्रभेद आलम्बन-उद्दीपन आदि का विवेचन साहित्य-शास्त्र के आधार पर ही किया गया है। शास्त्र में देव-विषयक श्रृंगार को उज्ज्वल रस कहा गया

है। इसका स्थायी भाव है भक्ति या कृष्ण के प्रति रति; आलम्बन हैं कृष्ण भगवान्; उद्दीपन हैं भागवत का श्रवण—रासलीला का अवलोकन आदि; अनुभाव हैं अश्रु रोमांच आदि; और संचारी हैं हर्ष, निर्वेद, औत्सुक्य आदि। वैष्णव दर्शन में इसे आदिरस कहा गया है, 'रसो वै सः' श्रुतिवाक्य प्रमाण है। भारतीय दर्शनों और उपर्युक्त भक्ति-शास्त्रों में भक्ति को भी एक मूल भाव माना गया है। उनका मत है कि आत्मा परमात्मा के प्रति एक सहज रागात्मक भावना का अनुभव करती है, यही भक्ति है। परमात्मा आत्मा का प्राण है, माया का प्रभाव कम होते ही वह उससे मिलने के लिए विकल होने लगती है। यह भाव ही जीवन का परम भाव है—यही अध्यात्म है। इसी भावना को वैष्णव साहित्य में दाम्पत्य अथवा माधुर्य्य के रूपक द्वारा शतशत प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है। आत्मा की सत्ता को मान कर चलने वाले भारतीय दर्शन और भारतीय भक्तिशास्त्रों के लिए तो इस अपार्थिव प्रेम की व्याख्या सरल और सुलभ है—उसके लिए तो जिस प्रकार मन की विभिन्न वृत्तियां प्रेम, शोक, भय आदि सत्य है, इसी प्रकार आत्मा की यह (आध्यात्मिक) प्रवृत्ति भी एकांत सत्य ही है। परन्तु आत्मा का पृथक् अस्तित्व न मानने वाला आज का मनोविज्ञान (जिसमे मनोविश्लेषण भी सम्मिलित है) इसको अपने सहज रूप मे स्वीकार नहीं कर सकता। वह उसे मन की वृत्तियों मे ही बांधने का प्रयत्न करेगा। इस विषय में पहली बात तो यही ज्ञातव्य है कि मनोविज्ञान भक्ति को मौलिक तथा अमिश्रित भाव नहीं मानता। वह मिश्र भाव है—जिसका आधार है रति (लौकिक अर्थ में ही)। परन्तु रति के आश्रय और आलम्बन दोनों ही पार्थिव होते हैं; यहां आलम्बन अपार्थिव है। इसलिए आलम्बन की अपार्थिवता का प्रभाव इस रति पर पड़कर उसमे थोड़ा मिश्रण, थोड़ा परिवर्तन कर देता है। जहाँ यह अपार्थिव आलम्बन निर्गुण है, अर्थात् केवल एक सत्य—एक विचार मात्र है, वहाँ उसके प्रति जिज्ञासा की भावना का रति में मिश्रण हो जाएगा; जहाँ यह आलम्बन सगुण और साकार है वहाँ उसके गुणों के अनुकूल (जो वास्तव में बुद्धि द्वारा ही आरोपित होते हैं) भय, विस्मय, कृतज्ञता आदि भावों का रति में सम्मिश्रण हो जायगा। इसीलिए निर्गुण का प्रेम कहलाता है रहस्यवाद—जो रति और जिज्ञासा के मिश्रण से बनता है; और सगुण का प्रेम अनन्य भक्ति, दास्य भक्ति, सख्य भक्ति, वात्सल्य भक्ति, दाम्पत्य या माधुर्य भक्ति, आदि अनेक रूप धारण कर लेता है—जो रति मे विस्मय, भय आदि भावनाओं के योग से बनते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपार्थिव आलम्बन के अनेक रूप हो सकते हैं—वह एक ओर सत्य की भाँति सूक्ष्मतम विचार-रूप हो सकता है, दूसरी ओर कृष्ण की भाँति बहुत कुछ स्थूल और प्रत्यक्ष भी हो सकता है, परन्तु उसके सभी रूपों में एक विशेषता सर्व-सामान्य

है—विश्वास, जिसमें बुद्धितत्व अनिवार्य्यतः वर्त्तमान रहता है। इसीलिए अनेक दार्शनिकों ने भगवान् को केवल विश्वास ही माना है। अपार्थिव प्रेम में, चाहे वह अत्यन्त सूक्ष्म अर्थात् कम से कम ऐन्द्रियता हो चाहे अधिक से अधिक ऐन्द्रिक, इस बौद्धिक विश्वास की पृष्ठ-भूमि अनिवार्यतः रहती है। इस विश्वास को बौद्धिक मैं इसलिए कहता हूँ कि ईश्वर में जिन गुणों का भी आरोप किया जाता है, उन सभी का कारण बुद्धि ही तो है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि मनोविज्ञान में अपार्थिव शृंगार एक मिश्र भाव है, उसमें ऐन्द्रियता के साथ बौद्धिकता का भी तत्व स्थायी रूप से वर्तमान रहता है। इसी बौद्धिक तत्व के कारण फ्रायड धर्म अथवा भक्ति को शृंगार का उन्नयन (Sublimation) कहता है। वास्तव में आप विचार कर देखें तो ऐन्द्रिय प्रवृत्ति को स्थूल शरीरधारी व्यक्ति से हटाकर एक सूक्ष्म भाव अथवा अमूर्त आदर्श की ओर प्रेरित करना ही तो उन्नयन की क्रिया है। आलम्बन के अमूर्त और अतीन्द्रिय होने के कारण उसके द्वारा ऐन्द्रिय तृप्ति की सम्भावना न होने से, शृंगार में शारीरिकता का अंश स्वभावतः अनुपात से कम होता जाता है, और बौद्धिक तत्व का समावेश हो जाता है। विदेश का प्लेटोनिक लव वास्तव में मनोविज्ञान की शब्दावली मे बौद्धिक प्रेम ही है। परन्तु यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है: भारतीय सगुणवाद ने तो इस बौद्धिकता का प्रबल शब्दों मे निषेध किया है—फिर बौद्धिकता का सिद्धान्त यहाँ कैसे घट सकता है? सूर की गोपियाँ कृष्ण के व्यक्तिगत गुण-दोषों का—उनके शरीर-स्पर्श का अनुभव कर चुकी हैं—मीरा झुरमुट में कृष्ण से मिल चुकी है। बौद्धिक तत्व के प्रतीक उद्धव का घोर तिरस्कार किया जाता हैं। राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय में राधा का एकांत ऐन्द्रिय रूप चित्रित किया गया है। इस सब का मनोविज्ञान के पास एक ही स्पष्ट उत्तर है: यदि आलम्बन सर्वथा स्थूल और इन्द्रिय-गम्य बन जाता है—और भक्त उसका सर्वथा उसी रूप में भावन करता है जिस रूप में किसी लौकिक व्यक्ति का, ऐसी दशा में उसकी भक्ति या अपार्थिव प्रेम किसी प्रकार भी पार्थिव प्रेम से मूलतः भिन्न नहीं है—अप्राप्य अथवा केवल मनःस्थित व्यक्ति के प्रति होने के कारण वह अतृप्त है, बस। इसीलिए उसमें मानसिकता तीव्र है शारीरिकता कुण्ठित है। इसके विपरीत यदि आलम्बन किसी न किसी रूप में अपार्थिव रहता है, तो उसके प्रति रति भी किसी न किसी रूप में बौद्धिक अवश्य होगी। अपार्थिव का अर्थ है विशिष्ट अलौकिक गुणों का प्रतीक—और इन विशिष्ट अलौकिक गुणो को प्रतीक रूप देकर उसके प्रति विश्वास स्थिर करने में बौद्धिक क्रिया अनिवार्य्य है। अतएव ऐसी स्थिति में, जैसा कि मैंने पहले कहा, यह अपार्थिव शृंगार रतिभाव और बौद्धिक विश्वास के योग का ही नाम है। इसमें आलम्बन की स्थूलता के अनुपात से

शारीरिकता कम, और गुणों की प्रतीकता के अनुपात से बौद्धिक विश्वास अधिक होगा। कबीर और मीरा की भक्ति में इन्हीं दोनों तत्वों के अनुपात का ही अंतर है—मूलभावना का नहीं। इस प्रकार सगुणवाद में या तो स्पष्ट रूप से ऐन्द्रिय अनुभूति की महत्व-प्रतिष्ठा की गई है— यदि ऐसा है तो पार्थिव अपार्थिव के अंतर का प्रश्न ही नहीं रह जाता। या फिर बुद्धि का निषेध एक अतिवाद मात्र है—उसका अभिप्राय केवल ईश्वर की बुद्धि-गम्यता के स्थान पर उसकी मनोगम्यता पर ज़ोर देना ही है—इन्द्रियों को पीछे छोड कर ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती यही घोषित करना है। भारतीय सगुणवाद अपने मूल रूप में आनन्द-प्रधान था, परन्तु फ़ारसी सूफ़ी मत के प्रभाव से उसमें पीडा की उत्कटता का भी समावेश हो गया था।

सारांश यह है कि भक्तिकाल का अपार्थिव प्रेम भारतीय दर्शन की दृष्टि से आत्मा का परमात्मा की ओर सहज उन्मुखी भाव है—यह भाव शुद्ध अतीन्द्रिय अथवा आध्यात्मिक है। इसमें प्रेम की और सभी विशेषताएं विद्यमान हैं, परन्तु काम नहीं है। मनस्तत्त्व की दृष्टि से यह पार्थिव रति का ही उन्नयन है—और यह उन्नयन रति में यत्किंचित् बौद्धिक विश्वास का मिश्रण होने से सम्भव होता है।

रीतिकाल में आकर शृंगार फिर शारीरिक धरातल पर उतर आया। रीतिकाल का शृंगार न तो आत्मा का परमात्मा की ओर उन्मुखी भाव है, और न धर्माचरण अथवा सन्तति के निमित्त स्त्री-पुरुष का शास्त्र-सम्मत संयोग है—वह तो स्पष्ट ही सहज आकृष्ट स्त्री-पुरुष का ऐन्द्रिय पर्व है—जिसमें कोई नैतिक अथवा आध्यात्मिक ग्रन्थि नहीं है। वह किसी अन्य साध्य का साधन नही है, स्वयं अपना साध्य है—यही इस युग की विफलता है। इसी के कारण रीतिकालीन शृंगार-भावना प्रेम न होकर विलास रह गई। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि रसिक ही थे प्रेमी नहीं। उनके शृंगार-चित्रों में प्रेम की एकाग्रता न होने से तीव्रता और गंभीरता प्रायः कम मिलती है, विलास का तारल्य और वैभव ही अधिक मिलता है। घोर सामाजिक और राजनीतिक पतन के इस युग में जीवन बाह्य अभिव्यक्तियों से निराश होकर घर की चहार-दीवारी में ही अपने को अभिव्यक्त कर सकता था—घर में इस समय न धर्माचरण था, न शास्त्र-चिंतन, अतएव अभिव्यक्ति का एक ही माध्यम था—काम। बाह्य जीवन की असफलताओं से आहत मन नारी के अंगों में मुँह छिपाकर विसुध-विभोर हो जाता था। इस प्रकार रीतिकाल की शृंगार-भावना में स्पष्ट रूप से शारीरिक रति-काम की स्वीकृति है। उसमें किसी प्रकार की अतीन्द्रियता या अपार्थिवता के लिए स्थान

नहीं है, एकोन्मुख एवं एकाग्र न होने से उसमें उत्कटता एवं तीव्रता भी नहीं है, और मूलत: गृहस्थ जीवन की परिधि में बंधा होने से रोमानी साहसिकता और शक्ति का भी अभाव है। वह तो शरीर-सुख और उससे उत्पन्न मन का सुख है, नागरिक जीवन की रसिकता उसका प्राण है, विलास को श्री और समृद्धि उसका अलंकार।

देव का श्रृंगार वर्णन

देव मूलतः श्रृंगार-भावना के कवि हैं। दो एक ग्रंथ को छोड़ उनके सभी ग्रन्थों में उसका ही वर्णन है, और वास्तव मे श्रृंगार-रस का इतना विस्तृत विवेचन रीतिकाल के किसी अन्य कवि ने नहीं किया। श्रृंगार-रस का स्वरूप कवि ने निम्नलिखित शब्दों में वर्णित किया है:—

रस— जो विभाव अनुभाव अरु, विभचारिनु करि होइ।
थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोइ॥

[भावविलास]

श्रृंगार रस—नव रस के थिति भाव, है, तिनको बहु विस्तारु।
तिनमे रति थिति भावते, उपजत रस श्रृंगारु॥

भा॰ वि॰]

रति स्थायी—नेकु जु प्रियजन देखि सुनि, आन भाव चित होइ।
अति कोविद पति कविन के, सुमति कहत रति सोइ॥

[भा॰ वि॰]

विभाव— नायकादि आलम्बन होई, उपवन सुरभि उद्दीपन सोई।

[शब्द-रसायन]

अनुभाव— आनन नैन प्रसन्नता, चलि चितौनि मुसकानि।
ये अनुभाव श्रृंगार के, अंग-भंग जिय जानि॥

[भा॰ वि॰]

संचारी— कहि 'देव' देव तैंतीस हू, संचारी तिय संचरति।

[श॰ र॰]

[इनके अतिरिक्त सात्विक भावों को 'तनसंचारी' की संज्ञा देते हुए, उन सभी को भी इनके ही अंतर्गत माना है]

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों द्वारा स्थायी भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति एवं आस्वादन को रस कहते हैं। रस नौ हैं, जिनमें से प्रत्येक का अपना अपना स्थायी भाव है। शृंगार-रस का स्थायी भाव रति है—रति उस मनोविकार को कहते हैं जो प्रियजन के दर्शन अथवा श्रवण से उत्पन्न होता है। इसके आलम्बन हैं नायक-नायिका, उद्दीपन हैं सुरभि उपवन आदि। आनन और नयन की प्रसन्नता, चल चितवन, मुसकान, अंग-भंगिमा, आदि इसके अनुभाव हैं और निर्वेद असूया आदि तेतीसों मन-संचारी और अश्रु आदि आठों तन-संचारी अथवा सात्विक, इसके पोषक संचारी भाव हैं। इस प्रकार देवकृत शृंगार-विवेचन स्वीकृत शास्त्रमत के सर्वथा अनुकूल ही है। थोडा सा अंतर केवल यही है कि संस्कृत आचार्य्यों ने उग्रता, आलस्य, मरण और जुगुप्सा—इन चार संचारियों को शृंगार का पोषक नहीं माना है, वहां देव ने शृंगार की सर्वव्यापकता सिद्ध करते हुए इनको भी उसके संचारियों के अंतर्गत मान लिया है। इसके प्रमाण-रूप उन्होंने अपना निम्नलिखित छंद उद्धृत किया है।

वैरागिनि किधौं, अनुरागिनि, सुहागिनि तू,
देव बडभागिनि लजति औ लरति क्यो ?
सोवति, जगति, अरसाति, हरषाति, अनखाति—
बिलखाति, दुख मानति डरति क्यो ?
चौंकति, चकति, उचकति औ बकति,
विथकति औ थकति ध्यान, धीरज धरति क्यो ?
मोहति, मुरति सतराति, इतराति, साह—
चरज सराहौं, आहचरज मरति क्यों ? [शब्द-रसायन]

इसका स्पष्टीकरण स्वयं कवि के ही शब्दो मे सुनिये :—

वैरागिनि 'निर्वेद्र', 'उत्कण्ठता' है अनुरागिनि;
'गर्व' सुहागिनि जानि, भाग-'मदते' बडभागिनि।

'लज्जा' लजति, 'अमर्ष' लरति, सोवति 'निद्रा' लहि;
'बोध' जगति, 'आलस्य' अलस, हर्षति 'सुहर्ष' गहि।

अनखाति 'असूया' 'ग्लानि', 'श्रम', बिलख दुखित दुख 'दीनता'।
'संकह' डराति, चौंकति, 'त्रसति', चकति 'अपस्मृति' लीनता॥

उचकि 'चपल', 'आवेग' 'व्याधि' सौं बिथकि सु पीरति;
'जडता' थकति, 'सुध्यान' चित्त 'सुमिरन' धर 'धीरति'।
'मोह' मोहि, 'अवहित्थ' मुरति, सतराति 'उग्र' गति,
इतरैबो 'उनमाद', साहचरजै सराह 'मति।'

अरु आहचरज बहु 'तर्क' करि, 'मरन'-तुल्य मूरछि परति;
कहि देव देव तैंतीस हूँ, संचारिन तिय संचरति।

[श० र०]

उपर्युक्त उदाहरण में कौशल-प्रदर्शन ही अधिक है, अनुभूति की सचाई नहीं—और वैसे भी यहां संचारियों का वर्णन मात्र है, व्यंजना नहीं है। परन्तु फिर भी आलस्य, उग्रता और मरण भी शृंगार के पोषक संचारी हो सकते हैं, इस विषय में कोई मनोवैज्ञानिक निषेध नहीं है। आधुनिक मनस्तत्व-शास्त्र के अनुसार तो हमारे मनोविकारों में प्रायः विपरीत वृत्तियों का योग रहता ही है।

देव ने पूर्ण आग्रह के साथ शृंगार का रस-राजत्व सिद्ध किया है।—

निर्मल स्याम सिंगार हरि देव अकास अनंत,
उड़ि उड़ि खग ज्यौं और रस बिबस न पावत अंत।
भाव सहित सिंगार मैं नव-रस झलक अजत्न,
ज्यों कंकन-मणि कनक को ताही में नवरत्न।

[भवानीविलास, प्रथम विलास]

इसीलिए—तीन मुख्य नौ हूं रसनि द्वै द्वै प्रथम निलीन,
प्रथम मुख्य तिन तीनहूं में दोऊ तेहि आधीन।

[भा० वि०, अष्टम विलास]

भूलि कहत नव-रस सुकवि सकल मूल सिंगार,
तेहि उछाह निर्वेद लै, वीर, शान्त, संचार।

[भवानीविलास, प्रथम विलास]

अर्थात् नौ रसों में मुख्य रस तीन हैं—शृंगार, वीर, शान्त; शेष रस इन तीनों के ही अंतर्गत आ जाते हैं, फिर इन तीनों मे शृंगार ही मुख्य है क्योंकि शेष दो का भी अंतर्भाव उसमें हो जाता है, उसी के उत्साह से वीर और उसी के निर्वेद से शांत का जन्म होता है। इसलिए वास्तव में एक ही मूल रस है।

शृंगार और प्रेम का स्वरूप तथा महत्व—देव रस-सिद्ध प्रेमी कवि थे, उनके द्वारा शृंगार का महत्व-स्थापन निर्जीव सिद्धान्त प्रतिपादन नही था, अनुभूति का आग्रह था। उनकी वाणी ने शत शत रूपों में शृंगार की महिमा का बखान किया है। जीवन की सम्पूर्ण साधना मुक्ति के लिए है, और मुक्ति का फल है भोग। परन्तु साधना, मुक्ति और भोग इन तीनों का मूल है काम। बिना काम पूर्ण हुए मुक्ति—परमपद भी तुच्छ लगता है—और काम की पूर्ति है चन्द्रमुखी रमणी :

युक्ति सराही मुक्ति हित, मुक्ति भुक्ति को धाम।
युक्ति, मुक्ति और भुक्ति को, मूल सुकहिए काम॥
बिना काम पूरन भये लगै परम पद छुद्र।
रमनी राका ससि मुखी पूरै काम-समुद्र॥
[रसविलास

इसीलिए त्रिभुवन मे सर्वत्र काम की ही महत्ता है—मनुष्य ही नहीं वरन्, सुर-असुर, यक्ष-पिशाच, पशु-पक्षी सभी स्त्री के संसर्ग मे ही सुखी रह सकते हैं—स्वयं भगवान् भी उसकी महिमा से अभिभूत हैं :

रची राम संग भीलनी यदुपति संग अहीरि,
प्रबल सदा बनवासिनी नवल नागरिन पीर।
[रसविलास]

परन्तु काम को यहाँ तात्विक रूप मे प्रयुक्त किया गया है—काम से अभिप्राय कामुकता (विषय) का नही है। देव ने प्रेम और कामकता में अत्यन्त स्पष्ट अन्तर माना है :

यह विचार प्रेमीन को, विषयी जन को नाहिं,
विषय विकाने जनन की प्रेमी छियत न छांहि।

शृंगार रस का मूल प्रेम ही है—कामुकता नही। जब तक दंपति मे प्रेम है तभी तक शृंगार का परिपाक हो सकता है, विषय के आधार पर वह असम्भव है। प्रेम-हीन कामुकता तो रसाभास अथवा शृंगाराभास मात्र है :—

तबहीं लौं शृंगार रसु जब लग दम्पति प्रेम।
[प्रेमचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश दो० १६]

× × +

प्रेम हीन त्रिय बेश्या है सिंगाराभास।
[प्रे० च० द्वितीय प्रकाश दो० १०]

शृंगार, विना प्रेम के, सर्वथा नीरस है, परन्तु प्रेम, बिना शृंगार के भी, समस्त रसों का सार है। इसी भावना के अनुकूल उन्होंने स्वकीया के प्रेम को ही सच्चा प्रेम माना है—परकीया का प्रेम उत्कट एवं तीव्र होते हुए भी अधिक श्रेयस्कर नहीं होता। वह उपपति के प्रेम मे अपने व्यक्तित्व को औटा कर खोवे के समान कर देती है—इस प्रकार उसके प्रेम में रस तो अवश्य अधिक आ जाता है परन्तु वह अवगुण करता है। इसके विपरीत, स्वकीया का प्रेम दूध की तरह सात्विक तथा लाभप्रद होता है।—सामान्या के प्रति तो वे प्रेम का अस्तित्व ही नहीं मानते, वह तो विषय-तृप्ति मात्र है, उसमें धर्म

और धन दोनों की हानि होती है।—इसके आगे देव पार्थिव और अपार्थिव प्रेम में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींचते।

सब सुखदायक नायिका-नायक जुगल अनूप।
राधा-हरि आधार जस रस-सिंगार स्वरूप॥ (भवानीविलास)

प्रेम की महिमा अपार है, इस रस को पीकर मनुष्य मरकर भी अमर हो जाता है, पागल होकर भी जगत के रहस्य को जान लेता है। दम्पति का स्वरूप जो ब्रज मे अवतरित हुआ था, वह वास्तव में प्रेम का ही अवतार था। वासना से मुक्त होते होते पार्थिव प्रेम अपार्थिव प्रेम बन जाता है। इसीलिए प्रेम के जो पाँच भेद देव ने माने हैं, उनमें पार्थिव और अपार्थिव की सीमाएं सर्वथा मिली-जुली हैं। सानुराग प्रेम और प्रेम-भक्ति अथवा सौहार्द्र मे शारीरिक और आत्मिक का अन्तर नहीं है क्योंकि शुद्ध प्रेम के लिए आत्मा का सम्बन्ध तो सभी दशाओं में अनिवार्य्य है।

इस प्रकार प्रेम के प्रति देव का दृष्टि-कोण शुद्ध रीतिकालीन नहीं था। इसमे संदेह नहीं कि देव की अनेक पंक्तियाँ ऐसी हैं जो रीतिकालीन अनेकोन्मुखी रसिकता की ओर, जिसमे विलास का ही प्राधान्य था, संकेत करती हैं, जैसे—

काम अन्धकारी जगत लखै न रूप कुरूप,
हाथ लिए डोलत फिरै, कामिनि छरी अनूप।
तातैं कामिनि एक ही कहन सुनन को भेद,
राचैं पागैं प्रेम-रस मेटैं मन को खेद। [रसविलास]

परन्तु यह वास्तव में वातावरण का प्रभाव था। स्वभाव से देव की अपनी वैयक्तिक आस्था एक-निष्ठ प्रेम मे ही थी। एक तरह से कहा जा सकता है कि उनका प्रेम-विषयक दृष्टिकोण बिहारी, मतिराम, पद्माकर, आदि शुद्ध रीतिवादी कवियों और दूसरी ओर घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि रीतिमुक्त एकनिष्ठ प्रेमी कवियो का मध्यवर्ती था। उनकी शिक्षा और संस्कृति की प्रेरणा एक दिशा में थी स्वभाव की दूसरी दिशा मे। उनके संयोग-वियोग के वर्णनों में रीति और व्यक्ति का यही मिश्रण सर्वत्र मिलता है। वैसे सम्पूर्ण योजना रीतिग्रस्त है—परन्तु विशेष वर्णनों में भावना का गहरा रंग है।

संयोग—

पहले संयोग वर्णन लीजिये : संयोग के दो मुख्य अंग हैं—एक रूप-वर्णन, दूसरा मिलन जिसके अंतर्गत पारस्परिक शरीर-सुख के विनिमय के अतिरिक्त विनोद और विहार आदि आते हैं।

(१) रूप-वर्णन—रूप की परिभाषा करना साधारणतः कठिन है। सौंदर्य्य को अनिवर्चनीय कहा गया है—सौंदर्य्य वह अनिवर्चनीय 'कुछ' है जो मन को भला लगता है। परन्तु यह शब्दावली अवैज्ञानिक है। मनोविज्ञान की दृष्टि से सौंदर्य्य का मूल तत्व् सामन्जस्य है। यह सामन्जस्य पहले वस्तु के विभिन्न अंगों में होता है, फिर वस्तु और व्यक्ति के मन अर्थात् भाव के बीच। वस्तु के विभिन्न अंगो का सामन्जस्य, अनुक्रम, अनुपात दूसरे शब्दों में—वस्तुगत सौंदर्य्य कहलाता है, और वस्तु और भाव का सामन्जस्य (भाव-गत सौंदर्य्य) ही वह अनिर्वचनीय 'कुछ' है जो भिन्न भिन्न प्रकार की शब्दावली द्वारा व्यक्त किया गया। इस दृष्टि से, रूप सौंदर्य्य का वह पक्ष है जो नेत्रों के माध्यम से मन का प्रसादन करता है—यह शब्द प्रायः मानव-शरीर के सौंदर्य्य के लिये ही प्रयुक्त होता है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार रूप की अनुभूति की तीन अवस्थाएं होंगी—

(१) वस्तुगतरूप की अनुभूति, जिसमे वस्तु के भिन्न अंगो के सामन्जस्य का तटस्थ रूप से ग्रहण मात्र होता है। (२) रूप-जन्य मानसिक आनंद की अनुभूति। इसके मूल में वस्तु और भाव का सामन्जस्य होता है। (३) रूप के प्रति वासना की अनुभूति। इसमे केवल आनन्द की भावना ही नहीं—वरन् रूप के ऐन्द्रिय उपभोग की वासना का भी गाढ़ा रंग रहता है।

रस-शास्त्र की दृष्टि से सौंदर्य्यानुभूति मे विस्मय, आनन्द और रति इन तीन भावों की पृथक् पृथक् अथवा सम्मिश्रित अनुभूति होती है।

देव ने रूप की परिभाषा करते हुए लिखा है :—

> देखत ही जो मन हरै, सुख अंखियन को देइ,
> रूप बखानै ताहि जो जग चेरो करि लेइ। [रसविलास]

अर्थात् जो नेत्रों को सुख देता हुआ मन को सुख दे, वही रूप है। यह रूप की शुद्ध भाव-परक व्याख्या है जो देव की जीवन-दृष्टि के सर्वथा अनुकूल है। उनके रूप-वर्णन मे वस्तु-गत सामन्जस्य का निरपेक्ष ग्रहण ढूंढना व्यर्थ होगा। वास्तव मे यह आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि का ही प्रसाद है जो अठारहवीं शताब्दी के भारतीय कवि के लिये सम्भव नहीं थी। बस केवल बिहारी में उसकी झलक कहीं कहीं है। रीतिकाल मे वस्तु-परकता एक-दूसरे रूप मे मिलती है—वह है परिपाटी-ग्रस्त उपमान आदि का परिगणन। इस प्रकार का वर्णन प्रायः कवि की व्यक्तिगत भावना से शून्य होता है—उसमें भावगत सामन्जस्य के स्थान पर प्रायः उपमानो और प्रतीकों का वस्तुपरक सामन्जस्य ही मिलता है। देव में इस प्रकार के वर्णन अत्यंत विरल हैं—परन्तु उनका अभाव नहीं है—

लै रजनी पति बीच विरामिनि दामिनि-दीप समीप दिखावै।
जो निज न्यारी उज्यारी करै, तब प्यारी के दंतन की द्युति पावै॥

उपर्युक्त चित्र में उपमानों में जो सामञ्जस्य स्थापित किया गया वह भावना-परक नहीं है—वस्तु-परक ही हैं। वस्तु का चित्र तो सामने उपस्थित कर दिया गया है, परन्तु कवि अथवा उसके प्रतीक नायक की उमड़ी भावना की अभिव्यक्ति नहीं हुई, और यदि हुई भी तो अत्यंत प्रच्छन्न है, उपमानों की योजना उसे पूरी तरह आच्छादित किए हुए है। सौंदर्य के इस प्रकार के रीति-बद्ध चित्र रीति-काव्य के स्वाभाविक दूषण हैं।—देव में औरों की अपेक्षा इनकी संख्या कम अवश्य है—परन्तु वे इनसे मुक्त नहीं हैं, उनके नखशिख वर्णन से ऐसे बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं।—एक आध स्थान पर कवि ने चित्र में उपमानों का प्रयोग बचाया है, और अपनी दृष्टि को वस्तु पर ही केन्द्रित रखने का भी प्रयत्न किया है—

अम्बर नील मिली कबरी, मुकुता लर दामिनि-सी दशहू दिसि।
तामधि माथे में हीरा गुह्यो, सुगयो गड़ि केशन की छवि सौं लसि।
मांग को मूल उतै सिर-फूल दब्यो, झमकै कनकावलि सौं बिसि।

परन्तु इतने पर उसे पूर्ण संतोष नहीं हुआ और अंत में उपमानों के द्वारा ही चित्र पूरा किया गया—'शृंग सुमेरु मिलै रवि चंद ज्यौं पावस मास अमावस की निसि।' फिर भी इस प्रकार के वर्णन देव की प्रकृति के अनुकूल नहीं थे। इनमें रूप के प्रति उनकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया अभिव्यक्त नहीं है। सौंदर्यानुभूति की द्वितीय स्थिति ही जिसमें आनन्द की भावना का प्राधान्य रहता है, उनके लिए अधिक स्वाभाविक थी। ऐसे रूप-चित्र उनके काव्य में राशि राशि मिलेंगे :—

ललित लिलार श्रम झलक अलक भार, मग में धरत पग जावक घुरो परै;
देव मनि-नूपुर पदुम-पद दू पर ह्वै, भूपर अनूप रूप रंग निचुरो परै।

'घुरो परै' 'निचुरो परै' दोनों मे ही द्रष्टा की भावना की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार—

'डगर डगर बगरावति अगर अंग,
जगर मगर आपु आवति दिवारी-सी।

के द्वारा भी नयनोत्सव की ही व्यंजना है। कहीं कही अनुभूति अत्यंत सूक्ष्म हो जाती है, यहाँ तक कि रूप दृश्य न रह कर सम्पूर्ण चेतना में परिव्याप्त हो जाता है—

संग संग डोलत सखीन के उमंगभरी,
अंग अंग उठत तरंग स्याम-रंग की।

देव ने परम्परा के अनुसार नखशिख, शोभा-कांति आदि अलंकार, विलास, ललित आदि हाव, एवं अन्य सौंदर्य्य-तत्वों का विस्तृत वर्णन किया है। उन सभी में आत्म-तत्व (Subjectivity) की ही प्रधानता है। नख-शिख आदि में जड़ सौंदर्य्य का वर्णन वे नहीं करते, वरन् उनमें तरंगित चेतन सौंदर्य्य ही उनका लक्ष्य है। अलंकारों और हावों में तो अपने सहज रूप में ही आत्म-तत्व वर्त्तमान रहता है, क्योंकि काम की चेतना से सौंदर्य्य में जो एक सक्रिय आकर्षण आ जाता है उसे ही शोभा, विलास आदि की संज्ञा दी जाती है। देव ने इन सभी के अत्यंत मधुर चित्र अंकित किये हैं।

अब सौंदर्य्यानुभूति की तीसरी स्थिति रह जाती है जो उपभोग-मूलक होने के कारण वासनामयी होती है। इसका सहचारी भाव हर्ष न होकर रति ही होती है; और चूंकि स्पष्टतः यह रति ऐन्द्रिय होती है इसलिए इसमें यौवन की उष्ण गंध लिए एक तीव्रता और प्रगाढ़ता मिलती है। रीतिकाल के रूप-वर्णन मूलतः इसी सौंदर्य्यानुभूति से प्रेरित हैं। देव की गंभीर रसिकता इस क्षेत्र में खूब खुल खेली है। उनके वर्णनों में ऐसा लगता है जैसे कवि की सम्पूर्ण चेतना नारी के अंगों से लिपट लिपट कर रस-स्नात हो जाती है। एक उदाहरण लीजिए :—

भोर ही भोरे ही श्री वृषभानु के आयो अकेलोई केलि भुलान्यो।
देव जू सोवतही उत भामती झीनै महा झलकै पट तान्यो।
आरस तें उघरी इक बाँह भरी छबि देखि हरी अकुलान्यो।
मीडत हाथ फिरै उमड़्यो-सो मड़ो ब्रज बीच फिरै मडरान्यो।

नायिका झीना पट ओढ़े हुए सो रही है। आलस्य से एक बाँह उघर गई। बस उसी बांह की भरी छवि को देखकर नायक व्याकुल होकर उसके चारों ओर हाथ मीड़ता हुआ मंडराता फिर रहा है। अलसायी बांह की भरी छवि द्वारा व्यञ्जित ऐन्द्रियता कितनी मादक है, उसमें वासना की कितनी भीनी मधु-गंध है।—रूप के उपभोग की यह वासना कहीं कहीं तो अत्यंत प्रगाढ होगई है; जैसे—

देव मैं सीस बसायो सनेह कै भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यो।
कंचुकी मैं चुपरो करि चोवा लगाइ लियो उरसों अभिलाख्यो॥
कै मखतूल गुने गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यो।
सांवरे लाल को सांवरो रूप, मैं नैनन में कजरा करि राख्यो॥

सांवरे लाल के सांवरे रूप को कन्चुकी में चोवा रूप से चुपड़ना, वक्ष में भर लेना, शृंगार के रूप में आस्वादित करना, नयनों में अंजन रूप से आंज लेना—सभी इन्द्रियों को जैसे शानदार दावत दी गई है।

मिलन और उपभोग :—मिलन के अंतर्गत संयुक्त प्रेमियों के समस्त मानसिक और शारीरिक सुख आते हैं। रीति-परम्परा के अनुसार कवि इस प्रसंग में नव दम्पति की रस-चेष्टाएं, सुरत, अष्टयाम, विहार आदि का वर्णन करते रहे हैं। वास्तव में रीति-काव्य का यही मुख्य वर्ण्य विषय था। उस युग की आहत चेतना आत्म-विस्मरण के लिए ही तो शृङ्गार-साधना करती थी—अतएव स्वभावतः ही उसमें संयोग के प्रति आग्रह अधिक था, क्योंकि रसिकता मूलतः संयोग-प्रधान ही होती है। जहाँ भावना एकोन्मुखी न होकर अनेकोन्मुखी होती है, वहाँ मिलन और उपभोग का प्रधान्य होना स्वाभाविक है। देव ने नायक नायिका की रस-चेष्टाओं के जो चित्र अङ्कित किए हैं उनमें मानसिक और शारीरिक सुख का गाढ़ा रंग है। उनमें मन और शरीर दोनों ही तन्मय होकर उत्सव मनाते हैं। एक ओर उन्होंने वासना का संस्कार अथवा परिशोधन कर मिलन को अतीन्द्रिय—दूसरे शब्दों में—केवल मन का सपना बनाकर नहीं छोड़ दिया है, दूसरी ओर शरीर की स्थूल चेष्टाओं का ही वर्णन कर उसे मांस-मुक्ता भी नहीं बना दिया है। एक रस-सिद्ध कवि की भांति उन्होंने मांसलता द्वारा भावना को प्रगाढ़ किया है और भावना के द्वारा मांसलता में रंग भर दिया है। इसीलिए उनके मिलन के चित्रों में विशेष रस-मग्नता मिलती है। हम कुछ क्रम-बद्ध उदाहरण देकर अपनी धारणा को पुष्ट करेंगे।

नव-वधू का गौना होकर जा रहा है। गुरुजन उसे भूषण-वस्त्रों से अलंकृत करते हैं, सखियां ससुराल के अनेक सुखों की चर्चा करती हैं। फिर शील सयान आदि की शिक्षा देती हुई चुपके से यह भी कह देती हैं कि 'ऐसी वाणी बोलना जो मनभावन को अच्छी लगे।' नव-वधू गंभीर होकर सब सुनती रहती है—परन्तु ज्यों ही यह अन्तिम वाक्य उसके कानों में पड़ता है—अचानक ही उसके ओछे उरोजों पर अनुराग के अंकुर-से उग आते हैं :—

गौने के चार चली दुलही, गुरु लोगन भूषन भेष बनाए।
सील सयान सखीन सिखायो, बड़े सुख सासुरे हू के सुनाये।
बोलियो बोल सदा हँसि कोमल, जे मनभावन के मन भाये।
यों सुनि ओछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आए॥

उपर्युक्त प्रसंग में अभी वास्तविक मिलन नहीं हुआ, अभी स्थिति सर्वथा मानसिक धरातल पर ही है। परन्तु मन के साथ शरीर का ऐसा सहज सम्बन्ध है कि दोनों में एक साथ चेतना उत्पन्न हो जाती है। अनुराग के अंकुर जो मन में उठे थे—वे ही उरोजों पर भी उभर आए। काम की प्राथमिक चेतना का कितना सूक्ष्म-सरस वर्णन है।

दूसरे उदाहरणों में संयोग पूर्ण हो जाता है।

दूरि धरो दीपक झिलमिलात झीनो तेज, सेज के समीप छहरान्यो तम तोमसो।
दूलहै दुराइ आली केलि के महल गई, पेलि कै पठाई वधू सरद के सोम-सो।
अंक भरि लीन्हीं गहि अंचल को छोरु, देव जोरु कै जनावै नवयौवन के जोम को।
लाल के अधर बाल अधरनि लागि लागि उठी मैन आगि पघिलान्यो मन मोम सो॥

नायिका सलज्जरति मुग्धा है। अभी वह समागम के लिए प्रस्तुत नहीं है, परन्तु सखी की चालाकी से नायक के भुजपाश में फँस जाती है। उसको भी यौवन-का घमण्ड है—थोड़ी देर तक दोनों में खींचतान होती है। परन्तु अन्त में नायक के अधरों से उसके अधर लगने के कारण काम की अग्नि प्रज्वलित हो जाती है और उसका मन मोम की भाँति पिघल जाता है। नायिका परवश हो जाती है। यह प्रसंग रस-सिक्त तो है ही साथ ही मनोविज्ञान की दृष्टि से भी अत्यंत सटीक है। प्रसिद्ध मनोवेत्ता फ्रायड ने एक ऐसी ही स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि बलात्कार के समय यदि कोई स्त्री परवश होकर आत्म-समर्पण कर देती है तो इसमें उसके सतीत्व पर शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह तो प्रकृति का आग्रह है। ऐसी परिस्थिति में, जहां उसका चेतन व्यक्तित्व बलात्कारी का विरोध करता है, वहां उसका अवचेतन नारीत्व उसकी सहायता करता है। चेतन मन कठोर होकर आक्रांता को जितना ही दूर हटाने का प्रयत्न करता हैं, अवचेतन नारीत्व उतना ही पिघलता हुआ उसकी ओर बढ़ता जाता है।

परम्परा के अनुरोध से देव ने सुरत और सुरतांत के भी चित्र अंकित किए हैं—परन्तु उनकी रुचि उधर नहीं थी। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

मुग्धादिक वयभेद अरु, मान सुरत सुरतंत,
बरने मत साहित्य के, उत्तम कहे न संत।
[सुजान-विनोद]

सुरत के चित्र जैसे होने चाहिएँ—वैसे ही हैं। इस प्रसंग में सूक्ष्म सुरुचि अथवा कोमल भावना के लिए स्थान कम ही है। देव ने अपनी ओर से प्रयत्न किया है कि ये वर्णन भी—

नैन लागे बैन लागे देव चतचैन लागे दुहुन के क ख ख खेल ही सो खिलि गये।
भरिकै सरस रस ढरके सस्याने युग, जाने न परत जल बुंदनि ज्यों मिलि गये॥"

तक ही सीमित रहें, परन्तु प्रसंग और भी आगे बढ जाता है :—"फेरि फेरि जैही कहि नीके मैंक रैहो कहि बैठि बैठि उठि उठि रंग रच्यो रुचि कै।" वास्तव में इस प्रकार के चित्र उपस्थित करने में कोई औचित्य नहीं है—यह रस नहीं रसा-

भास है और कुरुचि उत्पन्न कर आनन्द में व्याघात उत्पन्न करता है। यही संतोष है कि ऐसे वर्णन केवल दो ही एक हैं। अन्यत्र कवि की सुरुचि ने उसका साथ नहीं छोड़ा है—और उसके अधिकांश वर्णन अश्लील—अर्थात् वीभत्स एवं कुरुचिपूर्ण होने से बच गए हैं। अश्लीलता को प्रायः नग्नता का पर्याय समझा जाता है—परन्तु वास्तव में नग्नता सदैव अश्लील नहीं हो सकती—न आवरण सर्वथा शोभन ही हो सकता है। ऐसी दशा में अश्लीलता का सीधा सम्बन्ध कुरुचि से ही मानना चाहिए।

मिलन के प्रसंग में परिहास :—विनोद का अपना माधुर्य्य है। वास्तव में संयोग के आनन्द और प्रेम के गर्व को प्रकट करने के लिए इससे सुन्दर माध्यम सम्भव नहीं है। देव की प्रकृति गंभीर थी—अतएव स्वभावतः वह इस ओर कम गई है। अपना वाक्वैदग्ध्य उन्होंने प्रायः खण्डिता के व्यंग्यों में ही व्यय किया है, परन्तु फिर भी वे रस के प्रसंगों में व्यंग्य और विनोद आदि की माधुरी से अनभिज्ञ नहीं थे। इस प्रकार के स्थल संख्या में तो अधिक नहीं हैं परन्तु जो हैं वे सरसता में अद्वितीय हैं :—

एक दिन की बात है एक संकीर्ण गली में होकर राधा अपनी सखियों सहित जा रही थी। कृष्ण को ज्यों ही यह सूचना मिली—वे अत्यंत आतुर होकर तुरन्त ही वहां आ पहुंचे और दूर से ही आवाज़ देकर कहने लगे—'सुनिये, आप कहां से आई हैं। कुछ ऐसा लगता है जैसे शायद आपको हमने कहीं देखा है।' राधा ने उसी तरह मुँह फेर कर कहा—'महाशय, बस आप चले ही जाइए। हम आपको अच्छी तरह जानती हैं, और आप भी हमें अच्छी तरह जानते हैं।

लागि प्रेम डोरि खोरि सांकरी ह्वै कढ़ी आइ नेह सों निहोरि जोरि आली मनमानती।
उतते उताल देव आये नन्दलाल, इत सौहैं भई बाल नव लाल सुख सानती।
कान्ह कह्यो टेरिकै कहाँ ते आई को हौ तुम, लागती हमारे जान कोई पहिचानती।
प्यारी कह्यो फेरि मुख हेरि जू चलेई जाहु, हमैं तुम जानत, तुम्हैं हूँ हम जानती।

इसी तरह एक बड़ा हल्का और मीठा मज़ाक एक और नायिका करती है :—

पान दियो हँसि प्यार सों प्यारी बहू लखि त्यों हँसि भौंह मरोरी।
बांह गही ललचाइ लला, मुख नाहीं कही मुसकाइ किसोरी।
तोरि न लाज जेठानी सखी-जन, देव ढिठाई करै नहीं थोरी।
लाल जितै चितवैं तिय पै तिय त्यों त्यों चितौ ते सखीन की ओरी।

रात्रि का समय है। नायक नायिका पास बैठे हुए हैं—अन्तरंग सखियाँ भी उपस्थित हैं। नायक का मन आज कुछ उतावला हो रहा है। पहले वह हँस कर

प्यार से नायिका को पान देता है, परन्तु नायिका हँसकर भौंह मरोड़ लेती है। इस पर नायक ललचा कर उसकी बाँह पकड़ता है। तो वह मना करती है कि—'देखो, ये सखियां हमसे अधिक वयस्क हैं, इनके सामने लाज मत तोड़ो, परन्तु रस-लुब्ध नायक बेबस हो रहा है। नायिका इसी बेबसी का लाभ उठाती हुई उसे थोड़ा और छेड़ने का प्रयत्न करती है—नायक ज्यों ज्यों उसकी ओर ललचायी आँखों से देखता है त्यों त्यों वह शैतानी से सखियों की ओर देखने लगती है।—विनोद कितना प्रच्छन्न और कितना सूक्ष्म-मधुर है।

एक अन्य स्थल पर यह विनोद-परिहास अधिक प्रस्फुट हो जाता है। एक दिन सभी गोपियों ने मिल कर कृष्ण को छकाने की सोची। वे राधा को कंस का प्रतिहारी बनाकर मधुबन के कुञ्जों में कृष्ण के पास ले आईं, और कड़कती हुई आवाज़ में कहा – "चलिए, महाराज कंस आपको बुलाते हैं। आप किसकी आज्ञा से दधि का दान लेते हैं?" कृष्ण के साथी बेचारे इस रहस्य को, न समझ पाये—वे सभी डर कर भाग गए। कृष्ण जी सटपटाते-से अकेले खड़े रह गये।—फ़ौरन ही उनको पकड़ कर राज-प्रतिहारी के हाथ में दे दिया गया; बस यहीं आकर भेद खुल गया। प्रतिहारी की दृष्टि छल को छिपाये रखने में असमर्थ होगई। भौंहों ने ढीली पडकर सारा भेद खोल दिया।

राज पौरिया के रूप राधे कों बनाइ लाईं, गोपी मथुरा ते मधुबन की लतानि मैं।
टेरि कह्यौ कान्ह सों, चलो हो कंस चाहै तुम्हें, काके कहे लूटत सुने हो दधि-दानि मैं।
संग के न जाने, गए डगरि डराने 'देव', स्याम ससवाने-से पकरि करे पानि मैं।
छूटि गयौ छल सों छबीली की विलोकनि मै, ढीली भई भौंहें वा लजीली मुस्कानि मैं॥

रस-चेष्टाओं के अंतर्गत विभिन्न हावों का वर्णन भी आता है। देव ने हावों का सम्बन्ध प्रौढा नायिका से मानते हुए उनके अत्यंत रसमय वर्णन किये हैं। वास्तव में उनके सभी ग्रन्थ, लीला, विलास, विच्छित्ति आदि के चित्रों से जगमग हैं।

अब संयोग का एक अंग रह जाता है: विहार। रीति-काव्य का राज-वैभव में पोषण हुआ था, अतएव स्वभाव से ही उसमे विलास और विहार का राशि-राशि वैभव मिलता है। देव ने षट् ऋतुओं के विभिन्न उत्सवों द्वारा प्रेमी युगल के उमड़े हुए आनन्द का वर्णन किया है। यहां भी उन्होने आंतरिक हर्ष और उल्लास को ही अभिव्यक्ति को प्राधान्य दिया है—स्थूल राजसी विलास की सामग्रियों का ठाठ नहीं बांधा है। इन वर्णनों में ऐसा लगता है जैसे कवि का प्रेम-मग्न मन बदलती हुई ऋतुओं और चक्रवत् घूमते हुए पर्वों और उत्सवों मे हर्ष-विभोर होकर नाचता है—

साँचे हँकारि पुकारि पिकी कहै नाचै बनैगी बसंत प'चै।

यहां दो एक उदाहरण ही यथेष्ट होंगे। मेघाडम्बर में झूले का उत्सव है—आप देखिए किस प्रकार नायक नायिका के शरीर, मन, उनके वस्त्र, सम्पूर्ण वातावरण और साथ ही कवि का मन सभी उत्सव में तन्मय होकर लहरा रहे हैं :—

सहर सहर सोंधो सीतल समीर डोलै, घहर घहर घन घेरिकै घहरिया।
झहर झहर झुकि झीनी झरि लायौ 'देव', छहर छहर छोटी बूँदन छहरिया।
हहर हहर हँसि हँसि कै हिंडोरे चढ़ी, थहर थहर तनु कोमल थहरिया।
फहर फहर होत पीतम को पीत पट, लहर लहर होत प्यारी को लहरिया।

इन चित्रों में आनन्द का वातावरण उपस्थित करने की अद्‌भुत क्षमता है जो वास्तव में उनकी सबसे बडी सफलता है। यहां भी देव की यह प्रमुख विशेषता है कि वे इन वर्णनों को केवल ऐन्द्रिय उल्लास बनाकर ही नहीं छोड़ देते—वे उसके भीतर प्रेम के रस का सिंचन कर एक अपूर्व माधुरी भर देते हैं—

केसरिया चकचौंधत चीर ज्यों केसरि नीर सरूप लसी ज्यों।
लाल के रंग में भीजि रही सु गुलाल के रंग में चाहत भीज्यो।

पहली पंक्ति में रूप और स्फूर्ति की जो चमक है वह अन्तिम पंक्ति की मिठास से कितनी सरस बन गई है।

विरह—

विरह के चार अंग हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। संस्कृत-शास्त्र में संयोग और वियोग का आधार सामीप्य अथवा पार्थक्य, या उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति को न मान कर सुख और दुख को ही माना है। इसलिए तो पूर्वराग और मान का भी विरह में अन्तर्भाव कर लिया गया है। पूर्वराग मे आलम्बन की अनुपस्थिति सर्वथा अनिवार्य्य नहीं है—परन्तु मिलन के अवसर अथवा साधन का अभाव वहाँ अवश्य होता है, जिसके कारण पूर्वराग की अवस्था में मानसिक क्लेश बना रहता है। मान मे तो प्रेमी युग्म का विच्छेद ही नहीं होता—अनेक दशाओं में शारीरिक संयोग भी उसमें रहता है, परन्तु दोनो के मनों के बीच एक ऐसा व्यवधान पड़ जाता है कि संयोग भी वियोग ही बन जाता है। वर्गीकरण में शास्त्र का यही दृष्टिकोण रहा है। परन्तु आज कुछ विद्वान् इसके विपरीत दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए उपर्युक्त दोनो भेदों को वियोग की सञ्ज्ञा नहीं देते। वियोग के लिए योग पहले आवश्यक है—पूर्वराग योग के पूर्व की स्थिति है जिसमे अभिलाषा की व्याकुलता तो अवश्य है परन्तु प्रेम का परिपाक अभी उसमें नहीं है।—अभी तो प्रेम अंकुरित ही हुआ है—अभी उसकी अभिलाषा ही है, प्राप्ति नही हुई। अतएव 'मिलि कै

बिछु की बिथा' न होने से वे पूर्वराग को वियोग के अंतर्गत नहीं मानते। इसी प्रकार मान को तो वे लगभग संयोग का ही अंग मानते हैं। उनका मत है कि मान एक प्रकार से संयोग की एकस्वरता को तोड़ने के लिए मनोदशा का एक परिवर्तन-Change मात्र है। उसमें विरहोचित गांभीर्य्य नहीं होता।—यहां हमें इस प्रसंग पर अधिक विवाद नहीं करना है। वास्तव में ये दोनों ही मत अपना महत्त्व रखते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से शास्त्र का मत सर्वथा निर्दोष है क्योंकि वियोग का तात्पर्य्य संयोग-सुख का अभाव है। संयोग-सुख अभीष्ट है पर प्राप्त नहीं हुआ—अथवा प्राप्त होकर नष्ट होगया है: जहाँ तक अभाव का सम्बन्ध है, यह तथ्य-विशेष अर्थ नहीं रखता। पूर्वानुरागवती अथवा खण्डिता या विप्रलब्धा की मनोदशा में तीव्रता तो किसी प्रकार कम नहीं होती—परन्तु इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि उनमें गांभीर्य्य की अपेक्षाकृत न्यूनता अवश्य होती है। पूर्वराग अथवा मान से अवसाद का वह गांभीर्य्य नहीं है जो प्रवास मे होता है। पहले में चाञ्चल्य है, दूसरे में अस्थिरता है–जिसका जन्म निष्ठा के अभाव से होता है। इसीलिए स्वभाव से गंभीर आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल को नागमती और सीता का प्रवास–जन्य विरह ही ग्राह्य हुआ—क्रीड़ारत गोपियों का मान उन्हें खिलवाड़ ही लगा।

जैसा क आरम्भ में ही स्पष्ट किया गया है रीतिकाव्य में गंभीर जीवन-दृष्टि का अभाव था। उसके शृंगार में प्रेम की एकनिष्ठता न होकर विलास और रसिकता का प्राधान्य था। अतएव स्वभावतः ही उसका विरह भी अगंभीर है। रीतिकाल के कवि सामान्यतः प्रवास-जन्य विरह-गांभीर्य्य का वर्णन करने में इतने सफल नहीं हुए हैं जितने कि खण्डिता के मान आदि के वर्णन मे। कारण यह है कि उनकी सहज रसिक वृत्ति इस प्रकार के प्रसंगों के ही अधिक अनुकूल पड़ती थी। वैसे इस प्रकार की परिस्थितियों में भी तीव्रता की कमी नही है; परन्तु यह तीव्रता ईर्ष्या और अतृप्त कामोद्दीपन की तीव्रता है। यह भूखे शरीर की ही तीव्रता अधिक है। गभीर वियोग-पीड़ा का प्रसंग जहाँ आता है, वहाँ रीतिकालीन कवि अनुभूति के विफल हो जाने के कारण ऊहा, अतिशयोक्ति आदि परम्परा-भुक्त साधनों के द्वारा ऐसे चित्र उपस्थित करता है जो मज़ाक बन जाते हैं। बिहारी के विरहज्वाल वाले दोहे इसके अकाट्य प्रमाण हैं।

देव के विषय में ये आरोप सत्य नहीं हैं। इसमे सन्देह नही कि उनके पूर्व-राग और विशेषकर खण्डिता के वर्णन अपूर्व हैं, परन्तु विरह की गंभीर अवस्थाओं तथा मनोदशाओं का अंकन करने में भी वे उतने ही सफल हुए है। यह कवि पीड़ा की गहरी अनुभूतियों से परिचित था, इसलिए इसे अतिशयोक्ति और ऊहा पर ही निर्भर नहीं रहना पड़ा।

विरह की परिस्थिति में कृशता को लेकर कवियों ने अनेक प्रकार के विधान बांधे हैं। बिहारी के कतिपय दोहे—उर्दू, फ़ारसी के बहुत से शेर इस प्रसंग में बदनाम हैं—और वास्तव मे इस योग्य भी हैं। देव ने व्याधि-जन्य कृशता के कुछ चित्र अंकित किए हैं—उनमें अतिशयोक्ति का भी उपयोग किया है, परन्तु अनुभूति का साहचर्य्य होने के कारण कहीं भी प्रसंग की गंभीरता नष्ट नहीं हुई :—

लाल बिदेश बियोगिनि बाल, बियोग की आगि जई झुरि झूरी।
पान सों पानी सों प्रेम कहानी सो, प्रान ज्यों प्रानन यों मति हूरी।
देवजू आजुहि ऐबे की औधि, सु बीतति देखि बिसेखि बिसूरी।
हाथ उठायो उड़ाइबे को उड़ि काग गरे परी चारिक चूरी।

उपर्युक्त छंद में भाव की सरसता और अतिशयोक्ति की शक्ति दोनों के सहयोग से एक ऐसी तीव्रता आगई है जो 'कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।'

(कालिदास—मेघदूत)

अथवा

'कंचन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम।'–(केशव, रामचन्द्रिका)
जैसी युक्तियों में भी नहीं है।

विरह की आग विकलता और ताप के वर्णनो भी देव ने भावना की गंभीरता और स्वाभाविकता को ही अभिव्यक्त किया है—उनकी तीव्रता भी अनुभूति पर आश्रित है, अलंकार के चमत्कार पर नहीं :—

बालम-बिरह जिन जान्यो न जनम-भरि,
बरि बरि उठै ज्यों-ज्यो बरसै बरफ राति।
बीजन डुलावत सखी-जन त्यो सीत-हू मैं,
सौति के सराप, तन-तापन तरफराति।
देव कहै, साँसन ही अँसुआ सुखात, मुख
निकसै न बात, ऐसी सिसकी सरफराति।
लौटि लौटि परति करौंट खाट-पाटी लै-लै,
सूखे जल सफरी ज्यो सेज पै फरफराति।

वियोग-पीडा का पहला ही अनुभव है—उसके ऊपर ईर्ष्या-दग्ध सपत्नी का शाप है। गर्म श्वासों के कारण आंसू सूख गए हैं, कण्ठ के स्तम्भित होने से स्वर सिसकी मे परिणत हो गया है, बात भी मुख से नहीं निकलती, बेचारी खाट पर पड़ी हुई एक पाटी से दूसरी पाटी तक करवटें बदल रही है मानो जल के सूख जाने पर मछली तड़फड़ा रही हो। —ऐसी परिस्थिति में यदि जाडे की रात मे भी उसका संतप्त तन मन जल उठता है—और शीतल उपचारों से भी शांत नहीं होता तो

इसमें आश्चर्य ही क्या ? वास्तव में विरह के तीव्र वैकुव्य का इससे अधिक स्वाभाविक और सटीक वर्णन नहीं हो सकता। यहां ऊहा को भी स्वाभाविकता के पाश में बांध दिया गया है।—देव के विरह की गंभीरता ताप पर ही समाप्त नहीं होती। उन्होंने मरण तक का वर्णन बड़े कौशल के साथ, चमत्कार के लिए भाव का किसी प्रकार भी बलिदान न करते हुए—तथा कारुण्य की पूर्ण रक्षा करते हुए, किया है—

सांसन हीं सों समीर गयो अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तन की तनुता करि।
जीव रह्यो मिलिबेई की आस,कि आस हु पास अकास रह्यो भरि।
जादिन ते मुख फेरि, हरे हँसि, हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि।

उपर्युक्त छंद के भाव-सौन्दर्य्य की व्याख्या के लिए, यहां हम प्रसिद्ध देव-मर्मज्ञ पं० कृष्ण-बिहारी मिश्र के शब्दों को उद्धृत करने का लोभ-संवरण नहीं कर सकते :—

"मनुष्य शरीर पंचतत्व (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) निर्मित है। देव जी कहते हैं—मुख घुमाकर, ईषत् हास्यपूर्वक जिस दिन से हरिजू ने हृदय हर लिया है, उस दिन से सम्मिलन मात्र की आशा से जीवन बना है (नहीं तो शरीर का ह्रास तो खूब ही हुआ है।) उसासें लेते, लेते वायु का विनाश हो चुका है, अविरल अश्रु-धारा-प्रवाह से जल भी नहीं रहा है ; तेज भी अपने गुण-समेत विदा हो चुका है, शरीर की कृशता और हलकापन देखकर जान पड़ता है कि पृथ्वी का अंश भी निकल गया, और शून्य आकाश चारों ओर भर रहा है, अर्थात् नायिका विरह-वश नितांत कृशांगी हो गई है। अश्रु-प्रवाह और दीर्घोच्छ्वास अपनी चरम सीमा पर पहुंच गए है। अब उनका भी अभाव है। न नायिका साँसें लेती है, और न नेत्रों से आँसू ही बहते है। उसको अपने चारों ओर शून्य आकाश दिखलाई पड़ रहा है। यह सब होने पर भी प्राण-पखेरू केवल इसी आशा से अभी नहीं उड़े हैं कि संभव है, प्रियतम से प्रेम-मिलन हो जाय; नहीं तो निस्तेज हो चुकने पर भी जीवन शेष कैसे रहता ?

[देव और बिहारी १९९४, पृ० २१०]

अब खण्डिता के प्रसंग पर आइये। खण्डिता के चित्र, रीतिकाल में, देव से अच्छे शायद ही किसी कवि ने अंकित किए हों। उनकी अभिव्यक्तियों में विवशता की करुणा और व्यंग्य की चमक है :—

देव जु पैं चित चाहिए नाह तो नेह निबाहिए देह मर्‌यो परै ;
त्यों समुझाइ सुझाइए राह अमारग जो पग धोखे धर्‌यो परै ;

नीके मैं फीके ह्वै आंसू भरौ कत,ऊंची उसास गरो क्यों भर्यो परै,
रावरो रूप पियो अंखियान भर्यो सु भर्यो उबर्यो ढर्यो परै ।

नायक रात अन्यत्र बिताकर प्रातः नायिका के पास आया है। उसे अपने अपराध का ज्ञान है, आते ही नायिका को चिकनी चुपड़ी बातों से भुलाना चाहता है। नायिका भी गंभीर होकर कहती है कि हमारा तो यह नियम है कि मरण के उपरांत भी पति के प्रति प्रेम का निर्वाह करना चाहिए। अतएव मन में यदि कभी विरोधी भावना आती भी है तो उसे दूर कर दिया जाता है। नायक को थोड़ा सहारा मिलता है और वह पूछता है कि यदि ऐसा है तो फिर मुख की कांति फीकी क्यों है, आंखों में आंसू क्यों भर रहे हैं, गला क्यों भरा हुआ है? इसपर नायिका समस्त पीड़ा को व्यंग्य में संकलित करती हुई, उसी संयम और गंभीरता के साथ, वाणी में किसी प्रकार का भी परिवर्तन न कर, उत्तर देती है :––आज आपकी छवि में कुछ विशेष माधुर्य है, इतना अधिक कि इन आंखों में समाता ही नहीं। ये आंसू नहीं है––तुम्हारी रूप-माधुरी ही है जो आंखों में न समाकर बाहर बही जा रही है।–व्यंग्य कितना करुण-मधुर है। ऐसी उक्तियाँ देव में बहुत मिल जाएंगी–

१–प्यारे पराये को कौन परेखो गरे परिं कौं लगि प्यारी कहैये ।
२–पतिव्रत-व्रती ये उपासी प्यासी अँखियन,
प्रात उठि प्रीतम पियायो रूप पारनो ।

कहीं कहीं यह व्यंग्य अत्यंत सूक्ष्म हो गया है—

रावरे पायन ओट लसै पग गूजरी बार महावर ढारे ।
सारी असावरी की झलकै, छलकै छवि घांघरे घूम घुमारे ।
आओ जू देव दुराओ न मोहिंसों देव जू चंद दुरै न अँध्यारे ।
देखौ हो कौनसी छैल छिपाई तिरीछै हँसे वह पीछे तिहारे ।

और, कही व्यंग्य का सर्वथा लोप ही होगया है, केवल करुण-दीनता रह गई है :—

साथ में राखिये नाथ उन्हें, हम हाथ में चाहति चारि-चुरी ये ।

शृंगारिक अनुभूति—

संयोग-वियोग के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देव की शृंगारिक अनुभूति का धरातल बहुत गहरा था। प्रेम का उन्हे अत्यन्त गम्भीर अनुभव था। इसी कारण उनकी अभिव्यक्तियों मे विशेष आवेग और आवेश मिलता है जो रीति-कालीन कवियों के लिए साधारणतः सम्भव नहीं था। रीति के बंधन में बंध जाने से, और उधर विवेचन का अंग होने के कारण अनिवार्यतः थोड़े-से बौद्धिक-तत्व का मिश्रण हो जाने से, रीति-कवियों का आवेग आबद्ध और संयमित

हो जाता था। उसमे आवेश के पूर्ण उद्‌गार के लिए अवकाश नहीं रह जाता था। परन्तु देव मे ये सभी बंधन होते हुए भी भावना की गम्भीरता और ऊष्मा नष्ट नहीं हुई। उनके उद्‌गारों में, स्वतंत्र गीत-कवियों के जैसा ही उन्मुक्त प्रवाह मिलता है :—

मद मुरझाय लै समाय जी में ज्याय लै रे प्याइले पीयूष प्यासी अधर सुधा की हौं। मेर सुखदाई दे रे देवजू दिखाइ नेकु एरे ज-भूप तेरे रूप इस छाकी हौं।

वास्तव मे समस्त परकीया-प्र ंग में ही जैसे कवि ने आवेग का बांध तोड़ दिया है :—

'कैसी लाज कैसो काज कैसो धौं सखी समाज, कैसो घरु कैसो वरु कैसो डरु कैसी कानि।' 'ऐसे निरमोही सदा मोही मे बसत अरु मोहीं ते निकसि फेरि मोहीं न मिलत हौ।'

आप देखिए कि यह आवेश वाणी का हलका आवेश नहीं है—इसके अन्तर मे गम्भीर अनुभूति का भार है। आवेश और गम्भीरता के इसी मिश्रण से देव की रसानुभूति में एक विशेष तन्मयता आ गई है; और यह उसका दूसरा प्रधान गुण है। इस कवि की सम्पूर्ण चेतना जैसे प्रेम-रस में निमग्न हो जाती थी। यही तल्लीनता वास्तव में भाव योग की अवस्था है—और यही कविता की मूलात्मा है। शास्त्र में इसी को रस-दशा कहा गया है।

औचक अगाध सिन्धु स्याही को उमडि आयो, तामैं तीनों लोक बूडि गये एक संग मैं। कारे कारे आखर लिखे जु कारे काजर, सु न्यारे करि बांचै कौन जांचै चित्त-भंग मैं। आंखिन मे तिमिर अमावस की रैन जिमि, जम्बूरस बुंद जमुना जल तरंग मै। यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई, स्याम रंग ह्वै करि समानो स्याम रंग मै।

देव की रस-चेतना का यही सहज धरातल है। सूक्ष्मता अथवा तीक्ष्णता का उसमें अभाव हो यह बात नहीं, परन्तु मतिराम की तरह सूक्ष्म-तरल भावनाओ से खेलना, अथवा बिहारी की तरह पैनी दृष्टि डालकर सौन्दर्य के वस्तु-तन्तुओं को पकडना उसकी प्रकृति में नही है। गम्भीर आवेग मे एक प्रकार की संकुलता अनिवार्य्य है, और निश्चित ही देव की रस-दृष्टि में वाञ्छित स्वच्छता सर्वत्र नही मिलती। आचार्य शुक्ल को जो देव से पेचीले मज़मून बांधने की शिकायत है, वह बेजा नहीं हैं, परन्तु सका कारण कवि की चमत्कार-प्रियता इतनी नहीं हे जितना कि आवेग को उसकी संपूर्ण गम्भीरता और तन्मयता के साथ शब्दों मे बांधने का प्रयत्न ।

देव की वैराग्य-भावना और तत्त्व-चिंतन

शृंगार रस में आपाद-चूड़-मग्न यह कवि वैराग्य की भी गहरी भावना से ओत-प्रोत था, और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वास्तव में बाह्यतः विरोधी इन भावनाओं की सीमाएं तत्वतः एक दूसरे से मिली हुई हैं, और मनोविज्ञान की दृष्टि से विराग कोई स्वतन्त्र भाव न होकर राग का रूपान्तर ही है।

साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से देव की ये कविताएं शांत रस के अन्तर्गत आती हैं। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में इस रस की स्वतन्त्र सत्ता के विषय में बहुत विवाद रहा है। साधारणतः शांत रस का स्थायी भाव शम माना गया है; तत्वज्ञान, तप, चिंतन आदि विभाव हैं, काम, क्रोध आदि के अभाव अनुभाव हैं; धृति, मति आदि व्यभिचारी हैं। परंतु इनके विरोध में कुछ प्रबल युक्तियां उपस्थित की गई हैं। एक तो तत्व-ज्ञान, तप, चिंतन आदि शांत रस की उद्‌बुद्धि उग्र रूप में नहीं करते जिस रूप में बसंत, पुष्प आदि शृंगार की उद्‌बुद्धि करते हैं। दूसरे काम, क्रोध आदि के अभाव अनुभाव कैसे हो सकते हैं? तीसरा प्रश्न स्थायी भाव का है—क्या शम कोई स्वतन्त्र भाव है? यदि है तो उसका क्या स्वरूप अथवा धर्म है? विरोधी आचार्यों का मत है कि वह कोई स्वतन्त्र भाव नहीं है—तभी तो भरत ने ४९ भावों में उसकी गणना नहीं की। उसमें यदि आत्मा के प्रेम की प्रधानता है तो वह रति से भिन्न नहीं है; यदि संसार के प्रति तिरस्कार-भाव की प्रधानता है तो वह जुगुप्सा से भिन्न नहीं है, यदि प्राणियों के प्रति दया भाव अथवा सत् के प्रति उत्साह मुख्य है तो उत्साह के विभिन्न रूपों में और उसमें क्या अन्तर है? इसी प्रकार सृष्टि के वैचित्र्य के प्रति विस्मय अथवा विविध दुःख से संतप्त मानवता के प्रति करुणा भी क्रमशः विस्मय और शोक के अंतर्गत आ जाती है। कुछ पण्डितों का मत है कि शांत का स्थायी भाव निर्वेद है। परन्तु इसका उत्तर यह है कि निर्वेद से तत्वज्ञान की उद्‌बुद्धि होती है शांत रस की नहीं। अन्त में शम को अभावात्मक मानकर भी उसका विरोध किया गया है।

इसके विपरीत आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त आदि आचार्यों का मत है कि जिस प्रकार शेष आठों रस धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों से सम्बद्ध हैं, इसी प्रकार शांत रस भी जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष से सम्बद्ध है। इसीलिए अभिनव गुप्त ने उसे प्रधान रस माना है और मम्मट आदि आचार्यों ने भी उसकी सत्ता को निर्विवाद स्वीकृत किया है। बाद में इस विषय में तो कोई विवाद नहीं रह गया कि शांत रस आस्वादन की सक्रिय स्थिति है, शांति की निष्क्रिय अवस्था

नहीं है; परन्तु उसके स्थायी भाव के विषय में थोड़ा मतभेद रहा। अभिनव गुप्त अपने जीवन में एक निस्पृह साधु थे, अतः स्वभाव से ही वे शांत रस के अत्यन्त प्रबल पृष्ठ-पोषक थे। उन्होंने शांत रस और मोक्ष का सीधा सम्बन्ध मानते हुए लिखा हैं कि 'चूंकि केवल तत्वज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतएव तत्वज्ञान ही शांतरस का स्थायी भाव है। तत्वज्ञान का अर्थ है आत्म-ज्ञान।' इस प्रकार शांत रस का स्थायी भाव अहंकार एवं राग-द्वेष से हीन, शुद्ध ज्ञान और आनन्द से ओत-प्रोत आत्म-स्थिति है। यह स्थिति चिरस्थायी है--रति, उत्साह आदि अन्य मनोदशाओं का आविर्भाव इसी में होता है। मम्मट ने बात को इतना नहीं बढ़ाया और साधारण रूप से निर्वेद को ही शांत का स्थायी माना है। निर्वेद दो प्रकार का हो सकता है—एक तत्वज्ञान-जन्य; दूसरा इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न। इनमें पहला स्थायी है, दूसरा संचारी। इस प्रकार मम्मट के अनुसार तत्वज्ञान-जन्य निर्वेद ही शांतरस का स्थायी भाव है।

> "स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्वज्ञानाद्भवेद्यदि; इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ।" [काव्यप्रकाश]

विश्वनाथ ने शांत का स्थायी शम माना है, और उसकी व्याख्या करते हुए निम्नलिखित श्लोक दिया है :—

> न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
> रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः॥
>
> [साहित्यदर्पण]

इसके अनुसार शम वह स्थिति है जिसमें न दुःख का अनुभव होता है न सुख का, न जिसमें रागद्वेष की ही स्थिति सम्भव है, न कोई अन्य इच्छा ही। सुख इस स्थिति में भी होता है, परन्तु वह विषय-जन्य सुख नहीं होता—आत्मानन्द का सुख होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय शास्त्र शम को एक आध्यात्मिक अनुभव मानता है—उसे चाहे निर्वेद कह लीजिए चाहे आत्म-ज्ञान। उसके लिए आत्मा एक सहज सत्य था, अतएव उसको यह सब कुछ समझने समझाने में विशेष कठिनाई नहीं होती थी, परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान के लिए इस मनोदशा की व्याख्या करना सरल नहीं है। मनोविकारों के मूलाधार रूप में एक चेतना का अस्तित्व वह भी स्वीकार करता है, परन्तु मनोविकारों से निर्लिप्त उसकी सहज, परन्तु सक्रिय आत्म-सुख-रूपिणी स्थिति क्या हो सकती है, यह वह नहीं कह सकता। मनोविज्ञान के अनुसार इस मनःस्थिति विशेष के केवल दो रूप ही हो सकते हैं। साधारण रूप में तो वह राग की क्लान्ति ही है, अर्थात् राग ही अपनी तीव्रता

से थक कर वैराग्य में परिणत हो जाता है। विशेष रूप में, वह अहं के ही आस्वादन का एक प्रकार है। जब हमारी वृत्तियां किसी सूक्ष्म एवं महत्तर अथवा अलौकिक लक्ष्य—उदाहरण के लिए परमात्म-चिंतन अथवा तत्वान्वेषण पर केन्द्रित हो जाती हैं, तो भौतिक सुखों के प्रति स्वभावतः ही हमारे हृदय में उदासीनता एवं तिरस्कार की भावना उत्पन्न हो जाती है। वह उदासीनता और तिरस्कार का मिश्र भाव यहाँ अहं के संवर्धन में योग देने के कारण (द्वेष का अंश रखते हुए भी) दुःखमय न होकर सुखमय ही होता है। इस भावना का सीधा सम्बन्ध आत्म-विस्तार के सुख से है। भारतीय दर्शन में इसे ही 'भूमा' का सुख कहा गया है। मनोविश्लेषक इसे आत्म-रति❀ का एक परिष्कृत रूप कहेगा।—परन्तु यह न समझना चाहिए कि ऊपर कहे हुए इन दोनों रूपों की स्थिति सर्वथा पृथक है। प्रायः ये एक दूसरे से मिले रहते हैं—प्रायः इन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध रहता है। सांसारिक मनुष्य साधारणतः अतिशय राग से थक कर ही तत्वान्वेषण अथवा परमात्म-चिंतन की ओर प्रवृत्त होते हैं। अस्तु !

देव का वैराग्य मूलतः अतिशय राग की प्रतिक्रिया ही है—उनका तीव्र राग ही क्लान्त होकर वैराग्य में परिणत होगया है। यह बात नहीं है कि तत्व-चिंतन उनमें नहीं है—वास्तव में उनके काव्य में अत्यन्त गंभीर आत्म चिंतन मिलता है—परन्तु वह उनकी सहज प्रवृत्ति नहीं थी। विपरीत परिस्थितियों से आहत होकर, तथा राग के तीव्र उपभोग से थक कर ही वे स्व-चिंतन की ओर प्रवृत्त हुए थे।

राग की क्लान्ति :—देव में जो राग की क्लांति मिलती है वह वैयक्तिक के साथ साथ सामाजिक भी। जातीय जीवन का वह आवेग जो वीरगाथाकाल के भौतिक संघर्ष से उत्पन्न हुआ और भक्ति-काल के आध्यात्मिक संघर्ष के कारण गंभीरतर हो गया था—मुग़ल-राज्य की व्यवस्थित शान्ति के उपरांत रीतिकाल में आकर क्लांत हो चुका था। उच्चतर अभिव्यक्ति से वंचित जीवन ऐन्द्रिय उपभोग में ही इच्छाओं को डुबा रहा था, और उसी से थक जाता था। इसीलिए तो इस युग के सम्पूर्ण साहित्य में शृंगार की चहल-पहल के पीछे एक प्रकार की क्लांति का अवसाद भी मिलता है जो उस समय कभी भी ऊपर उभर आया करता था। देव की व्यक्तिगत परिस्थिति भी कुछ ऐसी ही थी। स्वभाव से अत्यन्त रागी यह व्यक्ति विषम परिस्थितियों से आहत था। इतना तीव्र राग एक तो अतिशय उपभोग के कारण वैसे ही अपने प्रति विद्रोह कर उठा होगा। फिर परिस्थितियों ने भी उसे काफी झटके दए। नसर्गतः व क्लांति, पराजय, आत्म-भर्त्सना युक्त वैराग्य में

❀ Narcissism

परिणत हो गया। राग की यह थकान देव की वैराग्य-कविता में अत्यन्त स्पष्ट है :—

(१) हाय कहा कहौं चंचल या मन की गति में मति मेरी भुलानी।
हौं समुझाय कियो रस-भोग न देव तऊ तिसना बिनसानी॥
दाडिम दाख रसाल-सिता मधु ऊख पिये औ पियूष से पानी।
पै न तऊ तरुनी-तिय के अधरान के पीबे की प्यास बुझानी॥

रस-भोग की यही प्रतिक्रिया उचित आश्रय-दाता के अभाव मे आर्थिक विफलता के कारण और भी गहरी हो गई थी। जीवन के सभी प्रकार के विषय-भोग से कवि को विरक्ति हो गयी थी।

(२) ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ, पांव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नर-नाहन की नाहीं
सुनि, नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतो देव चंचल अचल करि,
चाबुक चिताउनीनि मारि मुंह मोरतो।
भारो प्रेम-पाथर नगारो दै गरे ते बांधि,
राधावर-बिरद के बारिधि में बोरतो।

बस, यही क्लांति, यही वैफल्य कवि को तत्व-चिंतन की ओर प्रेरित कर देता है।

तत्वचिन्तन :—अभिनवगुप्त ने तत्व-ज्ञान को शांत रस का स्थायी मानते हुए उसे ही सभी रसों का आधार माना है। इसी सिद्धांत की व्याख्या डा० भगवानदास ने अपने रस-मीमांसा लेख में अत्यन्त सुचारु ढंग से की है। 'इस महारस में अन्य सब रस देख पड़ते हैं, सबका समुच्चय है। श्रेष्ठ और प्रेष्ठ अंतरात्मा परमात्मा का (अपने पर) परमप्रेम, महाकाम, महाशृंगार, ('अकामः सर्वकामो वा:…'), संसार की विडम्बनाओं का उपहास, संसार के महातमस् अंधकार में भटकते हुए दीन जनों के लिए करुणा ('संसारिणां करुणयाऽऽह पुराण-गुह्यम्'), षड्रिपुओं पर क्रोध ('क्रोधे क्रोधः कथं न ते'), इनको परास्त करने, इन्द्रियों की वासनाओं को जीतने, ज्ञान-दान से दीन जनों की सहायता करने के लिए उत्साह ('युयोध्यस्मज्जुहराणमेनः'), अन्तरारि षड्रिपु कहीं असावधान पाकर विवश न करदें इसका भय ('नरः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च।'), इन्द्रिय के विषयों पर और हाड़ मांस के शरीर पर जुगुप्सा ('मुखं

लालाक्लिन्नं पिबति चषकं सासवमिव······अहो मोहान्धानां किमिव रमणीयं न भवति'), और क्रीडात्मक लीला-स्वरूप अगाध अनंत जगत का निर्माण विधान करनेवाली परमात्मा की (अपनी ही) शक्ति पर महाविस्मय (त्वमेवैकोऽस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः······।') —सभी तो इस रम्ग के रसन के अंतर्भूत है।"

देव का तत्व-चिंतन प्रतिक्रिया का परिणाम होते हुए भी अत्यन्त गंभीर है। उसमें उपर्युक्त प्रायः सभी रूपों का भावपूर्ण वर्णन है; परन्तु क्रम थोड़ा भिन्न है। देव ने वैराग्यशतक में तत्व-ज्ञान के चार सोपान रखे हैं। पहला जगद्दर्शन है—सबसे पूर्व तो मायाच्छन्न जगत् की वास्तविकता का ज्ञान ही अनिवार्य है। विभिन्न नाम-रूपमय यह जगत्—जो शतशत आकर्षणों से मानव मन को वशीभूत कर लेता है, वास्तव में माया का ही चमत्कार है। माया की शक्ति अपार है, उसका वैभव अपरिमेय है:

जाही की सकति एक पुरुष पुराण दोऊ,
अस्विनी कुंवर तीन्यौ दानव दुवन पर।
चार्यौ जुग पांचौ भूत, छहौ ऋतु,
सातौ सिंधु, आठौ वसु, नवो ग्रह निग्रह दवन पर।
दसहूँ दिगीस ईस येकादस, दिनकर,
द्वादश, त्रयोदस समुद्र के सुवन पर।
मानत प्रमान देव माया जू की आन आन,
आन चरचा न चलै चौदहो भुवन पर॥

—ऐसा है माया का प्रभाव। एक पुरुष पुराण, दो अश्विनीकुमार, तीन दानव, चार युग, पांच भूत, छः ऋतु, सात सिन्धु, आठ वसु, नव ग्रह, दश दिशाएं, एकादश ईस (रुद्र), द्वादश सूर्य, त्रयोदश चन्द्र, चौदह भुवन-सभी उसके वशीभूत हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक माया का ही शासन है, बेचारे मनुष्य की तो हस्ती ही क्या?—परन्तु माया तो स्वयं ही असत्य है। जबतक मनुष्य इससे आच्छन्न रहता है, वह इस मृगतृष्णा के पीछे पागल होकर दौड़ता रहता है। जहां माया का 'मड़ा'—आवरण हटा, उसे इस संसार की असलियत का पता चलने लगता है। विश्व का यह समस्त वैभव—उसके सभी सुख-भोग, उसका राशि-राशि सौन्दर्य, सभी क्षणिक है। मनुष्य का रूप, गौरव, उसकी शक्ति, अहंकार, सभी कितना क्षण-भंगुर—और अपनी क्षण-भंगुरता में कितना करुण है।

देव अदेव बली बलहीन चले गये, मोह की हौस हिलाने।
रूप कुरूप गुनी निगुनी जे जहां; उपजे तें तहां ही बिलाने॥

—मृत्यु के आगे न मनस्वियों की चलती है, न अभिमानियों की, न बलवानों की और न वैभव-पतियों की; न सम्राट ही उससे बच पाते हैं और न कवीश्वर ही। अकबर जैसे सम्राट, तानसेन जैसे गुणी, केशव-गंग जैसे कवि काल के मुख मे समा गए—

एक दल सहित बिलाने एक पल ही मे,
एक भये भूत एक मींजि मारे हाथी नै।

परन्तु फिर भी जीव मोह से अन्धा होकर विषयो के पीछे पागल दौड़ता रहता है।

आपुन काल के जाल पर्यौ अरु चाहत और की राज सिरी को।

× × ×

हो तकौं स्वान को स्वान-बिली को बिली तकै चूहा को चूहा रिरी को।

कैसी विडम्बना है! यह सम्पूर्ण प्रपञ्च ही कितना उपहास्य है!

परिणाम यही होता है कि 'मन की मिटी न तौ लौं आप ही मिटि रह्यौ।' बस जगत और जीवन की ये ही करुण विडम्बनाएं कवि को उनके वास्तविक रूप का दर्शन करा देती है और वह अपने ज्ञान-चक्षुओं से देखता है कि अनंत ऐश्वर्य्य से मण्डित इस जगत् और अपार वैभव से पूर्ण इस जीवन का सच्चा स्वरूप यह है :—

बागो बन्यो जरपोस को तासहि ओस को तार तन्यो मकरी ने।
पानी से पाहन पोत चले चढ़ि, कागद की छतरी सिर दीने।
कांख मै बांधिकै पाँख पतग के देव सुरंग पतंग को लीने।
मोम को मंदिर माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन दीने।

बस उसे निश्चय हो जाता है कि—

हौं ही तौलौं लोक जब हौ न तब कौन जानै,
काहे को जगत कछू मेरो ही भरम है।

यह अनुभव फिर उसे आत्म-दर्शन की ओर प्रेरित करता है। आत्मा अजर अमर है—सांसारिक सुख दुःख, उत्थान पतन, उसको नहीं व्यापते। मनुष्य अज्ञानवश इन विषमताओ से त्रस्त रहता है, परन्तु जब उसे आत्म-रूप का दर्शन हो जाता है तो वह सोचता है कि,

काहु न मार्यो मर्यो सो फिर्यो, पकरायो न काहू फिर्यो पकर्योसो।
जैसो को तैसो तऊ किनसो कहु, कौन के सोक रहे सकर्यो सो?

अंत मे वह अनुभव करता है कि वास्तव में वह अपने ही कौतुक में भूला हुआ है—

काहू की बात कहा कहौं देव हौं आपही आपने कौतुक भूल्यो।

अपने को वह इतना साधारण माने बैठा है, परन्तु वास्तव में वह इस विश्व का सार है। तीनों लोकों का अधिकार उसी के हाथों में है, वही महाराजाओं का राजा है। आठों सिद्धि नवों निधि उसी के भाग्य में लिखी हैं :—

तेरो घर घेरो आठौ याम रहै आठौं सिद्धि,
नवो निधि तेरे विधि लिखिये ललाट हैं।
देव सुख साज महाराजन को राज तुही,
सुमति सु सो ये तेरी कीरति के भाट हैं।
तेरे अधीन अधिकार तीनो लोक को,
सुदीन भयो क्यों फिरै मलीन घाट बाट हैं।

तत्व-ज्ञान की तीसरी स्थिति है परम तत्व अर्थात ब्रह्म का अनुभव, जो आत्म-ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करते ही मनुष्य को आप से आप हो जाता है। आत्मा की महत्ता का ज्ञान होते ही उसको यह चेतना होती है कि :—

तो मैं जो उठत बोलि ताहि क्यों न मिलै डोलि;
खोलिए हिए में दिए कपट—कपाट हैं।

—अर्थात् तेरे अन्दर जो बोल रहा है—जो तेरी प्राण-शक्ति है, हृदय के कपाट खोलकर तू उससे क्यों नहीं मिलता। वही तो परम-तत्व है, समस्त संसार का उद्भव और लय उसी से है। सभी कुछ उसी के अंतर से उद्भूत हुआ है, और अंत में उसी मे समा जाएगा! सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में बाहर भीतर, ऊपर-नीचे वही परम तत्व तो आकाश की भाँति व्याप्त है :—

अंतर जाके निरंतर ते उपजे बिनसे तिन मांहि समाई।
बाहर भीतर सो अध ऊरध पूरि रह्यो सु अकास की नाईं।

इस परम तत्व का साक्षात्कार होते ही वह विस्मय से विभोर होकर देखता है ईश्वर की विराट मूर्ति को, जो ब्रह्माण्ड को घेरे हुए विराजमान है। आकाश उसका मन्दिर है, पृथ्वी उसकी पीठिका है, समीर चंवर डुला रहा है।—कवि का मन उसका पूजन करने को आगे बढ़ता है। सप्त सिन्धु और अगणित सरिताओं के जल से वह उसे स्नान कराता है, सम्पूर्ण पृथ्वीतल के सुगंधित फल-फूलों से उसकी अर्चना करता है, अनंत अग्नियां प्रज्वलित कर—समस्त ज्योतिखण्डों के

धूप-दीप जला कर उसको नीराञ्जन करता है। उधर नैवेद्य के लिये विश्व का सारा अन्न ही उपस्थित है—

देव नभ-मंदिर मे बैठार्यो पुहुमि-पीठ,
सिगरे सलिल अन्हवाय उमहत हौं।
सकल महीतल के मूल-फल-फूल-दल,
सहित सुगंधन चढावन चहत हौं।
अगिनि अनंत, धूप-दीपक, अनन्त ज्योति,
जल-थल-अन्न दै प्रसन्नता लहत हौं।
ढारत समीर चौंर, कामना न मेरे और,
आठौ जाम राम तुम्हें पूजत रहत हौं।

बस उसके नेत्रों के क्षुद्र छिद्रों में से शोभा का समुद्र उमड़ पडता है—"शोभा को समुद्र छुद्र छिद्रनि उमड़ि पर्यो।" और वह कोटि-कोटि नेत्रों से देखता है कि चारो ओर प्रिय के मुखचन्द्र का रूप फैला हुआ है—उससे आनन्द की वर्षा हो रही है :—

व्यापि गयो रूप कंत मुख को अनन्त सुख,
कोटि कोटि आंखैं इन आंखिन मैं ह्वै रहीं।"

वेदांती के लिए यही परम स्थिति है—परन्तु भक्त इतने से सन्तुष्ट नहीं होता। उसके लिए अन्तिम स्थिति प्रेम की ही है—जहाँ वह अपने को परम प्रेय में लीन कर देता है। वास्तविक द्वैत यहीं मिलता है। प्रेम के सागर मे डूब कर फिर कौन उबर सकता है :—

जाके मदमात्यो न उमात्यो कोई कहूँ, जहाँ,
बूड्यो उछर्यो न तर्यो सोभा-सिन्धु साम है।
पीवत ही जाहि जोई मर्यो सो अमर भयो,
बौरान्यो जगत जान्यो मान्यो सुख-धाम है।

यह प्रेम ही जीवन का चरम ध्येय है—इसका दुःख भी परम सुखमय है। मोक्ष का सुख भी इसके सामने तुच्छ है।

हाय हाय काहे को तितेक दुख देखती जौ,
पीतम मिलै को हौं इतके सुख जानतीं।

यहाँ आनन्द का सागर लहराता है—जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड मग्न हो जाता है और प्रेमी का व्यक्तित्व उसमें निःशेष होकर खो जाता है :—"स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग में।" देव गद्गद् होकर ऐसे प्रेमरस को प्रणाम करते हैं।

देव प्रेमी भक्त थे—निदान उन्होंने भी तत्व-ज्ञान की चरम परिणति प्रेम में ही मानी है। साधारणतः तत्व-बोध, सम-बुद्धि, मोह का नाश, जगत की असारता आदि शांत रस अथवा वैराग्य के सभी तत्वों को उन्होंने स्वीकार किया है :—

तत्व-बोध सम सत्व मति, छूटे मोह ममत्व।
सान्ति बाढ़ि रस सान्त जहँ, जानै जगत अतत्व॥

परन्तु शांत रस का सार नित्य चैतन्य ईश्वर से सम्बन्ध ही है। यह सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है।

एक अनन्य, दूसरा शरण। अनन्य का दूसरा नाम भक्ति है, और शरण्य का दूसरा नाम ही प्रेम है। यह ठीक है कि आन्तरिक निर्वेद विकसित होकर ज्ञान और वैराग्य में परिणत हो जाता है. परन्तु प्रेम और भक्ति की मीठी लगन के बिना वह रूक्ष और तुच्छ ही है :

आन्तरस सु निर्वेद बढ़ि होत ज्ञान वैराग।
रौंछ तुच्छ सु है बिना प्रेम भक्ति की लाग॥

विश्लेषण :—ऊपर देव की आध्यात्मिकता का दिग्दर्शन मात्र किया गया है—उसके वास्तविक स्वरूप को ग्रहण करने के लिए विश्लेषण अनिवार्य है। जहाँ तक उनके वैराग्य पक्ष का सम्बन्ध है, यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होती कि वह अतिशय रागोपभोग की परिश्रांति एवं सांसारिक जीवन की असफलताओं की प्रतिक्रिया थी। वैराग्य राग का सहचारी भाव है, अंतर्वृत्तियों के थोड़े से ही उलट-फेर से हमारी अनुरक्ति विरक्ति मे परिणत हो जाती है। परन्तु देव की आध्यात्मिकता के विषय मे यह प्रश्न अवश्य उठता है कि क्या वह उनकी सहज अनुभूति थी, अथवा उस अनुभूति का बुद्धि द्वारा ग्रहण-मात्र? भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मा की स्वतंत्र सत्ता मानते हुए उसी दृष्टि से आध्यात्मिक अनुभूति को एक स्वतंत्र अनुभूति मान भी लिया जाए, तो भी यह प्रश्न अवश्य उठता है कि क्या वास्तव मे देव को ऐसी दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई थी कि,

नाक, भू, पताल, नाक-सूची ते निकसि आए,
चौदहो भुवन भूखे भुनगा को भयो हेत।
चींटी-अंड-मंड में समान्यो ब्रह्मण्ड सब,
सपत समुद्र बारि-बुंद में हिलोरें लेत।
मिलि गयो मूल थूल सूचम समूल कुल,
पंचभूत गन अनुकन में कियो निकेत।

आपही तैं आप ही सुमति सिखराई 'देव',
नख सिखराई में सुमेरु दिखराई देत ।

इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देना भ्रामक होगा क्योंकि साधना और अभ्यास के द्वारा कबीर अथवा किसी अन्य साधक भक्त या योगी को उपर्युक्त परम रहस्य का साक्षात्कार हो जाना तो समझ में आ सकता है; परन्तु देव-सदृश राग-द्वेष में लिप्त सांसारिक के लिये वह साधारणतया सम्भव नहीं माना जा सकता। और फिर इस तत्व को प्राप्त करने के बाद क्या देव को अकबर अलीखाँ के यहाँ जाने की आवश्यकता होती? ऐसी परिस्थिति मे यही निष्कर्ष निकलता है कि देव की आध्यात्मिकता मुख्यतः बौद्धिक ही थी। सर्वथा बौद्धिक उसे इस लिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्वभावतः भावुक होने के कारण कवि ने बुद्धि द्वारा गृहीत इन तत्वों को किसी सीमा तक तो भाव का विषय अवश्य ही बनाया है, और इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि ऊपर उद्धृत छन्द, या ऐसे अन्य छन्दों में रागात्मकता यथेष्ट मात्रा मे वर्तमान है। इस प्रकार देव की आध्यात्मिकता का विश्लेषण करने पर, हमें मुख्यतः दो ही तत्व मिलते है, बुद्धितत्व और रागतत्व, अध्यात्मतत्व नहीं मिलता। यह बुद्धि द्वारा गृहीत दार्शनिक सत्यो को भाव का विषय बनाने का सफल-असफल प्रयत्न है।

देव की चिन्ता-धारा

धार्मिक सिद्धांत :—देव के धार्मिक विचार अत्यन्त उदार थे। राधाकृष्ण के अतिरिक्त उन्होंने राम-सीता, शिव-पार्वती, सरस्वती, दुर्गा आदि के प्रति भी प्रगाढ़ भक्ति-भावना व्यक्त की है। शिवलिंग तो आज भी कुसमरा मे उनकी बग़ीची में स्थित है। कहा जाता है इसकी स्थापना उन्हींने की थी — और प्रातः सायं वे यही सन्ध्या-वंदन किया करते थे। उधर तत्व-दर्शन पचीसी में अद्वैतवाद के निराकार ब्रह्म के प्रति भी उन्होंने आस्था प्रदर्शित की है। परन्तु उनके काव्य की आत्मा और विभिन्न ग्रन्थों के मंगलाचरणो से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि वे वैष्णव थे, और उनके इष्टदेव राधा-कृष्ण ही थे। कुछ विद्वानो ने उनकी भक्ति-भावना को और भी संकुचित कर उन्हें गो० हितहरिवंश की शिष्य-परम्परा मे राधावल्लभीय सम्प्रदाय का अनुयायी बताया है, परन्तु इसका न तो कुछ बहिर्साक्ष्य ही मिलता है और न अन्तर्साक्ष्य ही। राधा के प्रति उनके ग्रन्थो मे कोई निश्चित झुकाव नही मिलता। जो थोड़ा बहुत है भी वह इस कारण है कि देव का काव्य शृंगारिक है, और राधा स्त्री हैं, अतएव शृंगार की सार-प्रतिमा नायिका के साथ राधा का तादात्म्य करने मे उन्हे सरलता रही है। वैसे जो छन्द शुद्ध भक्ति-भाव मे प्रेरित हैं वे कृष्ण को ही लक्ष्य कर रचे गये हैं।

कृष्ण-भक्ति के चार प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं—इनमें वल्लभ-सम्प्रदाय ही उत्तर-भारत में सब से अधिक लोकप्रिय रहा है। चैतन्य-सम्प्रदाय का सम्बन्ध बंगाल से और माध्व तथा निम्बार्क सम्प्रदायों का दक्षिण-भारत से रहा है। वल्लभ-सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार ब्रह्म माया से निर्लिप्त सर्वथा शुद्ध है।

मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्य-कारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥
[शुद्धाद्वैतमार्तण्ड]

माया के सम्बन्ध का निषेध करते हुए ब्रह्म के शुद्ध अद्वैत भाव की प्रतिष्ठा करने के कारण ही यह सिद्धांत शुद्धाद्वैत कहलाता है। शंकराचार्य ने ब्रह्म को मूलतः निर्गुण और अव्यक्त माना है—चूंकि उसका पारमार्थिक रूप अखण्ड, एक-रस और अविकारी है अतः उसका विकार या परिणाम सम्भव न होने से वह जीव और जगत् का उपादान कारण नहीं है। इसी प्रकार चूंकि वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा कामनातीत है, इसलिये वह निमित्त कारण भी नहीं है। शंकर ने ब्रह्म के दो रूप माने—एक नाम-रूप-विकार-भेदोपाधि-विशिष्ट, और दूसरा उसके विपरीत सर्वोपाधि-विवर्जित। इनमें से पहला उपाधि-विशिष्ट अर्थात् अविद्यात्मक है। अतएव वह केवल व्यावहारिक या उपासना के व्यवहार के लिये ही है। दूसरा रूप ही पारमार्थिक ब्रह्म-लक्षण है, जिसके अनुसार ब्रह्म न भोक्ता है न कर्ता—भोक्ता कर्ता की प्रतीति केवल माया अथवा विवर्त का ही परिणाम है। यह माया ब्रह्म की बीज शक्ति है। अग्नि की अपृथग्भूता दाहिका शक्ति की भांति माया भी ब्रह्म की अपृथग्भूता शक्ति है। इसके दो रूप हैं—एक आवरण, दूसरा विक्षेप। आवरण शक्ति ब्रह्म के शुद्ध रूप को आवृत कर लेती है और विक्षेप शक्ति उस ब्रह्म में आकाशादि प्रपंच को उत्पन्न कर देती है। मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत् का रचयिता है। जीव के विषय में शंकर का सिद्धांत है कि वह परब्रह्म का व्यपदेश होने के कारण अणु रूप नहीं वरन् विभु रूप है। परब्रह्म के साथ स्वाभाविक ऐक्य होने के कारण उसको भी नित्य चैतन्य मानना पड़ेगा। वह स्वयंसिद्ध, ज्ञान-रूप है। वैष्णव आचार्यों ने, विशेषकर वल्लभ ने शंकर के मायावाद का खण्डन करते हुए ब्रह्म को सर्वधर्मविशिष्ट माना, और श्रुतियों का प्रमाण देते हुए उसमें विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों की स्थिति को भी नित्य माना। विरोधी धर्मों की यह स्थिति माया के कारण प्रतिभासित नहीं होती यह तो सहज सत्य है। भगवान् महतो महीयान् और अणोरणीयान् हैं। उनकी सत्ता को लक्षणों में कैसे बाँधा जा सकता है? वल्लभ के अनुसार ब्रह्म के तीन रूप हैं। १—परब्रह्म, २—अक्षर ब्रह्म, ३—क्षरब्रह्म। इनमें

क्षर ब्रह्म प्रकृति का ही दूसरा नाम है। अक्षर ब्रह्म उससे श्रेष्ठ है, परन्तु वह ब्रह्म का पूर्ण रूप नहीं है, उसमें आनन्दांश का किञ्चित् तिरोभाव रहता है। परब्रह्म आनन्द से परिपूर्ण ब्रह्म का पूर्ण रूप है। इसी को गीता में पुरुषोत्तम कहा गया है। यही कृष्ण हैं। जीव जगत् ब्रह्म के स्फुलिंग रूप हैं। अतएव वह भी नित्य ही हैं। भगवान् के सदंश से जड़ प्रकृति और चिदंश से जीव का व्युच्चरण होता है। प्रकृति मे चिदंश तथा आनन्दांश दोनों का तिरोभाव रहता है। जीव मे केवल आनन्दांश का। जीव ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप तथा अणुरूप है। जगत के विषय में वल्लभाचार्य 'अविकृत परिणामवाद' को मानते है। अर्थात् ब्रह्म ही बिना किसी विकार को प्राप्त हुए जगत् में परिणत होता है, जिस प्रकार कुण्डल-वलय आदि में परिणत होने पर स्वर्ण में किसी प्रकार की विकृति नहीं आती, इसी प्रकार जगत् के नाना रूपो मे परिणत होने पर अविकारी ब्रह्म मे भी किसी प्रकार की विकृति नहीं आती। वल्लभ-मत में जगत् और संसार में भेद किया गया है। जगत् उस नित्य पदार्थ का नाम है, जो ब्रह्म के सदंश से प्रादुर्भूत होता है। ब्रह्म का ही परिणाम होने के कारण यह क्षर ब्रह्म रूप है। संसार की सत्ता का कारण पंचपर्वा अविद्या ही है। यह वास्तव में जीव-कल्पित और ममता रूप है। ज्ञान के उदय होने पर संसार की सत्ता नहीं रहती, परन्तु जगत् ब्रह्म का व्युच्चरण होने से नित्य है। वल्लभाचार्य जगत् के विषय मे उत्पत्ति और विनाश के सिद्धांत को न मान कर अविर्भाव और तिरोभाव के सिद्धांत को मानते हैं। वह सिद्धांत यह है—"अक्षर ब्रह्म अपने सत् चित् और आनन्द इन तीनों स्वरूपो का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। तीनो स्वरूपों का प्रकाश तीन विभिन्न शक्तियों से होता है। सत् का प्रकाश सन्धिनी से, चित का संवित् से, और आनन्द का ह्लादिनी से। पुरुषोत्तम ब्रह्म मे ये तीनो शक्तियाँ अनावृत रहती हैं अर्थात् सत् चित् और आनन्द तीनों स्वरूपो का प्रकाश रहता है। जीव मे संधिनी और संवित् अनावृत रहती हैं और ह्लादिनी आवृत रहती है। अर्थात् सत् और चित् का आविर्भाव रहता है, और आनन्द का तिरोभाव। जड मे केवल संधिनी अनावृत रहती है और संवित् और ह्लादिनी दोनों आवृत रहती हैं। अर्थात् केवल सत् का आविर्भाव रहता है और चित् और आनन्द का तिरोभाव। इस व्यवस्था के अनुसार न तो ब्रह्म ही को ग्रस्त करने वाली उससे अन्य कोई दूसरी वस्तु माया है, और न जीवात्मा को ही।" इस व्यवस्था के मूल में भगवान् की क्रीड़नेच्छा ही रहती है, माया नहीं। कृष्ण के स्वरूप में विलास और लीला का प्राधान्य इसी धारणा के कारण हुआ। ब्रह्म के तीन रूपों के अनुसार साधना के भी तीन मार्ग हैं। प्रवाह मार्ग या कर्म मार्ग, मर्यादा मार्ग या ज्ञान मार्ग और पुष्टि मार्ग या भक्ति मार्ग। सांसारिक सुखों के लिए प्रयत्नशील रहना प्रवाह मार्ग

है, वेद-विहित मर्यादा का अनुसरण करना मर्यादा मार्ग है, और भगवान् के अनुग्रह के वशीभूत होकर उनको आत्मसमर्पण कर देना पुष्टि मार्ग है। "पोषणं तदनुग्रहः।" इसमें लोक वेद दोनों ही पीछे छूट जाते हैं। तीनों में यही मार्ग श्रेयस्कर है। मर्यादा मार्ग से ज्ञानी केवल अक्षर ब्रह्म को प्राप्त करता है, परन्तु पुष्टि के द्वारा भक्त परब्रह्म के अतिरोहित सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त करता है। मर्यादा मार्ग भगवान् की वाणी से उद्भूत हुआ है। पुष्टि मार्ग उनके शरीर अथवा आनन्दांश ग से। पहले का लक्ष्य सायुज्य मुक्ति है, दूसरे का है रसात्मिका प्रीति के द्वारा भगवान् का अधरामृत-पान। पहला सहेतुक होने के कारण पूर्ण आनन्दमय नहीं है, परन्तु दूसरा निर्हेतुक होने के कारण सर्वथा रसमय है।

माध्व-सिद्धांत द्वैताद्वैत कहलाता है। उसके अनुसार परमात्मा अर्थात् विष्णु अनन्त गुणयुक्त है। उसके गुण निरवधि और निरतिशय हैं, जिनमें सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार की अनंतता है। परमात्मा उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्धन और मोक्ष इन सब का कर्ता है। ज्ञान, आनन्द आदि कल्याण गुण ही उसके शरीर हैं। लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है। वह परमात्मा के ही केवल अधीन रहती है। विष्णु और लक्ष्मी अभिन्न नहीं हैं। लक्ष्मी देश और काल की दृष्टि से विष्णु के समान है, परन्तु गुण में उससे न्यून है। इस दृष्टि से माध्व मत मे और शाक्त-मत में अन्तर है। प्रकृति, जड़, नित्य, व्याप्त, सर्वलिंग-शरीररूपा है, वही विश्व का उपादान कारण है। परमात्मा केवल निमित्त कारण है। जीव को माध्व मत में अज्ञान, मोह, दुःख, भयादि दोषों से युक्त संसारी माना गया है। संसार मे प्रत्येक जीव अन्य जीवों से भिन्न तथा परमात्मा से नितांत भिन्न है। यह तारतम्य संसार दशा में ही नहीं मोक्ष-दशा में भी बना रहता है। मुक्त-जीवों के ज्ञानादि गुणों के समान उनके आनन्द में भी भेद है। मोक्ष भगवान् के नैसर्गिक अनुग्रह के बिना सम्भव नहीं है। साधारणतः उसके लिये श्रवण, मनन, ध्यान के अतिरिक्त तारतम्य-परिज्ञान भी अनिवार्य है। विश्व के पदार्थों में गुणादि दृष्टि से एक तारतम्य वर्तमान रहता है, और इन सभी गुणों का पर्यवसान परमात्मा में होता है, यही तारतम्य ज्ञान है।

निम्बार्काचार्य का सिद्धांत भेदाभेद कहलाता है। उन्होंने सगुण ब्रह्म की ही प्रतिष्ठा की है। उनके अनुसार ब्रह्म अविद्यादि समस्त प्राकृत दोषों से मुक्त अशेष कल्याण गुणों की राशि है, 'स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैक-राशिम्।' इस जगत में जो कुछ दिखाई देता है, या सुना जाता है नारायण उसके भीतर बाहर सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित है। चिदचिद्रूप विश्व नियम्य तथा परतंत्र है, और ईश्वर पर आश्रित है। परब्रह्म, नारायण, भगवान्, कृष्ण, पुरुषोत्तम सभी

परमात्मा के विभिन्न नाम हैं। जीव और ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध है। बद्धावस्था में अणुरूप, अल्पज्ञ जीव व्यापक सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न होने पर भी दीप से प्रभा, गुणी से गुण, प्राण से इन्द्रिय के समान अभिन्न भी है। इसी प्रकार मोक्ष-दशा में अभिन्न होने पर भी वह अपना स्वरूप और व्यक्तित्व बनाए रखता है। निम्बार्क-मत की यही विशेषता है।

चैतन्य मत में ब्रह्म का स्वरूप शंकराचार्य के ईषद् अनुकूल सजातीय विजातीय तथा स्वगत भेद से शून्य अखण्ड सच्चिदानन्दात्मक है। वह अचिंत्याकार, अनन्त-शक्तियों से युक्त है, फिर भी उसकी तीन शक्तियाँ मुख्य हैं? स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति, माया शक्ति। स्वरूप शक्ति भगवद्रूपिणी है। उसमें सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी तीनों प्रवृत्तियों का योग रहता है। तटस्थ शक्ति जीव-सृष्टि के आविर्भाव का कारण होती है, और माया शक्ति जगत के। भगवान् स्वरूप शक्ति के कारण विश्व के निमित्त कारण और तटस्थ तथा माया-शक्तियों के कारण उपादान कारण भी हैं। इस प्रकार वे विश्व के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। चैतन्यमत में जगत सर्वथा सत्यभूत पदार्थ है क्योंकि वह ब्रह्म की ही माया-शक्ति का विलास है। परन्तु चूंकि ब्रह्म की शक्ति अचिन्त्य है, इसलिये न तो यह विश्व उसके साथ नितांत भिन्न ही प्रतीत होता है और न सर्वथा अभिन्न ही। ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति के साथ इसी भेदाभेद सम्बन्ध के कारण चैतन्य का मूल सिद्धांत अचिन्त्य भेदाभेद कहलाता है। भगवत्प्राप्ति का वास्तविक साधन भक्ति ही है, और चूंकि भक्ति मे संवित् तथा ह्लादिनी शक्तियों का सम्मिश्रण रहता है, इसलिये भक्ति एक प्रकार से भगवद्रूपिणी ही है। भक्ति दो प्रकार की होती है, एक विधि-भक्ति जो वल्लभ के मर्यादा मार्ग के समानान्तर है, दूसरी रुचि भक्ति या राग। इनमें दूसरी भक्ति ही मुख्य है। इसमे भक्त भगवान को अपने प्रियतम रूप मे ग्रहण करता है।

कृष्ण-भक्ति के प्रतिनिधि सम्प्रदायों के ये ही मूल सिद्धांत हैं। इनमें सूक्ष्म भेद होते हुए भी कुछ मूलगत समानतायें भी अत्यन्त स्पष्ट हैं। एक प्रकार से इनके मूल सिद्धांत सामान्यतः एक से ही हैं। सभी भगवान् के सगुण और साकार रूप को ही मानते है। भगवान् अविद्यादि दोषो से मुक्त अनन्त कल्याण गुणों के निधान, सच्चिदानन्द रूप हैं। आर्त भक्तो पर उनकी निर्हेतुकी कृपा रहती है और वे उनके प्रेम के वशीभूत होकर समय समय पर संसार में अवतरित होते रहते हैं। उनके अखण्ड सच्चिदानन्द घन रूप का भोग करने का एकमात्र उपाय रसात्मिका प्रीति ही है। अन्यमार्ग पूर्ण नहीं हैं। जीव मूलतः अणु रूप है, परन्तु मुक्तावस्था में वह पूर्ण रूप हो जाता है। जगत के आविर्भाव का कारण भगवान् की क्रीड़नेच्छा

का विलास ही है, माया नही। जीव और जगत दोनों ही सत्यभूत पदार्थ हैं, माया या विवर्त का परिणाम नहीं हैं। वास्तव में शंकर-प्रतिपादित माया का कोई अस्तित्व ही नहीं है। बद्धावस्था में जीव अविद्या-ग्रस्त रहता है, परन्तु यह जीव और जगत की स्वाभाविक सीमा है, माया का प्रभाव नहीं है। इस प्रकार उपर्युक्त सभी मत जगत को भीत अथवा संदिग्ध दृष्टि से नहीं देखते, वरन् प्रवृत्ति मार्ग पर बल देते हुए आनन्दवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा करते हैं।

देव के दार्शनिक विचार प्रत्यक्ष रूप में देवशतक और अप्रत्यक्ष रूप म देवमायाप्रपंच में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो मे बिखरे कुछ छंद भी उन पर यत्किंचित प्रकाश डालते हैं। कृष्णभक्त होने के नाते यही धारणा होती है कि ईश्वर, जीव, जगत आदि के विषय में देव के विचार उपर्युक्त मतों के ही अनुकूल होंगे। परन्तु वास्तव में यह धारणा अधिक सत्य नहीं है। देव के सिद्धांतो पर वैष्णव मतों के साथ ही शंकर के अद्वैतवाद का भी गहरा प्रभाव है। देवमाया-प्रपंच में माया की स्पष्ट स्वीकृति है। ब्रह्म और जीव दोनों ही को माया-ग्रस्त माना गया है। ब्रह्म मूलतः निर्गुण है, परन्तु माया उसे गुणों मे बाँध कर नचाती है :—

माया त्रिभुवन-नाथ बांधि नचायो गुननि त्यो।

माया का प्रभाव अद्भुत है :—

फेरति पताल के अकास निसि बासर हूं आसपास तिमिर तरुण उगलती है।
प्रगटत पूरब छिपत दोऊ पच्छिम में दच्छिन और उत्तर अपन बिहरती है।
येक ते अनेक कै अनेक ते करत एक; पंचभूत भूत अद्भुत गुनमती है।
पुरुष पुरानहिं खिलावै बटा जीवी पटा सीतभानु भानु देव माया भानुमती है।

इस प्रकार देव इस सम्पूर्ण विश्व-प्रपंच को माया का ही खेल मानते हैं। यह माया ब्रह्म की ही शक्ति है, इसका उद्भव ब्रह्म से ही होता है। तत्वतः पूर्ण-परमानन्द ब्रह्म किस प्रकार माया के बन्धन में बंध जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सत्संगति के मुख से देव ने अद्वैत मत के प्रसिद्ध रूपकों का व्यवहार किया है।

पै अपने गुण यों बंधै माया को उपजाय।
ज्यों मकरी अपने गुननि उरझि उरझि मुरझाय।

अथवा :—

क्यो बांधे कैसो बंधे पूरन परमानन्द।
बंध्यो रूप यो देखिये ज्यो बादर में चंद।

मकड़ी और जाले का रूपक तो अत्यन्त विश्रुत है ही। जिस प्रकार मकड़ी अपने ही मुख से उद्भूत जाले में आप ही बन्दी हो जाती है, इसी प्रकार सोपाधि ब्रह्म भी अपनी माया मे आप ही फँस जाता है। इसी प्रकार बादल द्वारा आच्छादित चन्द्रमा या सूर्य का दृष्टांत भी वेदांतियों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। बादल का छोटा-सा टुकड़ा विराट चन्द्र-मण्डल अथवा सूर्य-मण्डल को वास्तव में आच्छादित नहीं करता, वरन् देखने वालो की दृष्टि को ही आच्छादित कर लेने के कारण ऐसा प्रतीत होता है। इसी प्रकार परिच्छिन्न ज्ञान अनुभवकर्ता की बुद्धि को ढक लेता है, और उसी के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपरिच्छिन्न असंसारी आत्मा को आच्छादित कर लिया है। माया की इसी शक्ति को 'आवरण' कहा गया है। माया का यह प्रभाव अन्त मे तर्कमयी बुद्धि, श्रद्धा, सत्संगति आदि साधनो द्वारा नष्ट हो जाता है, और ब्रह्म सोपाधि सगुण रूप को छोड अपने शुद्ध निर्गुण रूप को प्राप्त कर लेता है।

छूटि गये गुन सगुन के, निर्गुन रह्यो निदान।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि देवमाया-प्रपंच नाटक है, अतएव उसकी उक्तियाँ नाटकीय होने के कारण सर्वत्र कवि की भावना की अभिव्यंजक नहीं मानी जा सकतीं, परन्तु यह शंका निर्मूल है क्योंकि देवमाया-प्रपंच अव्यक्तिगत नाटक न होकर सैद्धांतिक रूपक है, और ये सभी उक्तियाँ 'सत्संगति' आदि की ही हैं, जो कवि के अपने मुख-पात्र है। इसके अतिरिक्त देवशतक में भी स्थान-स्थान पर इन्हीं विचारो का समर्थन है :—

(१) आवे उमडा सो मोह मेह घुमडा सो देव,
माया को मड़ा-सो अँखियन तैं उघारि दै।

(२) एक तैं अनेक कै परारधि लौं पूरौ करि,
लेखो करि देखो एक सांचो और सून है।

अथवा :—

(३) देखि देखि भीत ज्यों अँधेरे भीत जानै भूत,
जेवरी को जानै साँप पायो न मरम है।

परन्तु फिर भी यह मान लेना अत्यन्त भ्रामक होगा कि देव के ब्रह्म-विषयक विचार शांकर अद्वैतवाद के ही सर्वथा अनुकूल है। अद्वैत के निर्गुण के साथ ही वैष्णव-दर्शन के सगुण को उन्होने और भी आग्रह के साथ ग्रहण किया है। उनके मंगलाचरण इसके साक्षी हैं :—

वेदन हू गने गुनगनै अनगने भेद,
भेद बिनु जाको गुन निरगुन हू यहै।
केतिक बिरंच्यो, महासुखन को संच्यो जहाँ,
वंच्यो व्रजभूप सोई, परब्रह्म भूप है।

'यहाँ कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' की स्पष्ट ध्वनि है। इसके अतिरिक्त देव ने भी सगुण भक्त कवियों के स्वर में स्वर मिलाते हुए उद्धव-प्रसंग में सगुणवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की है :—

कंस-रिपु अंस अवतारी जदुवंस कोई,
कान्ह सों परमहंस कहै तो कहा सरो।
हम तो निहारे ते निहारे व्रजवासिन मैं,
देव मुनि जाको पचिहारे निसि-वासरो।

इसी प्रकार देव के आत्मा-विषयक सिद्धांतों पर भी अद्वैत और वैष्णव-दर्शन दोनों का ही प्रभाव मिलता है। एक ओर शंकर-मत के अनुसार उन्होंने आत्मा को विभु रूप मानते हुए उसके सोऽहं रूप की प्रतिष्ठा की है :—

हौं ही छर अच्छर सगुन निरगुन ब्रह्म
मोही में सकल मेरे पीछे कछु औन है।

दूसरी ओर वल्लभ आदि वैष्णव आचार्यों के अनुकूल उसके अणुरूप पर भी जोर दिया है :—

थिर न कुबेर इन्द्र, दौरै देव रवि चंद,
बैठि रहे, बौरे, तू कहां लौं बढि जायेगो ?

परन्तु जहाँ तक जगत का सम्बन्ध है, देव ने शंकर के सिद्धान्त को ग्रहण करते हुए, उसके मिथ्या रूप को ही स्वीकृत किया में। ऐसा वास्तव में इस कारण हुआ है कि जीवन भर संसार में लिप्त रहने के बाद देव को उससे एक घोर क्लांति और विरक्ति हो गई थी। अतएव भावना के अतिरंजित होने के कारण वे उसमे किसी प्रकार का भी सार नहीं देख पाये। वे जगत को सर्वथा दुःखमय, असार और असत मानते हैं।

साधना-मार्ग मे भी कुछ उपर्युक्त प्रकार की द्विधा मिलती है। देव-माया प्रपंच मे उन्होंने मन की शुद्धि के लिए तर्कमय बुद्धि को अत्यन्त आवश्यक माना है। अंत में इसी के द्वारा माया का विघटन होकर आत्मा अपने शुद्ध-बुद्ध रूप को प्राप्त करता है। योग-युक्ति, तत्व-चिंता, सत्क्रिया, सत्यता, श्रद्धा, भक्ति, शुद्धि,

स्मृति आदि भी इसमें सहायक होती हैं, परंतु मूल साधन तर्कमय बुद्धि ही है। देवशतक में भी ज्ञान की अग्नि द्वारा माया के नाश की बात कही गई है :—

बाहिर हू भीतर निकारि अंधकार सब,
ज्ञान की अगिनि सों अयान बन बारि दै।'—

पर प्रेम-पच्चीसी, प्रेम-चन्द्रिका एवं अन्य ग्रन्थों में रसात्मिका प्रीति पर ही बल दिया गया है। 'हरि जस रस की रसिकता सकल रसायनि-सार!' और मर्यादा मार्ग को हेय बताते हुए 'राग-भक्ति' को ही सर्व-प्रधान माना गया है— 'नेम महातम मेटि कियो प्रभु प्रेम महातम आतम अर्पनु।' वास्तव में, यही देव का व्यक्ति-गत और जीवन-गत साधना-मार्ग था, ज्ञान अथवा बुद्धि के महत्त्व को उन्होंने केवल सिद्धांत-रूपेण ग्रहण किया था।

सिद्धांतों की इस दुविधा की व्याख्या करना आवश्यक है। देव के विचारों में यह द्विविधा क्यों थी, यह प्रश्न सामने आता है। इसका एक और वस्तुतः मूल-गत कारण तो यह है कि कविता जीवन के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया है– बौद्धिक सिद्धांतों का उस पर प्रभाव अवश्य पड़ता है, परन्तु सहज रूप में यह प्रतिक्रिया स्वतंत्र ही है। सिद्धांतों का प्रतिबंध इसको नहीं जकड़ सकता। अतएव किसी भी सच्चे कवि के काव्य में किन्हीं विशिष्ट साम्प्रदायिक सिद्धांतों का वैज्ञानिक प्रतिपादन अथवा उनका साम्प्रदायिक नियमन नहीं मिल सकता। यह तभी संभव होता जब कविता जीवन के प्रति भावगत प्रतिक्रिया न होकर सैद्धांतिक अथवा सिद्धांत-बद्ध प्रतिक्रिया या कम-से-कम, बौद्धिक प्रतिक्रिया ही, होती। काव्य के इसी साधारण मनोविज्ञान को न समझने के कारण ही जोशीले लोगों ने साम्प्रदायिक दृष्टि से परस्पर-विरोधी प्रतीत होने वाली तुलसी की अनेक उक्तियों के आधार पर अनेक उलझी हुई कल्पनाएं की हैं और कभी उनको अद्वैतवादी, कभी विशिष्टाद्वैतवादी और कभी और कुछ प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। जब अनन्य इष्टोपासना में आस्था रखने वाले तुलसी जैसे कवि के विषय में इतनी कठिनाइयाँ हो सकती हैं तो देव की कविता में सैद्धांतिक द्विविधा का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिये। दूसरा कारण इस दुविधा का यह है देव स्पष्टतः साम्प्रदायिक कवि नहीं थे। प्रेम के रस में आकण्ठ डूबा हुआ यह रसज्ञ कवि साम्प्रदायिक संकीर्णता से स्वभावतः ही दूर था। इसके अतिरिक्त उस युग में भी साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों का ज़ोर नहीं रह गया था। भक्ति-काल में तो युग की चेतना ही उसी धारा में बह रही थी; अतएव उस समय साम्प्रदायिक शब्दावली में जीवन की व्याख्या सुलभ और सहज थी, परन्तु रीति-काल में ऐसा नहीं था। धार्मिक मत-मतान्तरों के सूक्ष्म भेद-प्रभेद इस समय तिरोहित हो गए थे—

सौलिक और विशद सिद्धांत ही स्थूल रूप मे लोगों के सम्मुख थे। उधर साम्प्रदायिक कटुता मिटाकर धार्मिक एकता की स्थापना का प्रयत्न जो तुलसी जैसे उदार वैष्णव-लोक-नायकों ने आरम्भ कर दिया था वह भी इस युग मे एक स्थूल रूप मे निरंतर चल रहा था। सांसारिक सुखभोग मे रत लोगों को तत्व-चिंतन के सूक्ष्म-जटिल पार्थक्य की अपेक्षा धर्मों की स्थूल एकता ही सहज सुकर लगती थी। साधारणतः व्यवहार्य रूप मे लोग कृष्ण की उपासना को साधन-मार्ग मान लेते थे। राम की उपासना भी काफ़ी प्रचलित थी। उधर अन्य देवों की भी उपासना थोडी बहुत चल रही थी। कृष्ण लोकप्रवृत्ति के अधिक अनुकूल पड़ते थे, परन्तु उनके प्रति साम्प्रदायिक आग्रह इस समय नहीं रह गया था।—विद्वान तत्व-चिंतकों में, जिनकी संख्या अत्यन्त अल्प थी, वैष्णव दर्शनों की व्यापक लोकप्रियता होने पर भी अभी शांकरी अद्वैतवाद के प्रति गहरी आस्था वर्तमान थी। वास्तव में तत्व-ज्ञान के धरातल पर उसका किसी न किसी रूप में ग्रहण अनिवार्य था। यही कारण है कि देव के सिद्धांतो में यह द्विविधा अथवा सम्मिश्रण मिलता है। उनके दार्शनिक विचारों का सारांश यह है कि वे व्यवहार रूप मे कृष्णोपासक थे और रसात्मिका प्रीति को ही श्रेयस्कर मानते थे। तात्विक धरातल पर उनके विचारों मे शंकर के सिद्धांतों और वल्लभ, निम्बार्क तथा चैतन्य आदि वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्तो का सम्मिश्रण था और वे वस्तु रूप मे यही मानते थे कि :—

> जोगिन जोगी, जतीन जती, मुनिहून कछू मुनि सो मन-मान्यो।
> छत्रिन अत्र धरयो परख्यौ, मृगया बन व्याधन व्याध बखान्यो।
> मित्रन मित्र, अमित्रन सत्रु-सो, दूलह-सो दुलही पहिचान्यो।
> जैसो को तैसो जहां को तहां जिहि जैसो लख्यो तिहि तैसोई जान्यो।

यह ईश्वर के भावगत (Subjective) रूप की स्पष्ट स्वीकृति है, और वास्तव मे मनुष्य की बुद्धि अन्त में यहीं जाकर रुकती है।

नैतिक-दृष्टि :—जैसा कि तत्कालीन सामाजिक स्थिति के विवेचन से स्पष्ट है, यह घोर नैतिक ह्रास का युग था। धर्म और नैतिकता का विच्छेद होगया था,—जीवन में संयम का स्थान वाह्य आचार ने ले लिया था। देव प्रेम को जीवन का समाधान मानते थे, अतएव स्वभावतः संयम और दमन पर आधृत नैतिकता के प्रति उनको अधिक आस्था नहीं हो सकती थी। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति की अपनी नीति अवश्य होती है—देव प्रेम मे वैध-प्रेम अर्थात् स्वकीया-प्रेम के पक्षपाती थे और प्रेम को कामुकता से भिन्न मन की उदात्त वृत्ति मानते थे। नीति के विभिन्न अंगों में वे प्रायः उनमे ही विश्वास रखते थे जो कोमल एवं प्रवृत्ति मूलक हैं, जैसे श्रद्धा, क्षमा, विनय, करुणा आदि।—

है अभिमान तजै सनमान बृथा अभिमान को मान बहैये ।
देव दया करै सेवक जानि, सुसील सुभाय सुलोनी लहैये ।
को सुनिकै बिन मोल बिकाय न बोलन को कोई मोल न हैये ।
पैये असीस लचैये जो सीस लची रहिये तब ऊंची कहैये ।।

उपर्युक्त पद मे निरभिमानता, सुशील-स्वभाव, मधुर-भाषण और विनय के महत्व पर बल दिया गया है। इसी प्रकार क्षमा को भी कवि जीवन की सफलता के लिये अनिवार्य्य मानता था—

पायो न सिरावन सलिल छमा-छींटन सों,
दूध सो जनम बिनु जाने उफनायगो ।

वाह्य आचारों मे उसे तनिक भी आस्था नहीं थी, वह प्रतीति अथवा आंतरिक विश्वास को ही परम साधना मानता था—

कथा मैं न, कंथा मैं न, तीरथ के पंथा मैं न,
पोथी मैं न, पाथ मै, न साथ की बसीति मैं ;
जप मैं न, मुंडन न, तिलक-त्रिपुण्डन न,
नदी-कूप-कुण्डन, अन्हान दान-रीति मैं ।
पीठ-मठ-मण्डल न, कुण्डल कमण्डल न,
माला-दण्ड मै न, देव देहरे की भीति मै ।
आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो,
पाइये प्रगट परमेसुर प्रतीति मै ।

कहने का तात्पर्य्य है कि देव का, जीवन के सूक्ष्म प्रवृत्तिमूलक मूल्यों मे ही अधिक विश्वास था—स्थूल निषेधमूलक मूल्यों मे नहीं ।

देव का रीति विवेचन (आचार्यत्व)

काव्य के सर्वाङ्ग का विवेचन :—देव रीति-काल के उन आचार्य कवियों मे है, जिन्होंने काव्य के सर्वाङ्ग का विवेचन किया है। इनके प्रमुख रीति ग्रंथ दो है। (१) भाव-विलास (२) शब्द-रसायन। सभी रसों का पूर्ण विवेचन मुख्यतः शब्द रसायन और भवानी-विलास में मिलता है। भाव-विलास में रस के आन्तरिक अंगो एवं रस-परिपाक का सम्यक् विवेचन है, परन्तु उसमें केवल शृंगार को ही लिया गया है। नायिका-भेद भाव-विलास, भवानी-विलास, रस-विलास कुशल-विलास, सुजान-विनोद और सुखसागर-तरङ्ग में पूर्ण विस्तार के साथ शैली-भेद से वर्णित है। अलंकार-निरूपण, भाव-विलास मे संक्षेप मे और शब्द-रसायन मे ईषत् विस्तार-पूर्वक किया गया है। शब्द-रसायन मे शब्द-शक्ति (पदार्थ-निर्णय) गुण-रीति और पिंगल का भी क्रमिक विवेचन है। इनके अतिरिक्त काव्य की आत्मा, काव्य-शरीर, काव्य-प्रयोजन और उसकी महिमा आदि के विषय मे भी देव ने स्थान-स्थान पर सामान्य सिद्धांत दिये है। तात्पर्य यह है कि केवल दोषों को छोड़ काव्य के प्रायः सभी अंगो का विवेचन देव के ग्रंथो मे पाया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि इनमे शृंगार-रस और नायिका-भेद का विस्तार अनुपात से कहीं अधिक है, क्योंकि वास्तव मे कवि की प्रकृति उनमे ही रमी है, परन्तु अन्य काव्यांगो की भी उपेक्षा नहीं की गई।

रस :—महत्व की दृष्टि से काव्यांगो में सबसे पहला स्थान रस का ही है, अतएव उसी से आरम्भ करना उचित होगा। रस की परिभाषा देव ने इस प्रकार की है :—

जो विभाव अनुभाव अरु, विभचारिनु करि होइ।
थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोइ।

(भाव-विलास)

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियो द्वारा स्थायी भाव की पूर्ण वासना को रस कहते है। यहाँ वासना शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है, वासना का अर्थ है, स्मरित-ज्ञान अथवा अनुभव। यहाँ वासना शब्द के प्रयोग मे 'भाव स्मरणं रसः' अर्थात् भाव का स्मरण या स्मरित अनुभव रस है। इस प्रसिद्ध रस-लक्षण की ओर संकेत है और दूसरे रस-परिपाक की आधार-रूपिणी वासना की महत्व-स्वीकृति भी है। रस परिपाक के विषय में देव का मत है।

चित थापित थिर बीज विधि, होत अंकुरित भाव।
चित बदलित, दल फूल फलि, बरसत सुरस सुभाव॥
खेत पात्र, प्रारब्ध विधि, बीज सुअंकुर जोग।
सलिल नेह, भाव सुविटप, छंद पत्र परिभोग॥

(शब्द-रसायन)

'पात्र' का हृदय क्षेत्र अर्थात् रस का आधार स्थान है, संस्कार रूप से चित्त में स्थायी भाव बीज है जो स्नेह के सिंचन से अंकुरित पुष्पित और फलित होता हुआ रसमे परिणत हो जाता है। यह प्रारब्ध तथा विधाता की कृपा से सम्भव होता है। विभाव रस को उपजाने वाले है, अनुभाव रस का अनुभव कराने वाले अथवा प्रकाशक हैं—इनमें सात्विक-भाव विशेषक अर्थात् रस को विशेषता-पूर्वक प्रकट करने वाले हैं और संचारी रस को झलकाने वाले अथवा※ 'विलासक' हैं यही रस-परिपाक में विभाव अनुभाव और संचारी आदि का योग है।

रस अंकुर थाई, विभाव-रस के उपजावन
रस-अनुभव अनुभाव, सात्विकी रस झलकावन।

(शब्द-रसायन)

उपर्युक्त विवेचन स्पष्टतः शास्त्रानुकूल है। इसमें केवल एक बात विचारणीय है। वह यह कि देव ने स्नेह और प्रारब्ध को रस-परिपाक के लिए अनिवार्य्य माना है। स्नेह का वास्तव में अर्थ है रागात्मिका वृत्ति और देव का तात्पर्य है कि रस का पूर्ण परिपाक उसी हृदय में सम्भव है जिसमे रागात्मकता की प्रधानता हो और रागात्मकता की यह प्रधानता प्रारब्ध अथवा पूर्वजन्म के संस्कारों का परिणाम है। संस्कृत में भरत आदि आचार्यों ने रस-भोक्ता को अनिवार्यतः सहृदय तथा सवासन माना है। देव ने स्नेह और प्रारब्ध आदि शब्दों के द्वारा इसी तथ्य को ध्वनित किया है। आज की वैज्ञानिक शब्दावली में प्रारब्ध अथवा संस्कार को (Heredity) अथवा पित्र-प्रभाव कहते हैं। मनोविज्ञान और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र यह निश्चित रूप से स्वीकार करते हैं कि सौन्दर्य्यानुभूति में जीवन की उन वृत्तियों का महत्वपूर्ण योग है, जिनका अनुभूत्यात्मक※ रूप सुखकर है। इन्हींको हमारे यहाँ रागात्मिका वृत्ति कहा है। व्यक्ति विशेष के स्वभाव में इन वृत्तियों की अधिकता अथवा न्यूनता संस्कार और परिस्थिति पर निर्भर है।

※ सुखसागरतरंग पृष्ठ ३६, ३७

※Affective Quality

यह सिद्धांत अभिनव और भट्टनायक का उल्लंघन करता हुआ भट्ट लोल्लट के आरम्भिक रस-विवेचन का स्मरण दिलाता है। पर यह मानना तो ज़्यादती होगी कि देव भट्टलोल्लट के अनुयायी थे। देव का आधार ग्रंथ है भानुदत्त की रस तरंगिणी और भानुदत्त मूलतः अभिनव-द्वारा स्थापित शास्त्रीय परम्परा में ही आते हैं। अतएव देव भी रसवादियों की उस सर्वमान्य परम्परा से अलग नहीं हैं, परन्तु फिर भी उपर्युक्त वाक्य में कुछ विचित्रता अवश्य है और उसका कारण जान लेना भी कोई कठिन नहीं है। वह कारण यह है कि देव ने साहित्यक रस, हरि-रस और प्रेम-रस को अभिन्न माना है। अर्थात् वे काव्यगत शृंगार रसके आस्वादन और प्रत्यक्ष प्रेम-रस (जो उनकी दृष्टि मे सदैव ही हरि-रस से अभिन्न अलौकिक अनुभूति है) के आस्वादन में कोई अन्तर नहीं मानते। प्रेम की मूल अनुभूति तो चूंकि नायक-नायिका को ही होती है इसलिये उन्होंने नायक-नायिका के हृदय को ही सामान्यतः रस का क्षेत्र मान लिया है, और उधर पात्र सहृदय और अपने आपको एक रूप मे देखा है। रस की स्थिति नायक-नायिका के हृदय में मानने का यही कारण है।

रसों की संख्या देव ने ९ मानी है।

सो रस नव-विधि विबुध कवि बरनत मत प्राचीन।

(शब्द-रसायन)

परन्तु मम्मट के अनुसार उन्होंने काव्य और नाटक में रसों की संख्या का भेद माना है। नाटक में केवल आठ रस होते हैं—शांत का परिपाक नाटक मे सम्भव नहीं है। काव्य में नौ रस होते हैं:—

यहि भांति आठ विधि कहत कवि नाटक मत भरतादि सब,
अरु शांत यतन मत काव्य के लौकिक रस के भेद नव।

(भाव-विलास)

जैसा कि रीति-काल के शास्त्रीय आधार का विवेचन करते हुए लिखा है—भरत ने मूलतः आठ ही रस माने हैं, परन्तु नवें रस का संकेत भी उन्होंने कर दिया है। उद्भट ने स्पष्ट रूप में शांत रस को स्वीकृत करते हुए नाटक में भी नौ ही रसों की स्थिति मानी है:—

'नव नाट्ये रसाः स्मृताः।'—बाद के आचार्यों ने नाटक और काव्य में भेद करते हुए नाटक में आठ और काव्य में नौ रस माने:—

शृंगार हास्य करुण रौद्र वीर भयानकाः।
वीभत्साद्भुत संज्ञौचेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।

(काव्य-प्रकाश)

अर्थात् नाटक में श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक वीभत्स और अद्भुत ये आठ रस कहे गये हैं। इसके उपरांत 'निर्वेदः स्थायी भावोऽस्ति शांतोऽपि नवमो रसः।' निर्वेद जिसका स्थायी भाव है, ऐसा शांत भी नवाँ रस है। (काव्य-प्रकाश)। यह विवाद आगे भी चलता रहा। पण्डितराज जगन्नाथ को नाटक में भी नौ रस मानने में कोई आपत्ति नहीं थी।

देव ने वत्सल, प्रेयान्, भक्ति आदि को पृथक रूप से स्वीकार कर रसों की संख्या-वृद्धि तो नहीं की, परन्तु रसके भेद-प्रभेदों में उन्होंने काफी विस्तार किया है। पहले तो उन्होंने रस के ही दो प्रकार माने हैं, लौकिक और अलौकिक। अलौकिक रस तीन प्रकार का होता है, स्वापनिक (स्वाप्निक) मानोरथिक और औपनायक (औपनायिक)। यह वर्गीकरण देव ने सीधा रस-तरंगिणी से लिया है। स च रसो द्विविधः लौकिकोऽलौकिकश्चेचित। अलौकिको रसस्त्रिधा स्वाप्निको मानोरथिक औपनायिकश्चेति। (रस त०, तरंग ६) इन तीनों के लक्षण नहीं दिए गए, केवल उदाहरण ही दिये गये हैं, जिनसे व्यंजित होता है कि स्वाप्निक में स्वप्न द्वारा मानोरथिक में मनोरथ द्वारा, और औपनायिक में लीला आदि के व्याज से भगवान् के मिलन का अलौकिक रस प्राप्त होता है। लोकिक रसों में श्रृंगार के पहले साधारणत: दो भेद किए हैं संयोग और वियोग, फिर दोनोंके प्रच्छन्न और प्रकाश ये दो भेद और किए हैं। प्रच्छन्नश्रृंगार गुप्त रहता है, प्रकाश सर्वविदित होता है, उसमें दुराव की आवश्यकता ही नहीं होती।

देव कहै प्रच्छन्न सो, जाको दुरो विलास।
जानहिं जाको सकल जन, बरनैं ताहि प्रकास।

[भाव-विलास]

ये दोनों भेद भी देव के अपने नहीं हैं। उनसे पूर्व केशव ने इनका वर्णन किया है :—

शुभ संयोग वियोग पुनि, दोउ श्रृँगार की जाति।
पुनि प्रच्छन्न प्रकास करि, दोऊ द्वै द्वै भांति।

(रसिक प्रिया)

और केशव ने इन्हें भोज के श्रृंगार-प्रकाश से ग्रहण किया है।

साधारण वर्गीकरण के अनुसार संयोग एक ही प्रकार का होता है। वियोग के चार भेद हैं, पूर्वराग, मान, प्रवास और करुणात्मक वियोग। इनमें पहले तीन का वर्णन तो देव ने शास्त्रीय परम्परा के अनुकूल ही किया है, परन्तु उनके करुणात्मक वियोग के विवेचन में विचित्रता है :—

दम्पतीन में एकके, विषम मूरछा होइ।
जहँ अति आकुल दूसरौ, करुणातम कहि सोइ॥ (भा० वि०)
करुणातम सिंगार जहँ रति और शोक निदान। (श० र०)

अर्थात् जहां दम्पति में एक को विरह के मारे मूर्छा आजाये और दूसरा अत्यन्त व्याकुल हो जाए वहां करुणात्मक वियोग होता है, इसमें रति और शोक का मिश्रण रहता है। करुणात्मक वियोग के तीन भेद माने गये हैं—लघु, मध्यम, और दीर्घ। पहले मे प्रिय की मृत्यु की सम्भावना-मात्र है, दूसरे में उसकी वास्तविक मूर्छा है, तीसरे में उसका जीवन खतरे में होता है। करुण विप्रलम्भ के विषय में संस्कृत आचार्यों में भी बहुत कुछ मत-भेद रहता है—कुछ ने उसकी स्वतंत्र सत्ता को ही नहीं माना, परन्तु परम्परा सामान्यतः उसे स्वीकार करती आई है। विश्वनाथ ने करुण विप्रलम्भ का लक्षण इस प्रकार किया है :—

यूनोरेकस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भारब्धः।

(साहित्यदर्पण)

अर्थात् नायक और नायिका मे से एक के मर जाने पर दूसरा जो दुखी होता है, उस अवस्था को करुण विप्रलम्भ कहते हैं। परन्तु यह तभी होता है जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म मे इसी देह से फिर मिलने की आशा हो।' इस प्रकार शास्त्रीय परम्परा करुण विप्रलम्भ की स्थिति मरण में ही मानती आई है, पर देव ने उसे मूर्छा में मान कर मरण और अति-प्राकृतिक तत्व दोनों को बचाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने विषम मूर्छा को मरण का प्रत्याभास मानते हुए वियोग भावना की तीव्रता पर ही बल दिया है, जबकि मरण मे स्थायित्व की भी भावना रहती है। अतएव यह मानना पड़ेगा कि मूर्छा के द्वारा शोक का उतना गहरा परिपाक सम्भव नहीं है जितना मरण के द्वारा—और उपर्युक्त लघु, मध्यम और दीर्घ भेद तो निरर्थक ही हैं। हास्य के स्मित, हसित आदि साधारण छः भेदों को न लेकर देव ने उसके उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन भेद ही ग्रहण किये हैं। पर वैसे इन भेदों का आधार हास्य की सूक्ष्मता—स्थूलता को ही माना है—'अधिक अधम, मधि मध्यजन, उत्तम हँसत विनीत।' करुण के देव ने पांच भेद किये हैं—करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुखकरुण। इनमें पहले चार भेद तो स्पष्टतः ही करुणा की मात्रा के अनुपात पर आश्रित हैं, अंतिम मे करुणा का सुख में पर्य्यवसान हो जाता है। पहले चार भेदों का प्रस्तार तो किसी मनोवैज्ञानिक आधार पर आश्रित न होने के कारण व्यर्थ प्रयत्न मात्र है, सुखकरुण में अवश्य नवीनता है। परन्तु सुखकरुण का स्थायी भी क्या शोक ही रहता है, यह

प्रश्न है ! सुखकरुण की व्याख्या करते हुए देव ने 'दुख में सुखहि समेत (या सजोत') वाक्यांश का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है 'दुख में सुख का योग।' अर्थात् लक्षण के अनुसार तो स्थायी भाव दुख अथवा शोक ही रहता है, इसी में हर्ष का सम्मिश्रण हो जाता है। परन्तु जो उदाहरण दिया गया है उसमें यह तथ्य पूरी तरह नहीं घटता उसमें दुःख का हर्ष में पर्यवसान ही हो जाता है।

> भाग की भूमि, सुहाग को भूषन, लाज सिरी-निधि लाज नियासू।
> आइये मेरी दुहू-कुल-दीपक, धन्य पतिव्रत-प्रेम-प्रकासू ।
> लंक ते आई निसंक लिए सुख, सर्वसु वारनि कौसिला-सासू।
> पोहन पै ते उठाइ लिए, हिय लाइ, बलाइ लै पोंछति आंसू।

पहले तो इष्ट का नाश न होने से इस प्रसंग में ही करुण का परिपाक सम्भव नहीं है परन्तु यदि आशा की क्षीणता—अथवा सम्भावना की कमी के कारण ऐसा मान भी लिया जाय फिर भी यहां तो इष्ट की प्राप्ति हो गई है, अतएव शोक की स्थिति कैसे सम्भव हो सकती है ! मनोविज्ञान की दृष्टि से सुख-करुण जैसे रस-भेद की स्थिति मानी जा सकती है, इसका आधार होगा शोक, हर्ष संचरण करेगा, परन्तु उसका आलम्बन भिन्न होगा और वह थोड़ी देर प्रकाश बिखरा कर अंत में शोक के अंधकार को और भी सघन कर देगा। शेक्सपियर ने अपने दुःखांत नाटकों में इस प्रकार के सुख-करुण रस का अच्छा परिपाक किया है। अतएव यदि सुखकरुण रस की स्थिति सम्भव हो सकती है तो वह इसी अर्थ में हो सकती है। देव द्वारा प्रतिपादित सुखकरुण कम से कम करुण रस का भेद नहीं है। रौद्र, भयानक और अद्भुत का केवल एक ही भेद माना गया है। बीभत्स में जुगुप्सा के दो भेद माने गये हैं—

> (१) वस्तु घिनौनी देखि सुनि घिन उपजै जिय मांहि।
> घिन बाढ़ै बीभत्स रस, चित की रुचि मिटि जांहि॥
>
> (२) निंद्य कर्म करि निंद्य-गति, सुनै कि देखै कोय।
> तन सकोच मन सम्भ्रमस, द्विविधि जुगुप्सा होय॥
>
> शब्द-रसायन]

इनमे पहला भेद तो परम्परागत जुगुप्सा—शारीरिक घृणा (horror) का ही है, परन्तु दूसरा स्पष्टतः ग्लानि का है। शास्त्रीय परम्परा प्रायः केवल प्रथम भेद को ही स्वीकार करती आई है। कुछ आचार्यों ने ऐसा भी माना है, परन्तु परम्परा ग्लानि द्वारा बीभत्स को परिपाक नही मानती। शास्त्रीय बाधा के अतिरिक्त भी, वास्तव मे ग्लानि बीभत्स के अन्तर्गत कठिनता से ही आ सकेगी। आत्म-ग्लानि बीभत्स की अपेक्षा करुण अथवा शांत के ही अधिक समीप है, क्योंकि उससे

पश्चात्ताप जन्य शोक अथवा निर्वेद ही होता है। दूसरे के प्रति ग्लानिमूलतः जुगुप्सा के साधारण रूप से अभिन्न होगी। जुगुप्सा (शारीरिक) का आलम्बन प्रत्यक्ष एवं स्थूल होता है, ग्लानि (मानसिक) का आलम्बन सूक्ष्म। अतएव दोनों मे स्थूलता की मात्रा का ही अंतर होगा, प्रकार का नहीं। दूसरो के प्रति ग्लानि घृणा का भी रूप धारण कर सकती है, उस अवस्था मे वह क्रोध के अंतर्गत आयेगी क्योंकि घृणा निष्क्रिय अथवा अक्षम क्रोध का ही दूसरा नाम है। परन्तु देव इतनी गहराई मे नहीं गए हैं। स्थूल और सूक्ष्म या शारीरिक और मानसिक का अन्तर उनके मस्तिष्क मे अवश्य था परन्तु वे उसे स्पष्टतया अभिव्यक्त नहीं कर पाये हैं। इसीलिए उनके दोनों उदाहरणों मे कोई स्पष्ट भेद नहीं है। वीर के स्वीकृत चार भेदों में से देव ने युद्धवीर, दयावीर और दानवीर को ही ग्रहण किया है—धर्मवीर को छोड दिया है। इसका कारण स्वतंत्र चिंतन न होकर रसतरंगिणीकार का अन्धानुकरण मात्र है, क्योंकि उन्होंने भी केवल ये ही तीन भेद माने हैं।

वीरस्तु युद्धवीर-कोपवीर-दयावीर भेदात् त्रिधा।
[रसतरंगिणी प्र० तरंग, पृ० २३]

वास्तव मे या तो जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है, वीर के अवांतर भेद न कर, उसका एक साधारण रूप ही ग्रहण करना चाहिये, या फिर धर्मवीर को भी स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि धर्म एक व्यापक प्रवृत्ति है, दान और दया तो उसके अंतर्गत आ सकते हैं परन्तु वह इनमें सीमित नहीं हो सकता। किसी भी नैतिक या आध्यात्मिक आदर्श के प्रति उत्साह आखिर धर्म के अतिरिक्त कहाँ जाएगा। शब्द-रसायन में शांत के भेद नहीं किए गये परन्तु भवानीविलास में उसको दो भागो में विभक्त किया गया है—एक भक्ति-मूलक शांत, दूसरा शुद्ध शांत। इनमें पहले के तीन उपभेद किये गये हैं: प्रेम-भक्ति, शुद्ध-भक्ति और शुद्ध प्रेम। शुद्ध शांत से तात्पर्य्य वैराग्यमूलक शांत का है। इस विभाजन में भी देव ने शास्त्र से वैचित्र्य प्रदर्शन करने का निष्फल प्रयत्न किया है। क्योंकि भक्ति—विशेषकर प्रेम-भक्ति और शुद्ध प्रेम तो शम के अंतर्गत किसी रूप में भी नहीं आ सकते—वे तो शृंगार के अन्तर्गत आते हैं। जैसाकि अन्यत्र स्पष्ट किया गया है—इन दोनों में केवल आलाम्बन के स्वरूप का ही थोड़ा अंतर रहता है। वास्तव में यहाँ देव ने अपना ही विरोध किया है—उन्होंने केवल आलम्बन के स्वरूप-भेद से उन्ही छंदो को शृङ्गार और शांत के अन्तर्गत रख दिया है। परन्तु आलम्बन के पार्थिव और अपार्थिव स्वरूप का यह भेद स्थायी भाव मे थोडा परिवर्तन या मिश्रण भले ही करदे, उसको बिल्कुल ही कैसे बदल सकता है? इसीलिये तो उन्होंने बाद में अपनी त्रुटि को स्वीकार

करते हुए शब्द-रसायन में केवल शुद्ध, वैराग्यमूलक शांत को ही महत्व किया है।

अब रसों के पारस्परिक सम्बन्ध को लीजिए। देव ने इस विषय में दो स्थापनाएं की हैं। पहली स्थापना के अनुसार मुख्य रस केवल चार हैं :—शृङ्गार, रौद्र, वीर, और वीभत्स—शांत को छोड़ शेष चार रसों का जन्म इन्हींसे होता है—शृङ्गार से हास्य का, रौद्र से करुण का, वीर से अद्भुत का, और वीभत्स से भयानक का।

होत हास्य सिंगार ते, करुण रौद्र ते जानु।
वीर जनित अद्भुत कहो, वीभत्स ते भयानु॥

[शब्द-रसायन]

यह स्थापना पहले तो मौलिक न होकर भरत का अनुवादमात्र है,

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः।

[नाट्य-शास्त्र]

फिर इसका कोई विशेष औचित्य भी नहीं है। हास्य, शोक, विस्मय और भय स्वतंत्र एवं मौलिक मनोवृत्तियां हैं। हास्य शृंगार की विकृति अथवा जैसा भरत ने कहा है उसकी अनुकृति से उत्पन्न हो सकता है, परन्तु उसकी सीमा इतनी ही नहीं है। जिन परिस्थितियों में शृंगार की गंध भी नहीं होती उनमें भी हास्य की उद्बुद्धि करने की क्षमता रहती है। इसी प्रकार "वीर का कर्म अद्भुत अवश्य है" (भरत)—अर्थात् विस्मय उत्साह से उत्पन्न हो सकता है,—उसका सम्बन्ध विराट् (Sublime) से है इसमें संदेह नहीं, परंतु फिर भी विस्मय के उद्भव को उत्साह तक ही सीमित नहीं माना जा सकता। भय में भी भयानक वस्तु से घृणा एवं विकर्षण, अथवा वृत्तियों के संकुचित होने में, जुगुप्सा मूलतः वर्तमान रहती है- परंतु तो भी दोनों का अनुभूत्यात्मक रूप (feeling) सर्वथा भिन्न होने से इनमें शुद्ध कार्य-कारण सम्बंध नहीं माना जा सकता। अर्थात् भय के मूल में जुगुप्सा की प्रतिक्रिया अवश्य रहती है, परन्तु जिसके कारण उसकी अनुभूति भय रूप में होती है, वह जुगुप्सा नहीं है। शोक को क्रोध से उत्पन्न मानना तो उसकी सीमा को अत्यन्त संकुचित कर देना है। शोक क्रोध की अपेक्षा न केवल व्यापक ही अधिक है, वरन् मौलिक भी। भारतीय-दर्शन में भी शोक का सम्बन्ध षट्रिपु वर्ग के क्रोध से न होकर मोह से ही है। रौद्र का कर्म करुण की सृष्टि करता है, भरत की यह स्थापना भी अत्यंत एकांगी है।—इन्हीं तथा अन्य कारणों से मनोविज्ञान में ये सभी मनोवृत्तियां मौलिक ही मानी गई हैं, गौण अथवा अन्य-जनित नहीं।

इस विषय में देव ने दूसरी स्थापना और भी अधिक उत्साह के साथ की है :—

तीन मुख्य नौ हू रसनि द्वै द्वै प्रथम निलीन।
प्रथम मुख्य तिन तिनहुँ मैं, दोऊ तेहि आधीन।
हास्य भयरु सिंगार संग रौद्र करुन सँग बीर।
अद्भुत अरु वीभत्स सँग शान्तहिं बरनत धीर।
[भवानी-विलास]

अर्थात् नौ रसों में तीन मुख्य है शृंगार, वीर और शांत। शेष छः रस इन्हीं तीनों के आश्रित हैं। हास्य और भय शृंगार के आश्रित हैं, करुण और रौद्र वीर के, और अद्भुत और वीभत्स शांत के। इस स्थापना के आधार का देव ने विशेष विवेचन नहीं किया, और न यह वास्तव में किसी विशेष मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित ही है। वीर के साथ रौद्र तो ठीक है, परंतु करुण को सभी परिस्थितियों में वीर के आश्रित कैसे माना जा सकता है? इसी प्रकार शृंगार और भयानक का तो विरोध है, परन्तु देव ने[भय के बिना प्रीति नहीं होती] इस लोकोक्ति के आधार पर ही दोनों को सम्बद्ध कर दिया है :—

प्रीति भीति को संग है, भय बिनु प्रीति न होइ।
[भवानी-विलास]

इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर कहा गया है, काव्य के स्थायी भाव प्रायः सभी मौलिक मनोवृत्तियाँ होने के कारण स्वतन्त्र ही हैं, उनका एक-दूसरे में पूर्ण अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। परन्तु देव तो धुर मूल तक जाते हैं, और वीर, शांत का भी अन्त में, शृङ्गार में अन्तर्भाव कर देते हैं—"तेहि उछाह निर्वेद लै वीर-शांत संचार।" शृङ्गार का उत्साह वीर को जन्म देता है, उसका निर्वेद शांत को। आगे चलकर शब्द-रसायन में इसी सिद्धांत का एक दूसरे ढङ्ग से प्रतिपादन किया गया है। शृङ्गार के दो भेद हैं, संयोग और वियोग। इनमें संयोग हास्य, वीर और अद्भुत का अन्तर्भाव कर लेता है, वियोग रौद्र, करुण और भयानक का; वीभत्स और शान्त दोनों में अन्तर्भूत हो सकते हैं :—

सो सँजोग बियोग भेद, शृङ्गार दुविध कहु,
हास्य, वीर, अद्भुत सँयोग के, सङ्ग अङ्ग लहु,
अरु करुना, रौद्र भयान भये, तीनो वियोग अँग,
रस बीभत्सऽरु सांत होत, दोऊ दुहून सँग,

यह सूक्ष्म रीति जानत रसिक, जिनके अनुभव सब रसनि,
नवहू सुभाव भावनि सहित, रहत मध्य शृङ्गार तनि।
[शब्दरसायन]

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह वर्गीकरण भी अधिक मान्य एवं संगत नहीं है। इसका आधार शायद यही है कि संयोग चूंकि मधुर है; इसलिए हास, उत्साह और विस्मय मधुर या सुखात्मक भाव होने के कारण संयोग के अन्तर्गत मान लिए गए हैं, और वियोग कटु है; इसलिए क्रोध, शोक और भय कटु और दुःखात्मक होने के कारण वियोग के अंतर्गत रख दिए गए हैं। उपर्युक्त विभाजन का यही औचित्य हो सकता है; परन्तु यह भी पूर्ण नहीं है क्योंकि शांत को तो मधुर और कटु दोनों का समन्वित रूप होने के कारण संयोग और वियोग दोनों के साथ लिया जा सकता है, परन्तु वीभत्स तो एकांत कटु अनुभव है, अतः उसको उभयरूप कैसे माना जा सकता है ? इस प्रकार पहले तो मूलतः ही यह वर्गीकरण असंगत है, फिर यदि कोई आधार रखा भी गया है तो उसका अच्छी तरह निर्वाह नहीं किया गया। शृंगार को प्रधानता देने वाला यह सिद्धांत संस्कृत रस-शास्त्र में बहुत पुराना है। भोजराज ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर इसका प्रतिपादन किया है। हिंदी में भी देव से पूर्व केशव, चिंतामणि और मतिराम आदि इसकी घोषणा कर चुके थे। आधुनिक मनोविश्लेषण में भी इसकी चर्चा जोर से हो रही है। इसमें संदेह नहीं कि शृंगार जीवन की प्रमुख वृत्ति है, और काव्य में भी शृंगार रस सर्व-प्रधान है; इसमें भी सन्देह नहीं कि राग अथवा रति की सक्रियता ही जीवन के उत्साह का मूल कारण है, और उसकी परिश्रान्ति ही निर्वेद की जननी है, परन्तु फिर भी अन्य सभी रसों का शृंगार में अन्तर्भाव अथवा अन्य सभी मनोवृत्तियों का रति में अंतर्भाव अधिक संगत नहीं है। शृंगार की प्रधानता तो ठीक है, परन्तु उसकी एकमात्रता सर्वथा मान्य नहीं है। ऐसा करने से करुण, भयानक, वीभत्स, रौद्र आदि विरोधी रसों को शृंगार में ठूंसने की खींचातानी करनी पड़ेगी और यह प्रयत्न सफल नहीं होगा। केशव और देव दोनों ने यही चेष्टा की है कि सभी रसों के शृंगार-परक वर्णन किये जाएँ; परन्तु वे बुरी तरह असफल हुए हैं। उनके विभिन्न उदाहरणों में शृंगार का परिपाक तो हो गया है, परंतु अन्य रसों का आभास भी अच्छी तरह नहीं मिल पाता। यह तो स्वतः स्पष्ट सा है कि प्रिय के अपराध पर मानिनी की भौंहें चढ़ जाना और शत्रु के अपराध पर वीर की भौंहें चढ जाना एक बात नहीं हो सकती। उनमें मूल भावना (स्थायी) का अंतर है। आधुनिक मनोविज्ञान में भी आज रति को व्यक्तित्व का प्रमुख अंश ही माना जाता है—फ्रायड की अपेक्षा युंग का सिद्धांत ही आज अधिक सत्य समझा जाता है। इसी

प्रसंग में शत्रु रसों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न भी किया गया है। यहां देव ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि शृंगार और वीभत्स, वीर और भयानक, हास्य और करुण का विरोध कौशल-पूर्वक मिटाया जा सकता है। परंतु ऐसा हो नहीं पाया, क्योंकि दोनों रसों के आलम्बन भिन्न हो गए हैं। उदाहरण के लिए वीभत्स शृंगार का छंद लीजिए :—

लै मुख-सिंधु-सुधा सुख सौतिके, आये इतै रुचि-ओठ अमी की।
सौंहि निसंक लई भरि अंक मयंक-मुखी सु ससंकति जी की।
जानि गई पहिचानि सुगंध, कछू छिन मानि भई मुख फीकी।
ओछे उरोज अँगौछि अँगौछन, पौछति पीक कपोलन पीकी।

[श० र०]

इसमें वीभत्स का आलम्बन सपत्नी है, और शृंगार का आलम्बन नायक है। अतएव शत्रुता का प्रश्न ही नही उठता।

आगे रस दोष शीर्षक देकर देव ने रसके कुछ और भेद भी दिये हैं :

सरस-निरस, सम्मुख-विमुख, स्व-पर-निष्ठ पहिचानि।
भीत-अभीत, उदास-चित, उचित सुचित्त बखानि॥

[शब्द-रसायन]

इन भेदों के लक्षण नही दिए गए हैं, केवल उदाहरण मात्र ही दिए गए हैं। अतएव प्रायः इनका स्वरूप समझने मे कठिनाई होती है। 'सरस' मे कोई विशेषता नहीं दिखाई देती। 'उदास' में केवल प्रिय की उदासीनता ही प्रकट की गई है। शायद एकांगी प्रेम को देव उदास रस के अन्तर्गत मानते हैं। 'नीरस' के देश, काल, वर्ण, विधि, यात्रा, संधि, रस और भाव के विरोधानुसार आठ भेद किए गए है। वास्तव मे इन सबका औचित्य की हानि से ही सम्बन्ध है। सम्मुख और विमुख रस का स्वरूप भी स्पष्ट नहीं हो पाया है। स्व-निष्ठ और पर-निष्ठ रस में अपनी और दूसरे की अनुभूति का भेद है। अर्थात् स्व-निष्ठ में नायिका की अपनी अनुभूति का वर्णन है, परनिष्ठ मे दूसरों पर अपने प्रभाव का वर्णन है:— शब्दरसायन में दिए हुए उदाहरणों से स्वनिष्ठ और परनिष्ठ का यही स्वरूप समझ में आता है। इस प्रसंग के अधिकांश (नीरस के भेद, स्वनिष्ठ-परनिष्ठ आदि का विस्तार) का संकेत रस-तरंगिणी से ही लिया गया है, परन्तु देव उसे स्पष्ट रूप से ग्रहण भी नही कर पाये, उसका विवेचन तो दूर रहा।

संचारियों के वर्णन मे भी देव ने सामान्य परम्परा से कुछ विचित्रता दिखाई है। शास्त्र मे एक प्रकार के ही संचारी माने गये हैं; परन्तु देव ने उनके दो भेद

आते हैं – शारीरिक और आंतर अथवा तन-संचारी और मन-संचारी। तन-संचारियों से अभिप्राय सात्विक भावों से है; जिनको कि साधारणतः अनुभाव के अंतर्गत ही माना गया है। मन-संचारी से अभिप्राय निर्वेदादि सर्व-स्वीकृत संचारियों से है।

ते सारीऽरु आंतर, द्विविध कहत भरतादि।
स्तंभादिक सारीर अरु, आंतर निरवेदादि॥
[भाव-विलास]

यह भी रसतरंगिणीकार के शब्दों का ही अनुवाद है।

"विकारश्च द्विविधः। आन्तरः शारीरश्च। आंतरोऽपि द्विविधः, स्थायी भावो व्यभिचारी भावश्चेति। सात्विकस्तु सात्विकभावादिः।"
[रसतरंगिणी, प्रथम तरंग]

सात्विक भाव क्यों संचारियों के अन्तर्गत आने चाहिएं, इसका विवेचन देव ने नहीं किया। परंतु कारण स्पष्ट है ही : जिस प्रकार निर्वेदादि मन में संचरण करते हुए इसका पोषण करते हैं, इसी प्रकार सात्विक भाव शरीर में संचरण करते हुए उसका पोषण करते हैं। अब यह प्रश्न उठता है कि इनमें कौन-सा मत ठीक है? सात्विक भाव-अनुभाव हैं या संचारी। देव के शब्दों मे, वे रस के प्रकाशक हैं या विलासक (पोषक)? इनमे पहली स्थापना के विषय में तो संदेह किया ही नहीं जा सकता। अर्थात् अश्रु-स्वेदादि भाव को प्रकट करते हैं—यह तो स्वतः स्पष्ट हैं; परंतु वे उसको परिपुष्ट एवं समृद्ध भी करते है, इसमे भी सन्देह नहीं है। अनुभव इसका प्रमाण है।

दूसरी नवीनता है, छल को चौंतीसवाँ संचारी मानना :—

अपमानादिक करन को, कीजै क्रिया छिपाव।
वक्र उक्ति अन्तर-कपट, सो बरनै छल-भाव॥
[भावविलास]

अर्थात् दूसरे का अपमान आदि करने के लिए, अंतर में कपट रखते हुए, वक्र उक्ति आदि के द्वारा क्रिया को छिपाने का प्रयत्न 'छल' कहलाता है। शुक्लजी ने इस नवीनता को निरर्थक मानते हुए छल को अवहित्थ के अन्तर्गत ही माना है, परन्तु देव ने रसतरंगिणीकार के अनुसरण पर दोनों में अतर किया है। अवहित्थ में आकृति और कर्म का गोपन है : "लज्जा, गौरव धृष्टता, गोपै आकृति कर्म्म"; जबकि छल में क्रिया का। अब देव से पूछा जाय कि क्रिया और कर्म में क्या अंतर है? वास्तव में उनका यह 'कर्म' भानुदत्त के 'व्यवहार' शब्द का शिथिल अनुवाद है—"आकार-व्यवहार-संगोपनम् अवहित्थम्"—"संगुप्त क्रिया-संपादनम् छलम्।"

भानुदत्त ने उसका सङ्केत न्याय-शास्त्र के प्रथम सूत्र से ग्रहण किया है, जहाँ छल को स्वतंत्र भाव माना गया है। जैसाकि रस-प्रसङ्ग में मैंने स्पष्ट किया है, पहले तो संचारियों की संख्या निश्चित करना उचित नहीं है, फिर नवीन संचारियों का अन्वेषण, अथवा नाम-करण करना भी कोई असाधारण बात नहीं है। एक ही संचारी के परिस्थितियों की भिन्नता से अनेक भिन्न रूप हो सकते हैं; परंतु यह सब होते हुए भी देव-प्रतिपादित छल में अवहित्थ से कोई विशेष पार्थक्य नहीं है। भानुदत्त-कृत पार्थक्य भी कोई महत्त्व नहीं रखता; क्योंकि व्यवहार और क्रिया में आख़िर इतना अंतर नहीं है कि उसके लिए एक नवीन भाव की उद्भावना करनी पड़े। इस तथ्य का देव ने प्रौढावस्था में जाकर अनुभव किया, और इसीलिए शब्द-रसायन में उसका उल्लेख नहीं है। उसमें केवल ३३ संचारी ही स्वीकृत किए गए हैं। कुछ संचारियो के अवान्तर भेद भी देव ने कर डाले हैं, जैसे वितर्क के ४ भेद—विप्रत्तिपत्ति, विचार, संशय और अध्यवसाय; किन्तु यह भी उनकी मौलिक उद्भावना नहीं है। यहाँ भी वे भानुदत्त का ही अनुवाद कर रहे हैं :—"वितर्कश्च-तुर्विधः विचारात्मा, संशयात्माऽनध्यवसायात्मा, विप्रतिपत्त्यात्माश्चेति।" (रस तरंगिणी तरङ्ग ५)। इसी प्रकार जहाँ अन्य रीतिकारों ने आठ काम-दशाओं का वर्णन किया है, वहाँ देव ने प्रत्येक के अनेक उपभेद कर डाले हैं :

चिंता :—साधारण-चिंता, गुप्त-चिता, संकल्प-चिता और विकल्प-चिता।

स्मरण :—स्वेद-स्मरण, स्तम्भ-स्मरण, रोमांच-स्मरण, कंप-स्मरण, स्वरभंग स्मरण, वैवर्ण्य-स्मरण, और प्रलय स्मरण।

ये आठ भेद आठ सात्विक भावों के अनुसार किए गए हैं। जिस स्मरण से स्वेद का संचार हो जाय वह स्वेद-स्मरण, जिससे स्तम्भ हो जाए यह स्तम्भ-स्मरण, इत्यादि।

गुण-कथन :—हर्ष-गुण-कथन, ईर्ष्या-गुण-कथन, विमोह-गुण-कथन, अपस्मार-गुण-कथन, ये चारों भेद चार संचारियो पर आश्रित हैं।

उद्वेग :—वस्तु-उद्वेग, देश-उद्वेग, काल उद्वेग।

प्रलाप :—ज्ञान-प्रलाप, वैराग्य-प्रलाप, उपदेश-प्रलाप, प्रेम-प्रलाप, संशय-प्रलाप, विभ्रम-प्रलाप, निश्चय-प्रलाप।

उन्माद :—मदनोन्माद, मोहोन्माद, विस्मरणोन्माद, विक्षेपोन्माद।
व्याधि :—संताप-व्याधि, ताप-व्याधि, पश्चात्ताप-व्याधि।
मरण :—(मरण के भेद करने की हिम्मत नहीं पड़ी।)

[दे० रसविलास]

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के अनावश्यक विस्तार का कोई भी महत्व नहीं है। परिस्थिति के अणु जैसे परिवर्तन हमारे भावों में कितने सूक्ष्म परिवर्तन कर देते हैं; इसका हिसाब कौन लगा सकेगा ? इस प्रकार की संयोजनाओं द्वारा तो असंख्य नवीन भेदों की सृष्टि की जा सकती है, अतएव साधारण विवेक यही कहता है कि उपलक्षण-रूप में मूल भेदों का वर्णन करके ही प्रसङ्ग को समाप्त कर देना चाहिए। इस प्रकार का विस्तार रीति के अध्ययन में साधक न होकर बाधक ही होता है।

नायिका-भेद :—वैसे तो श्रृंगार रस के आलम्बन का विवेचन होने के कारण नायिका-भेद रस-प्रसंग के ही अंतर्गत आता है, परन्तु रीतिकाल में वह विवेचन का न केवल एक स्वतंत्र वरन् सर्व-प्रधान अंग भी बन गया था। देव ने भी काव्य के सभी अंगों की अपेक्षा उसे ही अधिक महत्व दिया है। उनका अधिकांश साहित्य नायिका-भेद में ही ग्रस्त है। भाव-विलास, भवानी-विलास, कुशल-विलास, प्रेम-तरंग, सुजान-विनोद, सुखसागर-तरंग सभी में प्रकारान्तर से रस के आधार-भूत नायक-नायिका का ही वर्णन है। "वाणी को सार बखान्यौ सिंगार, सिंगार को सार किसोर-किसोरी।" अर्थात् वाणी का सार श्रृंगार है, और श्रृंगार का सार है दम्पति। दम्पति में भी रस की दृष्टि से नायिका ही मुख्य है। नायिका से अभिप्राय उस स्त्री का है जो यौवन, रूप, कुल, प्रेम, शील, गुण, वैभव और भूषण से सम्पन्न हो। ऐसी स्त्री ही अष्टांगवती नायिका कहलाती है। ये आठों अंग केवल स्वकीया में ही सम्भव हैं। परकीया में कुल और शील का अभाव रहता है, सामान्या में शील, कुल, प्रेम और वैभव का।

जा कामिनि मे देखिए, पूरन आठहु अंग।
ताही बरनै नायिका, त्रिभुवन मोहन रंग॥
पहिलै जोवन, रूप, गुन, सील, प्रेम पहिचानि।
कुल, वैभव, भूषन बहुरि, आठो अंग बखानि॥

[रस-विलास]

× × × ×

भूषन, जोवन, रूप, गुन. विभव, शील, कुल, प्रेम।
आठौं अंग स्वकियाहि के, परकिय विन कुल नेम॥
सामान्या बिन सील, कुल, प्रेम विभौ पहिचानि।
भूषन, जोवन, रूप, गुन, सहित उत्तमा जानि॥

[भवानी-विलास]

रीति-काल में देव सबसे अधिक विस्तार-प्रिय कवि थे। अन्य कवियों ने जहाँ नायिका-भेद का वर्णन अधिक से अधिक कर्म, काल, गुण, वयःक्रम, दशा और जाति के अनुसार ही किया है, वहाँ देव ने इनके अतिरिक्त देश, प्रकृति, सत्व और अंश के आधार को भी ग्रहण किया है। इस प्रकार उन्होंने आठ या नौ आधारों को लेकर इस विषय का विस्तार-प्रस्तार किया है :—

> जाति, कर्म, गुण, देस अरु काल वयः क्रम जानु।
> प्रकृति, सत्व, नायिका के आठो भेद बखानु॥
> × × × ×
> पदमिन्यादिक जाति त्रिय, अंस सुदेवी आदि।
> उत्तमादि गुण, कर्म वय, स्वकियादिक मुग्धादि।
> दशा विरह स्वाधीन-पति आदि अवस्था हाव।
> सत्व देव सत्वादि तहँ प्रकृति कफादि जनाव॥
>
> [कुशल-विलास]

जाति-भेद का आधार काम-शास्त्र है। इसके अंतर्गत स्त्री की काम-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं को दृष्टि मे रखते हुए उसके स्वभाव और शरीर की विशेषताओं का विचार आता है। जाति के अनुसार नायिका के चार भेद हैं :—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी। संस्कृत में भरत, धनंजय, विश्वनाथ, और भानुदत्त किसी ने भी इनका वर्णन नहीं किया है; परन्तु हिंदी मे इनका आरम्भ केशवदास से ही हो जाता है। 'कर्म' से यहाँ नायिका का नायक से सामाजिक सम्बन्ध ही अभिप्रेत है। इस शब्द का प्रयोग कुछ अतिव्याप्त-सा है, इसीलिए दास ने इसके स्थान पर 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया है, जो वास्तव मे कहीं अधिक संगत एवं उचित अर्थ का द्योतक है। हरिऔधजी ने भी इसी को स्वीकार किया है। कर्म (अथवा धर्म) के अनुसार नायिका के तीन भेद हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या। वयः क्रम के अनुसार फिर स्वकीया के तीन भेद किए गए हैं—मुग्धा, मध्या और प्रौढा। मुग्धा के देव ने पाँच भेद माने है :—

१. वयस्सन्धि	१२।—१२॥ वर्ष
२. नवलवधू	१२॥—१३ ,,
३. नवयौवना	१३—१४ ,,
४. नवल अनंगा	१४—१५ ,,
५. सलज्ज रति	१५—१६ ,,

उपर्युक्त पाँच भेद प्राचीन विदर्भ देश के पण्डितों के अनुसार हैं। नवीन गौडीय पण्डित इन्हे दूसरे प्रकार से भी कहते हैं :—

यह प्राचीन विदर्भ मत अनुमत गौड़ नवीन,
बरनत मुग्धा पाँच विधि औरो नाम प्रवीन।

[कुशल-विलास]

वयः सन्धि को तो वयः सन्धि ही कहते हैं, नवल वधू को अज्ञात यौवना, नव-यौवना को ज्ञात-यौवना, नवल-अनंगा को नवोढा, और सलज्ज-रति को विश्रब्ध-नवोढा कहते हैं।

वयस् संधि अज्ञात अरु ज्ञात यौवना नाम।
नवोढ अरु विश्रब्ध स्यों मुग्धा पाँचौ नाम॥

[कुशल-विलास

ऐसा करने में खींच-खाँच तो थोडी अवश्य ही हुई है : उदाहरण के लिए कम से कम नवल-अनंगा और नवोढा के लक्षण पूरी तरह नही मिलते। पहले पाँच भेद थोड़े हेर-फेर से विश्वनाथ से—विश्वनाथ से भी नहीं वरन् धनंजय से—ग्रहण किए गये हैं। धनंजय से विश्वनाथ ने, विश्वनाथ से केशव ने और केशव से देव ने उन्हें ग्रहण किया है। केशव ने केवल चार ही भेद माने हैं—नवलवधू, नवयौवना, नवल अनंगा, लज्जा-प्राय रति। देव ने उनमें वयस् संधि और जोड़ कर विश्वनाथ की पाँच संख्या पूरी कर दी है। दूसरे भेद लगभग ज्यों के त्यों भानुदत्त के अनुसार हैं। प्राचीन विदर्भ तथा नवीन गौड़ीय पण्डितों से देव का संकेत किस ओर है यह कहना कठिन है। वैसे तो उपर्युक्त वर्गों का सम्बन्ध विश्वनाथ और भानुदत्त से है, परन्तु विश्वनाथ उड़ीसा के रहने वाले थे और भानुदत्त मिथिला के। विदर्भ और गौड़ उनमे से कोई भी नही था। वास्तव में ये दोनो विशेषण देव ने यों ही चलते ढंग से प्रयुक्त कर दिये हैं। विदर्भ-शैली प्राचीन थी, गौड़ी शैली अपेक्षाकृत अर्वाचीन, यही उनकी उक्ति का आधार है।

मध्या और प्रौढा के चार अवांतर भेद हैं :—

मध्या		प्रौढा	
१. रूढ़ यौवना (आरूढ यौवना)	१६-१७ वर्ष	लब्धापति	२०-२१ वर्ष
२. प्रगट मनोजा	१७-१८ ,,	रतिकोविदा	२१-२२ ,,
३. प्रगल्भ वचना	१८-१९ ,,	आक्रांतनायका	२२-२३ ,,
४. विचित्र सुरता	१९-२० ,,	सविभ्रमा	२३-२४ ,,

उपर्युक्त विभेद भी देव ने प्रायः ज्यों के त्यों केशव सेके—शव ने थोड़ा परिवर्तन कर विश्वनाथ से लिए हैं; और विश्वनाथ का आधार यहाँ भी धनंजय ही है। देव ने उन्हें सीधे विश्वनाथ से नहीं ग्रहण किया, इसका प्रमाण यह है कि इनके

क्रम अथवा नाम आदि में जो परिवर्तन हुए हैं, वे पहले केशव में मिलते हैं। अतएव उनका दायित्व अथवा श्रेय केशव को ही दिया जायगा। हाँ, यह वर्ष-विभाजन देव का अपना है; परन्तु यह अपने आप में अर्थ-हीन है; क्योंकि मानव-स्वभाव आयु की घड़ी द्वारा परिचालित नही है। आगे चल कर आयु के इन वर्षों को देव ने अंश-भेद के अनुसार भी क्रम-बद्ध किया है। स्त्री में नायिकात्व केवल ३५ वर्ष की आयु तक ही रहता है। ये पैंतीस वर्ष अंश-भेद के अनुसार पाँच भागो में विभक्त हैं:—सात वर्ष तक देवी, सात से चौदह बर्ष तक देव-गन्धर्वी, चौदह से इक्कीस वर्ष तक गन्धर्वी, इक्कीस से अट्ठाईस तक गन्धर्व-मानुषी और अट्ठाईस से पैंतीस तक शुद्ध मानुषी। इनमे देवी (१०॥ वर्ष तक) पूज्या होती है, गन्धर्वी (१०॥ से २४॥ वर्ष तक) भोग के लिए और मानुषी (२४॥ से ३५ वर्ष तक) सुख-संतान के लिए होती है।

सुर अंस भवानी पूज्य जग गंधर्वी संभोग-प्रिय।
कुल धर्म कर्म संतान हित सरस्वती नर-अंस-त्रिय॥
(भवानी-विलास)

फिर नायिका के प्रति पति के प्रेम के अनुसार स्वकीया के दो भेद और किए गए है—ज्येष्ठा और कनिष्ठा। यह स्थिति स्वभावत: मान को जन्म देती है, और मान के अनुसार धीरा, धीराधीरा और अधीरा ये तीन भेद और हो जाते हैं। ये तोनों भेद मुग्धा में तो सम्भव ही नहीं हैं, केवल मध्या और प्रौढ़ा में ही होते हैं, इनका भी मूल आधार धनञ्जय का दश-रूपक है। वैसे भानुदत्त और विश्वनाथ दोनों ने ही इनका उल्लेख किया है।

ये तो स्वकीया के भेद हुए। अब परकीया के भेद लीजिए:—परकीया के विश्वनाथ ने केवल दो भेद किए हैं—परोढ़ा (कुलटा) और कन्यका; परन्तु भानुदत्त ने रस मंजरी मे परोढा के छः अवान्तर भेद भी कर डाले हैं, गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना, मुदिता। देव ने ये छ: भेद विस्तार के साथ ग्रहण किए है। केवल अनुशयाना के अवान्तर भेद छोड दिए हैं।

नायिका भेद का तीसरा आधार है 'काल-क्रम'। इसके अनुसार आठ प्रकार की नायिकाएँ मानी गई है:—स्वाधीन-पतिका, कलहांतरिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खण्डिता, उत्कण्ठिता, वासकसज्जा, प्रोषित-पतिका। इस विभाजन का सर्व-प्रथम उल्लेख भरत मे मिलता है। उनके पश्चात् फिर सभी ने इसे ग्रहण किया है। भानुदत्त ने प्रोषित-पतिका के अंतर्गत एक नये भेद प्रोत्स्य-भर्तृका की ओर संकेत किया है; और उसी के आधार पर हिन्दी वालो ने प्रोषित-पतिका के निश्चय-

पूर्वक दो और अवान्तर भेद कर डाले हैं। प्रवत्स्यत्-पतिका और आगत-पतिका। देव इससे भी आगे बढ़े हैं और उन्होंने एक सूक्ष्म भेद गतागत-पतिका भी जोड़ दिया है। देव ने यह भेद-विस्तार काल-क्रमानुसार माना है। यहाँ 'काल' शब्द विचारणीय है। काल का प्रयोग देव से पूर्व केशव ने भी किया है:—

देश काल वय भाव ते केशव जानि अनेक।

(रसिक-प्रिया)

यह शब्द यहां परिस्थिति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि उपर्युक्त आठों भेद नायिका की विशेष परिस्थिति-जन्य मनोदशा (अवस्था) को ही व्यक्त करते हैं। भरत और विश्वनाथ ने इनको 'अवस्था' कहा है और हिन्दी के प्रायः आचार्यों ने, स्वयं देव ने भी कई एक स्थानों पर उसे स्वीकृत किया है। वास्तव में ये दोनों शब्द ही थोड़े अस्पष्ट एवं अतिव्याप्त हैं; परन्तु फिर भी काल की अपेक्षा अवस्था कहीं अधिक उपयुक्त और संगत है।

इसके बाद फिर 'गुण' के अनुसार इन सभी नायिकाओं के तीन तीन भेद होते हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा। इसका भी मूल आधार भरत का नाट्य-शास्त्र ही है, परन्तु भरत ने गुण के स्थान पर प्रकृति शब्द का प्रयोग किया है, जो निस्सन्देह अधिक व्यंजक और स्पष्ट है। दशा अर्थात् मनोदशा के अनुसार साधारणतः तीन भेद होते हैं:—अन्य-संभोग-दुःखिता, गर्विता तथा मानिनी। देव ने नायिका के आठों अंगों के अनुसार गर्विता के कुल-गर्विता, शील-गर्विता, रूप-गर्विता, यौवन-गर्विता, आदि आठ अवांतर भेद कर डाले हैं। परन्तु देव की प्रस्तार-प्रियता यहीं पर नहीं रुकी। उन्होंने प्रकृति, सत्व और देश के क्रमानुसार भी नायिकाओं का प्रस्तार किया है। प्रकृति के तीन प्रकार:—वात, पित्त, कफ।

सत्व के ६ प्रकार:—सुर, किन्नर, यक्ष, नर, पिशाच, नाग, खर, कपि, और काक।

देश के अनेक भेद:—मध्यदेश वधू, मगध वधू, कौशल वधू, पाटल वधू, उत्कल वधू, कलिंग वधू, कामरू वधू, वंग वधू, विन्ध्यवन वधू, मालव वधू, आभीर वधू, विराट वधू, कुंकल (कोंकण) वधू, केरल वधू, द्राविड़ वधू, तैलंग वधू, करनाटक वधू, सिन्धु वधू, गुजरात वधू, मारवाड़ वधू, कुरुदेश वधू कुरमी (कूर्मांचल) वधू, पर्वत वधू, भुटंत वधू, काश्मीर वधू, और सौवीर वधू यह विस्तार अभी और भी आगे चला है और जाति अर्थात् वर्ण-व्यवसाय तथा वास की दृष्टि से भी भेदों को बढ़ाया गया है:—

(१) नागरी:—

(अ) देवल—१-देवी, २-पूजनहारी, ३-द्वारपालिका।

(आ) रावल—१-राजकुमारी, २-धाय, ३-सखी, ४-दूती, ५-दासी।

(इ) राजनगर—१-जौहरिन, २-छीपिन, ३-पटवाइन, ४-सुनारिन, ५-गंधिन, ६-तेलिन, ७-तमोलिन, ८-हलवाइन, ९-मोदिन, १०-कुम्हारिन, ११-दरजिन, १२-चूहरी, १३-गणिका।

(२) पुरबासिन—१-ब्राह्मणी, २-राजपूतनी, ३-खतरानी, ४-वैश्यानी, ५-कायस्थनी ६-शूद्रिनी, ७-नाइन, ८-मालिन, ९-धोबिन।

(३) ग्रामीणा—१-अहीरिन, २-काछिन, ३-कजारिन, ४-कहारी, ५-तुनेरी।

(४) बनबासिन—१-मुनितिय, २-व्याधिनी, ३-भीलनी।

(५) सेन्या—१-वृषली, २-वेश्या, ३-मुकेरिनी।

(६) पथिकतिय—१-बनजारिन, २-जोगिन, ३-नटनी, ४-कुवेरनी।

इस प्रकार देव ने अन्य कवियों की अपेक्षा प्रकृति, सत्व, अंश और देश, ये चार भेद अधिक माने हैं। पहले तो, ये चारों भेद-क्रम भी सर्वथा मौलिक नहीं हैं—प्रकृति, सत्व और अंश का विवेचन तो आयुर्वेद तथा काम-शास्त्र में मिलता है। देश-भेद का संकेत मम्मट ने काव्य-प्रकाश में तथा केशव ने रसिक-प्रिया में पहले ही दे दिया है। दास तथा वर्ण-व्यवसाय आदि के अनुसार वर्णन रहीम के 'बरवै नायिका भेद' में है। दूसरे फिर इस भेद-विस्तार के औचित्य का प्रश्न भी उठता है। क्या ये सभी प्रकार की स्त्रियाँ शृंगार रस के विभावान्तर्गत आ जाती हैं? क्या नाइन, तेलिन, चूहरिन सभी अष्टांगवती नायिकाएं हैं? क्या वे त्यागी, कृती, कुलीन, मानी आदि विशेषणों से सम्पन्न नायक की रति का आलम्बन मानी जा सकती है। साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से तो इन सब का विस्तार अनुचित है ही। उसके अनुसार तो ये अधिक से अधिक दूती आदि अवर भेदों के अन्तर्गत आ सकती हैं। विवेक और सुरुचि की दृष्टि से भी यह सब वितण्डा मात्र है। भला खर, पिशाच आदि सत्वों से युक्त नायिकाएं सहृदय की रति का आलम्बन कैसे मानी जायँगी? वास्तव में इस विस्तार से रस-शास्त्र के मनोवैज्ञानिक विवेचन में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती—वरन् नायिका-भेद का उद्देश्य ही भ्रष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त भेद-विस्तार के अतिरिक्त, देव ने अपने ढंग से वर्ग बनाकर कुछ नवीन संगतियाँ बैठाने का प्रयत्न भी किया है। उनमें दो मुख्य हैं:—एक तो मुग्धा, मध्या और प्रौढा के विभिन्न भेदों की पूर्वराग, प्रथम-संयोग, और सुख-भोग के साथ संगति; दूसरी कामदशा, अवस्था और हाव की क्रमशः मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के साथ संगति।

पहली गति :—

दूसरी संगति :—

मुग्धा-के अंतर्गत अभिलाषा आदि आठ कामदशाओं का वर्णन।
मध्या-के अंतर्गत स्वाधीन-पतिका आदि आठ अवस्थाओं का वर्णन।
प्रौढ़ा-के अंतर्गत लीला-विलास आदि दश हावों का वर्णन।

इन दोनों संगतियों में थोड़ी विचित्रता अवश्य है, परन्तु उनका न तो विशेष औचित्य ही माना जा सकता है और न महत्व ही। औचित्य की दृष्टि से तो मुग्धा के प्रथम चार भेदों में पूर्वानुराग या पूर्वराग-वियोग मानना असंगत होगा। यह ठीक है कि भय और लाज के कारण मुग्धा-मिलन का (सुरति का) पूर्ण सुख प्राप्त नहीं कर पाती, परन्तु मिलन का अभाव यहां नहीं होता है; अतएव पूर्वराग-वियोग की स्थिति मुग्धा के लिए अनिवार्य नहीं मानी जा सकती। दूसरी संगति इससे अधिक दूरारूढ़ और अयुक्त है। एक ओर तो, पहली संगति में, मुग्धा को भय और लाज के कारण मिलन की अनुभूति के भी अयोग्य माना गया है, दूसरी ओर फिर द्वितीय संगति में, उसके अंतर्गत प्रलाप, उद्वेग, मरण आदि विकसित काम-दशाओं को भी खपा दिया गया है। पूर्वराग में आठों काम-दशाओं का अंतर्भाव ही कुछ संगत नहीं है। इसी प्रकार आठ अवस्थाओं को मुग्धा में चाहे न भी मानिए—यद्यपि भानुदत्त, चिंतामणि आदि सभी ने ऐसा किया है—परन्तु प्रौढ़ा को उनसे वंचित करना किसी प्रकार भी उचित नहीं होगा। प्रौढ़ा और हावों की संगति के विषय में भी यही कहा जा सकता है। विभ्रम, विच्छित्ति विलास, लीला आदि की सम्भावना तो एक प्रकार से मुग्धा और मध्या में ही अधिक है। प्रौढ़ा में गंभीरता आ जाती है, अतएव उसे यह सब न अधिक रुचिकर

ही होता है, न शोभन ही। देव को स्वयं अपने इस सिद्धांत के लचरपन का ज्ञान था।

दसा, अवस्था, हाव दस जद्यपि सकल त्रियानि।
तदपि सुकवि क्रम ते कहत मुग्ध, मध्य, प्रौढानि॥
[सुजान-विनोद]

परन्तु विस्तार बढाना और मीज़ान लडाना इनका कुछ स्वभाव ही हो गया था। इसी लिए अन्त तक वे नायिका-भेद का इसी क्रम से वर्णन करते रहे।

नायिका के अतिरिक्त देव ने नायक, नायक के सहायक, दूती आदि का भी वर्णन किया है, परन्तु वह साधारण परम्परा के अनुसार ही है, उन्होंने अपनी ओर से उसमें कोई उल्लेख योग्य उद्भावना नहीं की।

अलंकार—देव ने अलंकारों का केवल दो स्थानों पर विवेचन किया है—एक भाव-विलास के अंतिम विलास में—दूसरे शब्द-रसायन के आठवें और नवें प्रकाश में। भावविलास में केवल ३९ अलंकारों के बहुत ही चलते ढंग से लक्षण-उदाहरण दिए गए हैं। आरम्भ में देव ने केवल ३९ अलंकारों को ही मुख्य माना है:—

अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव कहैं
येई पुराननि मुनि मतनि में पाइये
आधुनिक कवि न के सम्मत अनेक और,
इनहीं के भेद और बिविध बताइये॥
भावविलास]

अर्थात् मुख्य अलंकार ३९ ही हैं—प्राचीन आचार्यों का ऐसा ही मत है। आधुनिक कवि (आचार्य) और भी अनेक अलंकारों को मानते हैं, परन्तु वे इनके ही भेद हैं—स्वतंत्र नहीं हैं। प्राचीनों से यहां देव का तात्पर्य मम्मट, दण्डी आदि का ही है—इन्होंने भी अलंकारों की संख्या क्रमशः ३८ और ३६ मानी है। बाद में तो ज्यों ज्यों समय बीतता गया इनकी संख्या में वृद्धि होती गई। यहां तक कि मम्मट में वह ७०, रुय्यक में ८४, विश्वनाथ में ९० तक पहुंच गई। कुवलयानन्द-कार ने उसे और भी आगे खींचकर १२० तक पहुँचा दिया। 'आधुनिक कविन' से देव का इन्हीं परवर्ती आचार्यों का आशय है। भाव-विलास में दिए हुए अलंकार प्रायः दण्डी के अनुसार ही हैं—दंडी से केशव ने और केशव से देव ने उन्हें ग्रहण किया है, इसीलिए यथा-संख्य आदि कुछ अलंकारों के नाम संस्कृत आचार्यों के अनुसार न होकर केशव के अनुसार ही हैं। दंडी ने वैसे तो अलंकारों की संख्या ३६ मानी है—परन्तु इनमे अनुप्रास और यमक दो शब्दालंकार भी अन्तर्भूत

हैं। इसलिए उनके अर्थालंकार केवल ३४ रह जाते हैं। इन ३४ में उन्होंने भामह के अनन्वय, उपमेयोपमा और सन्देह को पृथक् न मान कर उनका उपमा में अंतर्भाव कर लिया है। देव ने दंडी के ३४ अलंकारों के साथ इन ३ को भी स्वतन्त्र ही माना है। इस प्रकार दंडी के ३७ अलंकार ज्यों के त्यों देव ने स्वीकृत कर लिए हैं—केवल दो अलंकार—वक्रोक्ति और पर्यायोक्ति— ही ऐसे रह जाते हैं जिनको दंडी ने स्वतंत्र-रूप से ग्रहण नहीं किया। परन्तु पर्यायोक्ति की भामह मे पृथक् सत्ता स्वीकृत की गई है—और वक्रोक्ति को अलंकारों का मूलाधार माना गया है। अतएव ये दोनों अलंकार वहीं से केशव की कवि-प्रिया की यात्रा करते हुए भाव-विलास तक आ पहुँचे हैं।

देव	केशव	दण्डी	भामह
१. स्वाभावोक्ति	(जाति स्वभाव)	स्वाभावोक्ति	स्वाभावोक्ति
२. उपमा	उपमा	उपमा	उमपा
३. उपमेयोपमा	परस्परोपमा (उपमा का भेद)-	(उपमा का भेद)	उपमेयोपमा
४. संशय	(उपमा का भेद)	संशय	संशय
५. अनन्वय	(उपमा का भेद)	(उपमा का भेद)	अनन्वय
६. रूपक	रूपक	रूपक	रूपक
७. अतिशयोक्ति	अतिशयोक्ति	अतिशयोक्ति	अतिशयोक्ति
८. समासोक्ति	समासोक्ति	समासोक्ति	समासोक्ति
९. सहोक्ति	सहोक्ति	सहोक्ति	सहोक्ति
१०. विशेषोक्ति	विशेपोक्ति	विशेपोक्ति	विशेपोक्ति
११. व्यतिरेक	व्यतिरेक	व्यतिरेक	व्यतिरेक
१२. विभावना	विभावना	विभावना	विभावना
१३. उत्प्रेक्षा	उत्प्रेक्षा	उत्प्रेक्षा	उत्प्रेक्षा
१४. आक्षेप	आक्षेप	आक्षेप	आक्षेप
१५. दीपक	दीपक	दीपक	दीपक
१६. उदात्त	उदात्त	उदात्त	उदात्त
१७. अपन्हुति	अपन्हुति	अपन्हुति	अपन्हुति
१८. श्लेष	श्लेष	श्लेष	श्लेष
१९. अर्थान्तरन्यास	अर्थान्तरन्यास	अर्थान्तरन्यास	अर्थान्तरन्यास
२०. व्याजस्तुति	व्याजस्तुति	व्याजस्तुति	व्याजस्तुति
२१. अप्रस्तुतप्रशंसा	अप्रस्तुतप्रशंसा	अप्रस्तुतप्रशंसा	अप्रस्तुतप्रशंसा
२२. आवृत्ति-दीपक	आवृत्ति-दीपक	(आवृत्ति)	आवृत्ति-दीपक
२३. निदर्शना	निदर्शना	निदर्शना	निदर्शना

२४. विरोध	विरोध	विरोध	विरोध
२५. परिवृत्ति	परिवृत्ति	परिवृत्ति	परिवृत्ति
२६. रसवत्	रसवत्	रसवत्	रसवत्
२७. ऊर्जस्वल	ऊर्जस्वल	ऊर्जस्वल	ऊर्जस्वल
२८. प्रेम	प्रेम	प्रेम	प्रेम
२९. समाहित	समाहित	समाहित	समाहित
३०. क्रम	क्रम	क्रम यथासंख्य	यथासंख्य
३१. तुल्ययोगिता	तुल्ययोगिता	तुल्ययोगिता	तुल्ययोगिता
३२. भाविक	भाविक	भाविक	भाविक
३३. संकीर्ण	(उपमा में ही माना है)	संकर्ण	संकीर्ण
३४. आशिष	आशिष	आशिष	आशिष
३५. लेश	लेश	लेश	लेश
३६. सूक्ष्म	सूक्ष्म	सूक्ष्म	मसूक्ष
३७. हेतु	हेतु	हेतु	हेतु
३८. पर्यायोक्ति	पर्यायोक्ति	पर्यायोक्ति	पर्यायोक्ति
३९. वक्रोक्ति	वक्रोक्ति	वक्रोक्ति	अंलकारों के

[मूलाधार रूप में स्वीकृत]

आगे चलकर शब्द-रसायन मे इस प्रसंग का अधिक विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है—वहां ४० मुख्य अलंकार, और ३० गौण, इस प्रकार कुल मिलाकर उनकी संख्या ७० मानी गई है, साथ ही यह भी संकेत कर दिया गया है कि मुख्य-गौण के मिश्र-अमिश्र भेद मिलकर अनेक हो जाते हैं:—

मुख्य गौण विधि भेद करि, हैं अर्थालंकार ।
मुख्य कहौ चालीस विधि, गौण सुतीस प्रकार ॥
मुख्य गौण के भेद मिलि, मिश्रित होत अनंत ।
गुप्त प्रगट सब काव्य मैं, समुझत हैं मतिमंत ॥

[शब्द-रसायन]

शब्द-रसायन मे भेदों को छोड़कर लगभग ८५, ८६ अलंकारो से लक्षण उदाहरण दिए गए हैं—जिसमें काव्यालंकार से कुवलयानन्द तक के अनेक अलंकार आ जाते हैं। भाव-विलास के उपर्युक्त ३९ अलंकारो के अतिरिक्त यहां जो अन्य अलंकार दिए हुए हैं वे इस प्रकार हैं: १. उल्लेख, २. समाधि, ३. दृष्टांत, ४. असम्भव, ५. असंगति, ६. परिकर, ७. तद्गुण, ८. अतद्गुण, ९. अनुज्ञा, १०. अवज्ञा, ११. गुणवत, १२. प्रत्यनीक, १३. लेख, १४. सार, १५. मीलित, १६.

कारणमाला, १७. एकावली, १८. मुद्रा, १९. मालादीपक, २०. समुच्चय, २१. सम्भावना, २२. प्रहर्षण, २३. गूढोक्ति, २४. व्याजोक्ति, २५. विवृतोक्ति, २६. युक्ति, २७. विकल्प, २८. अत्युक्ति, २९. भ्रांति, ३०. स्मरण, ३१. प्रयुक्ति, ३२. निश्चय, ३३. सम, ३४. विषम, ३५. अल्प, ३६. अधिक, ३७. अन्योन्य, ३८. सामान्य, ३९. विशेष, ४०. उन्मीलित, ४१. अर्थापत्ति, ४२. पिहित, ४३. विधि, ४४. निषेध, ४५. अन्योक्ति। इनमें दृष्टांत का आविष्कार रुद्रट ने किया था; व्याजोक्ति का वामन ने; अधिक, अन्योन्य, असंगति, एकावली, कारणमाला, तद्गुण, परिकर, प्रत्यनीक, पिहित, भ्रांति, मीलित, विषम, विशेष, समुच्चय, सार और स्मरण का रुद्रट ने; अर्थापत्ति और समाधि का भोज ने; अतद्गुण, मालादीपक, सामान्य और सम का मम्मट ने; उल्लेख, काव्यार्थापत्ति और विकल्प का रुय्यक ने; अत्युक्ति, अनुगुण या गुणवत, अवज्ञा, असम्भव, उन्मीलित, प्रहर्षण, और सम्भावना का चन्द्रालोककार ने; तथा अनुज्ञा, अल्प, गूढोक्ति, निषेध (प्रतिषेध), युक्ति, विधि, विवृतोक्ति, और मुद्रा का कुवलयानन्द के लेखक ने। अब केवल ३ अलंकार शेष रह जाते हैं—निश्चय, अन्योक्ति और प्रत्युक्ति। इनमें निश्चय भ्रान्तापन्हुति का ही दूसरा नाम है—विश्वनाथ ने इसका 'निश्चय' नाम से ही उल्लेख किया है। अन्योक्ति नाम संस्कृत में नहीं मिलता है—परन्तु हिन्दी में इसका केशवदास से ही स्वतंत्र रूप में उल्लेख है। प्रत्युक्ति वास्तव में उत्तर अथवा प्रश्नोत्तर अलंकार का ही रूप है—जिसका आविष्कार रुद्रट ने किया था। उपर्युक्त अलंकार-वर्णन किसी नियम अथवा क्रम-विशेष के अधीन नहीं है। इसमें मुख्य अलंकार कौन-से हैं और गौण कौन-से इसका भी स्पष्ट रूप से निर्देश नहीं है, वर्णन-विस्तार तथा पहले पीछे के हिसाब से ही थोड़ा बहुत अनुमान लगाया जा सकता है। जिनको कवि ने महत्वपूर्ण माना उनको पहले दिया है और विस्तार-पूर्वक दिया है शेष को बाद में चलता कर दिया है। जो ३९ अलंकार भाव-विलास में दिए हुए हैं उनको यदि भामह, दण्डी आदि के साक्ष्य पर प्रधान मान भी लिया जाए, फिर भी शेष ४५, ४६ अलंकारों के चयन में किस सिद्धांत को आधार बनाया गया है, यह जानना कठिन है। यह आधार अलंकार का स्वतंत्र महत्व एवं लोक-प्रियता ही हो सकती थी परन्तु देव-द्वारा स्वीकृत अनेक अलंकार स्पष्टत: ऐसे हैं जो इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते:—जैसे असम्भव, प्रयुक्ति, निषेध, अल्प, अधिक आदि जो प्राचीन होते हुए भी स्वतंत्र महत्व नहीं रखते। इसके विपरीत, कतिपय अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्रचलित अलंकारों को छोड़ दिया गया है—उदाहरण के लिए काव्यलिंग, प्रतिवस्तूपमा, परिसंख्या इत्यादि वास्तव में, देव ने यह चयन किसी निश्चित आधार को

लेकर नहीं किया, वरन् अपनी व्यक्तिगत रुचि तथा उदाहरण-सुविधा को दृष्टि में रखकर ही किया है।

शब्दालंकारों में देव ने अनुप्रास, यमक और चित्र का ही उल्लेख किया है—इनमें भी एक प्रकार से चित्र का ही मुख्यरूप से ग्रहण है क्योंकि अनुप्रास और यमक को तो चित्र के आधार-रूप माना गया है:—

अनुप्रास अरु यमक ये, चित्र काव्य के मूल।
इनहीं के अनुसार सो सकल चित्र अनुकूल ॥

शब्द-रसायन]

यमक के अन्तर्गत उन्होंने सिंहावलोकन का भी उल्लेख किया है—परन्तु उसका लक्षण नहीं दिया। चित्र के कामधेनु, सर्वतोभद्र, पर्वत, हार, कपाट, धनु, कमल आदि अनेक भेदों का उल्लेख है—जिनमें एकाक्षर, अनुलोम-क्रम, गतागत क्रम, तथा अंतर्लापिका आदि का चमत्कार दिखाया गया है।

देव की अलंकार-विषयक दो मान्यताएं:—अलंकारों के विषय में देव की दो मान्यताएं विचारणीय हैं—एक तो यह कि उन्होंने शब्दालंकार को, और उससे तात्पर्य्य उनका मुख्यतः चित्र से है, अत्यन्त हेय माना है। इनमें शाब्दिक माधुर्य्य और चित्रोपमता अवश्य रहती है परन्तु अर्थ का अभाव अथवा क्लिष्टता होने के कारण इन्हें 'मृतक काव्य' अथवा 'प्रेत काव्य' ही माना जा सकता है:—

मृतक काव्य बिनु अर्थ के कठिन अर्थ को प्रेत।

शब्द-रसायन]

शब्द-चित्र का आदर करने वालों पर कवि ने तीक्ष्ण व्यंग्य किया है:—

सरस वाक्य पद, अरथ तजि, शब्द चित्र समुहात।
दधि, घृत, मधु, पायस तज, वायसु चाम चबात ॥

[शब्द-रसायन]

चित्र-काव्य के प्रति यह शुद्ध रसवादी दृष्टिकोण है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के आरम्भिक युग में—अर्थात् भामह से आनन्दवर्धन के पूर्व तक अलंकार-चमत्कृति का अत्यधिक महत्त्व रहा। इसका प्रभाव उस समय के कवियों पर भी पड़ा था और बाण, भारवि, माघ आदि के लिए भी शब्द-क्रीडा अनिवार्य्य हो गई थी। बाण ने स्थान स्थान पर शब्द-चित्र प्रहेलिका आदि का प्रयोग किया है, माघ ने एक पूरा सर्ग ही इनको समर्पित कर दिया है। आनन्दवर्धन और अभिनव-गुप्त ने ध्वनि की प्रतिष्ठा करते हुए रस-ध्वनि को उत्तम-काव्य माना और रस में हीन,

केवल शब्द-चमत्कार पर आश्रित चित्र आदि को अधम काव्य में परिगणित किया। परन्तु फिर भी, चाहे अधम ही सही, चित्र को उन्होंने काव्य संज्ञा से वञ्चित नहीं किया —क्योंकि वे मानते थे कि किसी न किसी रूप में सौन्दर्य की (चाहे वह सर्वथा बाह्य ही क्यों न हो) ध्वनि उसमें अवश्य वर्तमान रहती है। आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक सभी ध्वनि-वादियों का यही दृष्टिकोण रहा।

'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्' ॥५॥
चित्रमिति गुणालंकारो युक्तम्।
अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्।
(काव्य-प्रकाश १, ५,)

अर्थात् जिस काव्य में शब्द चित्र और वाच्य चित्र हों और व्यंग्य अर्थ न हो उसको अधम काव्य कहते हैं। अव्यंग्य शब्द का अर्थ है जिसका कोई शीघ्र प्रतीयमान अर्थ न निकलता हो। दूसरे शब्दों में, जहाँ अर्थ का कोई सौंदर्य्य ध्वनित न हो, केवल शब्द-सौंदर्य्य ही ध्वनित हो।—परन्तु आगे चलकर विश्वनाथ ने चित्र को काव्य मानने से साफ़ इन्कार कर दिया।*उन्होंने स्पष्टतः चित्र को काव्य मे 'गड्डुभूत'—अर्थात् गले में लटके हुए मांस की तरह किसी प्रकार का उपकार करने में असमर्थ, केवल भाररूप माना—

काव्यान्तर्गड्डुभूततया तु नेह प्रपञ्च्यते।

और प्रहेलिका आदि मे तो रस की परिपंथी होने के कारण—अलंकारत्व भी स्वीकृत नहीं किया। देव की भी ठीक यही स्थिति है। जिस प्रकार घोर तिरस्कार करने के उपरांत भी विश्वनाथ ने परम्परा के अनुसार चित्र का थोड़ा बहुत वर्णन किया है, इसी प्रकार देव ने भी भिन्न रुचि के लोगों के लिए उसके कुछ भेद दे दिए हैं।

देव की दूसरी मान्यता अर्थालंकार सम्बन्धी है—वह यह कि अलंकारों मे सबसे मुख्य हैं उपमा और स्वाभावोक्ति:—

अलंकार मे मुख्य हैं, उपमा और सुभाव।
सकल अलंकारिन विषै, परसत प्रगट प्रभाव॥
(श० र०)

---

* केचिच्चित्राख्यं तृतीय काव्यभेदमिच्छन्ति। तदाहुः 'शब्दचित्रं वाच्य-चित्रमव्यग्यं त्ववरं स्मृतम्। इति तन्न' (साहित्यदर्पण ४ परिच्छेद)

और इन दोनों में भी उपमा का महत्व अधिक है—

सकल अलंकारनि विषे, उपमा अंग उपंग।

या सकल अलंकारनि विषै, उपमा अंग लखाहि।

(श० र०)

स्वाभावोक्ति का अलंकार-शास्त्र में इतना महत्व कभी नहीं रहा। कुंतक ने तो उसको अलंकार ही नहीं माना 'शरीरं (स्वभावं) चेदलंकारः किमलं कुरुतेऽपरम्' भामह ने वक्रोक्ति को और दण्डी ने अतिशयोक्ति को अलंकारो का मूलाधार माना है—और दोनो ने स्वाभावोक्ति को जो स्थूलतः वक्रोक्ति अथवा अतिशयोक्ति के विपरीत पड़ती है, साधारण अलंकार ही माना हैं। मम्मट और विश्वनाथ का भी यही मत है। ऐसी दशा मे स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि देव ने स्वभावोक्ति को इतना व्यापक महत्व किस आधार पर दिया? कम से कम किसी प्राचीन आचार्य्य का प्रमाण इस विषय मे नहीं है। अतएव यह देव का अपना रुचि वैशिष्ट्य ही है, यही मानना होगा।

यद्यपि इसका कारण उन्होने कुछ नहीं दिया फिर भी उनके रसवाद से इस मान्यता का सम्बन्ध स्थापित कर लेना कठिन न होगा। कथन की साधारणतः तीन शैलियाँ हैं—एक वक्रोक्ति जिसमे बात को घुमा फिरा कर कहा जाता है, दूसरी अतिशयोक्ति जिसमें बात को बढ़ा चढाकर कहा जाता है, तीसरी स्वभावोक्ति जिसमे बात को सहज रूप मे अर्थात् बिना किसी घुमाव फिराव—या बढाव चढाव के कहा जाता है। इन तीनो मे ही चित्त को चमत्कृत करने की शक्ति है, परन्तु वक्रता और अतिशय में जहाँ बुद्धि का माध्यम अनिवार्य्य है, वहाँ स्वभाव-वर्णन मे उसका महत्व अत्यंत नगण्य है। इसकी पहुँच हृदय मे सीधी है– मस्तिष्क मे होकर नहीं है, अतएव पहले दो की अपेक्षा यह मार्ग रसवाद के अधिक निकट है। इसीलिए रसवादी देव ने इसको इतना गौरव दिया है—स्वभावोक्ति से वास्तव मे उनका स्पष्ट अभिप्राय भावो की सीधी अभिव्यक्ति से है जो रसवाद का प्राण है।—व्यापक रूप में विचार करने पर भी, स्वभावोक्ति को इतना गौरव देना अनुचित नहीं माना जा सकता। क्योंकि कोई भी वर्णन जब तक कि वह स्वाभाविक न हो काव्यगुण का अधिकारी नहीं माना जा सकता—अस्वाभाविक वर्णन अपने समस्त अलंकार वैभव के होते हुए भी सहृदय के चित्त का रंजन नहीं कर सकता। इसीलिए अस्वाभाविकता पर आश्रित विभिन्न दोषों को रस का अपकर्षक कहा गया है। अंत में, तत्व-दृष्टि से भी, स्वाभाविकता—अर्थात् सत्य काव्य-सौंदर्य का अनिवार्य अंग है।

यहाँ तक तो हुई स्वभावोक्ति की बात। परन्तु देव इसके आगे, उपमा को और भी अधिक महत्व देकर उसको सभी अलकारों का मूल मानते हैं। उपमा के उन्होंने एकदेशोपमा, सर्वांगोपमा आदि साधारण भेदों के अतिरिक्त कुछ नवीन भेद भी किये हैं। उदाहरण के लिए अनेक अलंकारों को उपमा का अंगभूत मानते हुए उनके अंत में उपमा जोड दिया है—स्वभावोपमा, निश्चयोपमा, स्मरणोपमा, भ्रमोपमा, सन्देहोपमा, अधिकोपमा, तुल्ययोगोपमा, आक्षेपोपमा, उल्लेखोपमा आदि। इतना ही नहीं जिन स्थितियों में उपमा का प्रयोग हो सकता है उन सबको भी उन्होंने उसके अन्तर्गत खपा दिया है, मानो वे उपमा के स्वतन्त्र भेद हों:—

बैर, प्रीति, मद ईर्षा, क्रीडा, वचन, विलास।
स्तुति, निंदा, करना दया, हर्ष, हास, उपहास॥
सुमृति, सांत, संदेह सुख, निश्चै तर्क विवाद।
उद्यम, आदर, अनादर, मान, प्रमान प्रसाद॥
विनती, छोभन, छमापन, आभापन, अपमान।
अंगीकार, उदारता, अहंकार, अनुमान॥
उपमा सम्भव, असम्भव, अनुगुन, संग, असंग।
तात्पर्य धुनि, व्यंग्य हूँ, वाच्य, लक्ष्य, साभंग॥

(श० र०—प्रकाश १)

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सब खिलवाड है। जहाँ तक कि अनन्वय, सन्देह, स्मरण, भ्रम आदि अलंकारों को उपमा में अन्तर्भूत करने का प्रश्न है, वहाँ तक तो कोई विशेष अन्तर नहीं पडता क्योंकि ये अलंकार वस्तुतः औपम्य-मूलक ही हैं। परन्तु प्रीति, मद, ईर्ष्या आदि संचारियों तथा बैर आदि स्वभाव-वृत्तियों से उपमा का ग्रंथि-बन्धन निरर्थक है; और उसको एक विफल वैचित्र्य-प्रदर्शन के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है। उपमा को सब से प्रधान ही नहीं वरन् सभी अलंकारों का मूल आधार मानना देव की मौलिक उद्भावना नहीं है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में वामन ने सब से पूर्व इस सिद्धांत की घोषणा की थी—और हिन्दी में भी देव से पूर्व भूषण इसको ग्रहण कर चुके थे 'भूषन सब भूषननि में उपमा उत्तम चाहि।' जैसाकि अलंकारों के मनोवैज्ञानिक आधार का विवेचन करते हुए कहा गया है; उपमा के मूल में मुख्यतः अपने भाव को स्पष्ट करने की ही प्रवृत्ति रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी आत्माभिव्यक्ति के लिए इस प्रवृत्ति का अत्यन्त व्यापक महत्व है, परन्तु फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि आत्माभिव्यक्ति के सभी रूप स्पष्टीकरण के अन्तर्गत नहीं आ सकते हैं। वास्तव में अपनी बात दूसरे पर स्पष्ट करने के लिए भी उसको बढ़ा चढ़ाकर

या नमक मिर्च मिलाकर या कम से कम एक ख़ास अन्दाज़ से कहना ज़रूरी होता है। अतएव स्पष्टीकरण की अपेक्षा प्रभावित अथवा उत्तेजित करने की प्रवृत्ति अधिक मौलिक है, और * वक्रोक्ति अथवा अतिशय जो इस प्रवृत्ति का माध्यम है, स्पष्टीकरण के माध्यम उपमा की अपेक्षा निश्चय ही अधिक मौलिक है।

शब्द-शक्ति और रीति—शब्द-शक्ति का विवेचन शब्द-रसायन के प्रथम प्रकाश ही में मिलता है। यह संस्कृत साहित्य-शास्त्र का अत्यन्त सूक्ष्म परन्तु महत्त्वपूर्ण विषय हैं। अधिकांश रीति कवियों का तो इतनी गहराई तक जाने का प्रायः साहस ही नहीं हुआ। कुछ गिने गिनाये आचार्यों ने ही उसको हाथ लगाया है—परन्तु वे भी इसे सुलझा नहीं सके हैं।

देव ने चार शब्द-शक्तियाँ मानी हैं अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना और तात्पर्य। शब्द-रसायन में अभिधा का एक भेद, लक्षणा के तेरह भेद और व्यञ्जना का एक भेद ग्रहण किया गया है। लक्षणा के तेरह भेद इस प्रकार हैं:—
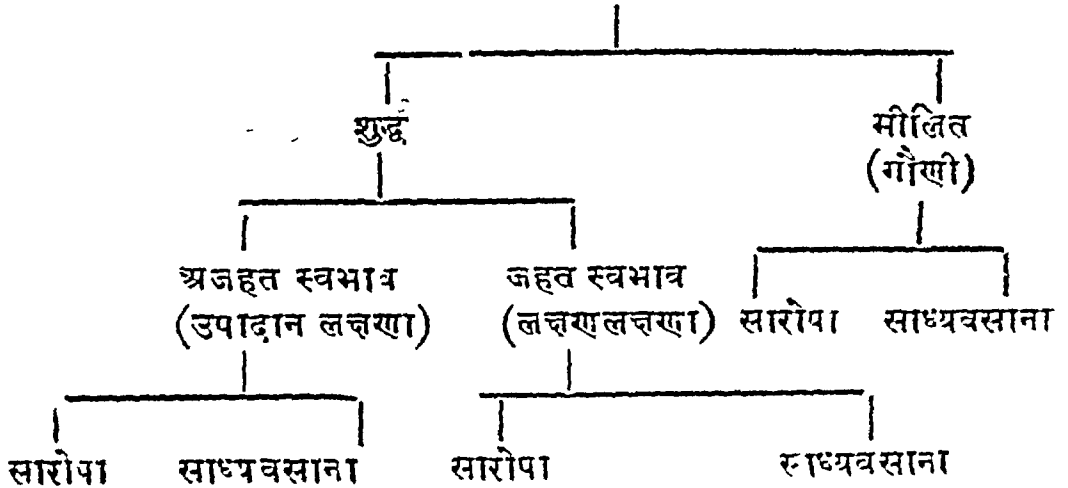
उपर्युक्त सभी प्रकार की लक्षणाओं के फिर दो दो भेद होते हैं अगूढ़-व्यंग्या और गूढ़-व्यंग्या। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के १२ भेद और रूढ़ि का १ भेद मिल कर १३ हो जाते हैं। यह विभाजन काव्य-प्रकाश के अनुसार है, साहित्यदर्पण के अनुसार नहीं है— मम्मट ने केवल १२ ही भेद माने हैं, परन्तु विश्वनाथ ने रूढ़ि के १६ और प्रयोजनवती के ६४ भेद करते हुए उनकी संख्या ८० मानी है।—व्यंजना के मम्मट ने अभिधामूलक व्यञ्जना और लक्षणामूलक व्यञ्जना—ये दो भेद किये हैं, और विश्वनाथ ने इनके अतिरिक्त शाब्दी तथा आर्थी भेद भी किए हैं। परन्तु देव ने सामान्य रूप से व्यञ्जना का एक ही भेद दिया है। फिर इन

* भामह द्वारा निर्दिष्ट अर्थ में।

तीनों शक्तियों के मूल आधारों का विवेचन करते हुए उन्होंने प्रत्येक के चार भेदान्तर माने हैं।

अभिधा के :—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा।

लक्षणा के :—कार्य-कारण, सादृश्य, वैपरीत्य और आक्षेप।

व्यञ्जना के :—वचन-विकार, चेष्टा-विकार, क्रिया-विकार और स्वर-विकार।

इसमें अभिधार्थ के चारो आधार-भेद तो वे ही हैं जिनका भामह आदि ने वर्णन किया है, परन्तु लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के आधार-भेदों में थोड़ा उलट-फेर कर दिया गया है। लक्ष्यार्थ की प्रतीति के संस्कृत आचार्यों ने मुख्यतः तीन ही कारण माने हैं, मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध, रूढ़ि अथवा प्रयोजन। देव ने जो चार भेदान्तर दिये हैं वे स्वतन्त्र न होकर मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध के प्रकार भेद हैं—उपादान-लक्षणा में यह सम्बन्ध प्रायः कार्य-कारण अथवा सादृश्य-मूलक होता है, लक्षण-लक्षणा मे वैपरीत्य-मूलक और सारोपा एवं साध्यवसाना में आक्षेप-मूलक। इसी प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतीति के उपर्युक्त चार भेदांतर भी स्वतन्त्र नहीं हैं।—संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे—

संयोगो, विप्रयोगश्च, साहचर्य्यं, विरोधिता,
अर्थः प्रकरणं, लिङ्गः शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः,
सामर्थ्यमौचिती, देशः,कालो व्यक्तिः स्वरादयः,
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष-स्मृति-हेतवः।

[काव्यप्रकाश]

अर्थात् संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ-प्रकरण, लिंग, अन्य-सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि जो कारण दिये हुए हैं, उनमें से 'स्वर आदि' के अन्तर्गत इन चारों का भी समावेश हो जाता है। मम्मट ने 'आदि' शब्द से स्पष्ट रूप में चेष्टा, संकेत, अभिनय आदि के ग्रहण की ओर निर्देश किया है। देव ने भी अपने अवान्तर भेदों को पूर्ण नहीं माना है—इनके अतिरिक्त और भी अनेक भेद होते हैं यह उन्होंने असंदिग्ध शब्दों में स्वीकृत किया है :—

यह विधि तीनों वृत्ति के भेदान्तर प्रत्येक,
चारि चारि संक्षेप विधि, बरनत सुमति अनेक।

[श० र०]

जिसका तात्पर्य यह कि अन्य कारण भेदों को भी वे स्वीकार अवश्य

करते थे, परन्तु कुछ तो शायद वैचित्र्य-प्रदर्शन के लिए और कुछ सापेक्षिक महत्त्व की दृष्टि से उन्होंने उपर्युक्त चार चार भेदों को ही अंगीकार किया है।

इन तीनों शक्तियों के विषय में देव का यह मत है कि किसी शब्दार्थ में साधारणतः ये तीनों ही ओत-प्रोत रहती हैं, परन्तु जहाँ जिसका अधिक प्रकाश रहता है वहाँ उसी की स्थिति मानी जाती है :—

तिहूँ शब्द के अर्थ ये तीनिउ ओत प्रोत।
पै प्रवीन ताही कहत, जाको अधिक उदोत॥

[श० र०]

इसी आधार पर उन्होंने तीनों शब्द-शक्तियों के अनेक नये संकीर्ण भेदों की सृष्टि कर डाली है, अभिधा मे अभिधा, अभिधा मे लक्षणा, अभिधा मे व्यञ्जना, लक्षणा मे अभिधा, लक्षणा मे लक्षणा, लक्षणा मे व्यञ्जना, व्यञ्जना मे अभिधा, व्यञ्जना मे लक्षणा और व्यञ्जना में व्यञ्जना।—यह सिद्धांत भी साहित्य-शास्त्र के सर्वमान्य सिद्धान्त से थोडा भिन्न है और उतना ही अमान्य भी। संस्कृत के आचार्यों ने तीनों शक्तियों की स्थिति सर्वत्र नहीं मानी है—केवल दो की ही मानी है। उनका मत है कि अभिधा और लक्षणा, दोनों मे ही व्यञ्जना व्याप्त रहती है— 'सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते।' [मम्मट का० प्र० २, ८] इस प्रकार कम से कम दो शक्तियों की स्थिति प्रत्येक अर्थ में मिलती है।—वास्तव में यही ठीक भी है, क्योंकि वाच्यार्थ तो साधारणतः सर्वत्र वर्तमान रहेगा ही, व्यंग्यार्थ की स्थिति भी रहेगी, परन्तु लक्ष्यार्थ का अस्तित्व सर्वत्र नहीं माना जा सकता।—यदि ऐसा होता है तो व्यञ्जना के अभिधा-मूलक और लक्षणा-मूलक भेद ही निरर्थक हो जाते है। ध्वनि के प्रसिद्ध उदाहरण 'सांझ होगयी' मे वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ तो स्पष्ट है, परन्तु लक्ष्यार्थ का आभास भी नहीं है। देव को भी अपने उदाहरणों में लक्ष्यार्थ को सर्वत्र बैठाने के लिए प्रायः क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ी है।

मै सुनी काल्हि-परौं लगि सासुरे सोचेहु जैहौ कहौं सखि सोऊ।
देव कहै केहि भाँति मिलैं, अब को जनि काहि कहौ कब कोऊ।
खेलि तो लेहु भटू संग स्याम के, आजहु की निसि आए हैं वोऊ।
हौं अपने दृग मूंदति हौं, घर धाइ के धाइ मिलो तुम दोऊ।

यह उदाहरण प्रयोजनवती लक्षणा का है। परन्तु वास्तव में यहाँ, 'दृग मूंदने' में लक्षणा का आभास थोड़ा बहुत मान लिया जाए तो दूसरी बात रही, अन्यथा मुख्यार्थ सर्वथा स्पष्ट और अबाधित होने से उसका अस्तित्व ही नहीं रह जाता है। इस पर देव की टिप्पणी है'—

मुख्य अर्थ दुख पूछनो, लक्ष्य कपटतर खेल ।
प्रगट व्यंग मेलन दुहू, दूतीपन सों मेल ॥
(श० र०)

अर्थात् उनके अनुसार 'कपटतर खेल' लक्ष्यार्थ हुआ, परन्तु यह तो स्पष्टतः ही वाच्यार्थ है—क्योंकि उसमे मुख्यार्थ का किसी प्रकार भी बाध नहीं होता । इसी प्रकार अन्यत्र भी देवने सम्पूर्ण छंद के अर्थ मे लक्षणा मान ली है जो कि साधारणतः सम्भव नही होती । लक्षणा की शक्ति प्रायः वाक्य मे ही कार्य करती है—वाक्य-समूह के सम्मिलित अर्थ में नहीं ।

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के अतिरिक्त देव ने तात्पर्य नाम की चौथी शब्द-शक्ति की भी सत्ता को स्वीकार किया है—जिसकी स्थिति तीनो प्रकार के शब्दार्थों मे रहती है—'तात्पर्ज चौथो अरथ, तिहूँ शब्द के बीच ।' [श० र०]

इस वृत्ति के विषय मे प्राचीन मीमांसकों में अत्यन्त मतभेद रहा है । अभिहितान्वयवादी—अर्थात् कुमारिल भट्ट आदि वे मीमांसक जो अभिधा द्वारा उपस्थित अर्थ के अन्वय में स्वतंत्र रूप से विश्वास करते हैं, यह मानते हैं कि अभिधा शक्ति के एक-एक पदार्थ को अलग-अलग बोधन करके विरत हो जाने पर उन बिखरे हुए पदार्थों को परस्पर सम्बद्ध करके वाक्यार्थ का बोधन करने वाली एक चौथी शक्ति 'तात्पर्य' भी है । इसके विपरीत प्रभाकर गुरु आदि अन्विताभिधानवादी मीमांसकों का यह मत है कि पदार्थ एक दूसरे से सम्बद्ध ही उपस्थित होते हैं, असम्बद्ध नही—अतः चौथी वृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं, अभिधा से ही कार्य चल जाता है । संस्कृत साहित्य-शास्त्र में यद्यपि यह वृत्ति अधिक मान्य नहीं हुई परन्तु फिर भी मम्मट * विश्वनाथ आदि अनेक परवर्ती आचार्यों ने इसकी चर्चा की है । धनिक ने उनसे भी पूर्व यह संकेत कर दिया था कि व्यंजना का अंतर्भाव तात्पर्य शक्ति में ही हो जाता है । हिन्दी में भी देव से पूर्व चिंतामणि ने इसका उल्लेख किया है । देव ने इसे असंदिग्ध रूप में स्वीकार कर उपर्युक्त परम्परा से ही अपना सम्बन्ध स्थापित किया है, कोई नवीन उद्भावना नहीं की ।

रीति-गुण :—रीति-गुण का विवेचन भी देव ने काव्य-रसायन में ही किया है । रीतियों को उन्होंने काव्य का द्वार मानते हुए, रस से उनका अभिन्न सम्बन्ध माना है—"ताते पहिले बरनिए काव्य-द्वार रस-रीति ।'

काव्य पुरुष के रूपक मे रीति की समता अंग-संस्थान से की गई है । देव

---

* तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद् बोधकं परे ॥
[साहित्यदर्पण द्वि० प०]

का द्वार से तात्पर्य माध्यम हैं। इस प्रकार इस विषय में देव का मत प्राचीन मत से लगभग मिल ही जाता है क्योंकि शरीर भी तो आत्मा की वाह्य अभिव्यक्ति का माध्यम ही है। परन्तु एक बात बड़ी विचित्र मिलती है : वह यह कि उन्होंने रीति और गुण को एक कर दिया है—या यों कहिए की रीति शब्द का सर्वत्र गुण के स्थान पर प्रयोग किया है। संस्कृत-और हिन्दी के भी-आचार्यों ने वैदर्भी, गौड़ी आदि को रीति कहा है, और प्रसाद, ओज आदि को गुण। यह ठीक है कि गुण रीति की आत्मा है और रीतियों का वर्गीकरण गुणों के ही आधार पर हुआ है—परन्तु इन दोनों का एकीकरण किसी ने नहीं किया। देव ने वैदर्भी, पाञ्चाली का उल्लेख तक न कर प्रसाद, ओज, माधुर्य्य आदि का ही रीति नाम से वर्णन किया है। यह मानना तो निरर्थक होगा कि देवको इन दोनों के विषय में कोई भ्रांति थी। वास्तविकता यही है कि उन्होंने जानबूझ कर ऐसा किया है। परन्तु कारण कुछ भी हो यह एकीकरण संगत किसी प्रकार भी नहीं माना जा सकता क्योंकि रीति गुण की अपेक्षा अधिक व्यापक है—एक एक रीति के अंतर्गत अनेक गुणों का समावेश हो जाता हैं।

भरत ने दश गुण माने हैं :—१. श्लेष, २. प्रसाद, ३. समता, ४. समाधि, ५. माधुर्य्य, ६. ओजस, ७. सौकुमार्य्य, ८. अर्थव्यक्ति, ९. उदार, १०. कांति। भरत के उपरान्त दण्डी और वामन दोनों ने लक्षणों में परिवर्तन-परिशोधन करते हुए इनको ही स्वीकार किया है—दण्डी और वामन ही एक प्रकार से रीति-गुण सम्प्रदाय के अधिनायक हैं। परन्तु आगे चलकर ध्वनिकार ने गुणों की संख्या दस से घटाकर तीन करदी—उन्होंने माधुर्य्य, ओज और प्रसाद में ही शेष सात गुणों का अंतर्भाव कर दिया।—मम्मट आदि ने भी इन्हीं को स्वीकृति दी और तब से प्रायः ये तीन गुण ही प्रचलित रहे हैं। परन्तु देव ने इस विषय में पूर्व-ध्वनि परम्परा का अनुसरण करते हुए उपर्युक्त दस गुणों (रीतियों) को ग्रहण किया है—वरन् उन्होंने तो अनुप्रास और यमक को भी गुणों (रीतियों) के अंतर्गत मानते हुए उनकी संख्या बारह तक पहुंचा दी है। यमक और अनुप्रास को रीति (गुण) मानना साधारणत: असंगत है क्योंकि गुण काव्य की आत्मा का धर्म है, दूसरे शब्दों में काव्य का स्थायी धर्म है, इसके विपरीत यमक और अनुप्रास रस के आंतरिक तत्व न होने से काव्य के अस्थायी धर्म ही रहेंगे। परन्तु देव की इस स्थापना से एक महत्वपूर्ण संकेत अवश्य मिलता है : वह यह कि पण्डितराज जगन्नाथ की भांति वे गुणों की स्थिति अर्थ के साथ-साथ वर्णों में भी मानते हैं। उपर्युक्त दस गुणों के विवेचन में उन्होंने भरत और वामन की अपेक्षा प्राय: दण्डी का ही अनुसरण किया।—क्रम भी बहुत कुछ दण्डी से ही मिलता है, लक्षण तो

कहीं कहीं काव्यादर्श से अनूदित ही कर दिए गए हैं—उदाहरण के लिए समाधि गुण का लक्षण लीजिए :

समाधि

और वस्तु को सार लै, धरै और ही ठौर,
लोक सींव उलँघै अरथ, सो समाधि कवि मौर।

[देव—शब्द-रसायन]

अन्य धर्मस्ततोन्यत्र, लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र, स समाधिः स्मृतः।

[दण्डी—काव्यादर्श]

इसी प्रकार श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, और ओज के लक्षण प्रायः दण्डी के ही अनुसार हैं। केवल दो गुण ही ऐसे रह जाते हैं जिनके लक्षण भरत, दण्डी और वामन तीनों से भिन्न हैं : कांति और उदारता। कांति गुण में देव के अनुसार, सुरुचिपूर्ण चारु वचनावली होनी चाहिए जिसमें लोकमर्यादा की अपेक्षा कुछ विशेषता हो और जो अपने इस गुण के कारण लोगों को सुखकर हो :

अधिक लोक मर्जाद ते, सुनत परम सुख जाहि।
चारु बचन ये कांति रुचि, कांति बखानत ताहि॥

[शब्द-रसायन]

इस लक्षण का शेष भाग तो दण्डी से मिल जाता है, परन्तु दण्डी जहाँ लोक-मर्यादा के अनुसरण को (लौकिकार्थनातिक्रमात्) अनिवार्य मानते हैं वहाँ देव में उसके अतिक्रमण का स्पष्ट उल्लेख है। दण्डी के अनुसार तो अप्राकृतिकता अथवा अस्वाभाविकता का बहिष्कार करते हुए लौकिक-मर्यादा के अनुकूल स्वाभाविक वर्णन करना ही कांति गुण का मुख्य-तत्व है। वामन ने समृद्धि—अर्थात् औज्ज्वल्य और रस-दीप्ति को कांति गुण का सार-तत्व माना है—जिसके लिए साधारण प्रचलित शब्दावली का बहिष्कार अनिवार्य है। देव ने या तो दण्डी का अभिप्राय नहीं समझा—या फिर कुछ पाठ की गड़बड़ है। इसके अतिरिक्त एक सम्भावना यह हो सकती है कि 'अधिक लोक मर्जादते' से देव का अभिप्राय कदाचित् वामन द्वारा निर्दिष्ट साधारण वचनावली के बहिष्कार का ही हो—परन्तु यह कुछ क्लिष्ट कल्पना ही लगती है। इसी प्रकार उदारता के लक्षण में भी 'यस्मिन् उक्ते (जाहि सुनत ही'), तथा 'उत्कर्ष' आदि शब्द देव ने दण्डी

से ही लिए हैं, परन्तु दण्डी जहां उत्कर्ष की भावना को उदारता का प्राण मानते हैं, वहाँ देव का कहना है

जाहि सुनत ही ओज को दूरि होत उत्कर्ष।

[शब्द-रसायन]

ओज का उत्कर्ष दूर होने से उनका क्या अभिप्राय है यह जानना कठिन है। प्रयत्न करने पर यही अर्थ निकाला जा सकता है कि उदारता में एक प्रकार का उत्कर्ष होता है, जो ओज के उत्कर्ष से भिन्न होता है—या फिर यहाँ भी प्रतिलिपिकार की कृपा से पाठ की कुछ उलट फेर है।

इस प्रसंग में भी देव ने एक नवीन उद्भावना कर डाली है—वह यह है कि आपने प्रत्येक रीति (गुण) के दो भेद माने हैं—नागर और ग्राम्य। इन दोनों यह अंतर है कि नागर रीति में सुरुचि का प्राधान्य होता है, ग्राम्य में रस का आधिक्य होते हुए भी सुरुचि का अभाव रहता है।

नागर गुन आगर, दुतिय रस सागर रुचि हीन।

[शब्द-रसायन]

वैसे दोनों की अपनी अपनी विशेषता है—एक को उत्कृष्ट और दूसरी को निकृष्ट कहना अरसिकता का परिचय देना होगा।—देव की अन्य उद्भावनाओं की भाँति यह भी महत्वहीन ही है और एक प्रकार से असंगत भी। क्योंकि पहले तो मानव स्वभाव में नागर और ग्रामीण का मूलगत भेद मानना ही युक्ति गत नहीं है (देव अपने उदाहरणों द्वारा यह अंतर स्पष्ट करने में प्रायः असफल रहे हैं), फिर यदि इस स्थूल भेद को स्वीकार भी कर लिया जाए, तो कांति, उदारता आदि कतिपय गुण ऐसे हैं जिनके लिए अग्राम्यत्व अनिवार्य है। ऐसी दशा में इनके भी नागर और ग्रामीण भेद करना इनकी आत्मा का ही निषेध करना है।

शब्द-शक्ति, रीति, गुण आदि के अतिरिक्त देव ने कैशिकी, आरभटी सात्वती और भारती वृत्तियों का वर्णन भी किया है जो कि श्रव्यकाव्य का अंग न होकर दृश्य काव्य का ही अंग मानी जाती हैं। शृङ्गार, हास्य, और करुण में कैशिकी (कौशिकी), रौद्र, भयानक और वीभत्स में आरभटी, वीर, रौद्र, अद्भुत और शांत में सात्वती; तथा वीर हास्य और अद्भुत में भारती वृत्ति का प्रयोग होता है। संस्कृत में नाट्य-शास्त्र, दश रूपक, साहित्य-दर्पण आदि में भी इसी के अनुक्रम से ही इनका विवेचन है—परन्तु देव का आधार यहां भी उपर्युक्त ग्रंथ

न होकर केशवदास की रसिक-प्रिया ही है। रसिक-प्रिया में ठीक इसी क्रम से इनका नौ रसों के साथ सम्बन्ध बैठाया गया है, एक थोड़ा सा अन्तर यह है कि सात्वती के अन्तर्गत शृङ्गार के स्थान पर देव ने रौद्र को माना है, बस, परन्तु केशव में शायद यह लिपि-दोष है।

पिंगल—संस्कृत के साधारण रीति-ग्रन्थों में पिंगल को नहीं लिया गया है। उसके ग्रंथ स्वतन्त्र ही हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं, एक तो यह कि पिंगल काव्य के मूल तत्वों मे से नहीं है, और दूसरा यह कि इस प्रसंग मे बँधे हुए लक्षण देने के अतिरिक्त किसी प्रकार के तात्विक विवेचन के लिए स्थान ही नही है। हिन्दी मे भी प्रायः इसी परम्परा का अनुसरण किया गया है। परन्तु देव ने अपनी काव्य की परिभाषा में रस, भाव, और अलंकार के साथ छंद का भी उल्लेख किया है, इसलिए सापेक्षिक महत्व के अनुसार शब्द-रसायन के अंतिम भाग में उन्होने उसका भी वर्णन कर दिया है। छंद को उन्होंने कविता कामिनी की गति माना है। इस प्रसंग मे कवि ने लघु, गुरु, गण, देवता, फल आदि का परिपाटी-भुक्त वर्णन करने के उपरांत, फिर केवल उन वर्णिक एवं मात्रिक छंदों का विवरण दिया है जो हिन्दी में प्रचलित हैं। वर्णवृत्त के ३ भेद माने हैं :—गद्य—जिसमे कोई संख्या नहीं होती; पद्य जिसमें एक गण अर्थात् तीन वर्णों से लेकर २६ वर्ण तक होते हैं, [नाड़ी से लेकर सवैया तक अनेक प्रकार के छंद इसके अंतर्गत आ जाते है]; और दण्डक जिसमे २७ से ३३ वर्ण तक होते हैं। मात्रिक छंदों में दोहा से लेकर, चौपैया, अमृत ध्वनि, आदि का वर्णन है।

पिंगल वास्तव मे विवेचन का विषय न होकर वर्णन का ही विषय है, अतएव मुख्यतया इसकी वर्णन-शैली मे ही थोड़ी बहुत नवीनता लाई जा सकती है। इस प्रसंग में देव के दो-तीन प्रयत्न उल्लेखनीय हैं :—(१) छंद का लक्षण और उदाहरण उसी छंद में दिया गया है। यह शैली संस्कृत के पिंगल ग्रन्थों में भी ग्रहण की गई है—उदाहरण के लिए वृत्तरत्नाकर या छंदोमञ्जरी मे। बाद में हिन्दी में भी छंद प्रभाकर आदि में इसका प्रयोग मिलता है। (२) सवैया के विभिन्न भेदों के लक्षण भगण द्वारा किए गए हैं। यह एक नई सूझ अवश्य है, परन्तु इससे विद्यार्थी की कठिनाई बढ़ ही जाती है, उसको कोई विशेष लाभ नहीं होता। दूसरे अकेला भगण विभिन्न सवैयाओं की गति का पूर्णतः द्योतन करने में भी असमर्थ रहता है। (३) सवैया और घनाक्षरी के कुछ नवीन भेद भी दिए हैं—सवैया : मञ्जरी, ललित, सुधा, अलसा। ये चार भेद सवैया के साधारण भेदों के अतिरिक्त हैं, और देव ने इनको 'नवीन' मतके अनुसार माना है। घनाक्षरी में ३१-३२ वर्णों की घनाक्षरियों के अतिरिक्त देव ने ३३ वर्ण की घनाक्षरी भी मानी

है—जो आज 'देव घनाक्षरी' के नाम से प्रसिद्ध है। ये उद्भावनाएं वास्तव में महत्वपूर्ण हैं, परन्तु इनसे देव के आचार्य रूप की अपेक्षा उनके कलाकार-रूप पर ही अधिक प्रकाश पड़ता है। अन्त में, देव ने मेरु, पताका, मर्कटी, नष्ट और उद्दिष्ट को केवल कौतुक का विषय मानते हुए उनको त्याज्य बताया है।

सामान्य काव्य-सिद्धान्त और सम्प्रदाय :—देव विशुद्ध रसवादी थे—उन्होंने कई स्थानों पर स्पष्ट शब्दों में रस को काव्य की आत्मा कहा है।

(१) काव्य सार शब्दार्थ को रस तेहि काव्य सुसार।

[शब्दरसायन]

(२) ताते काव्य (हिं ?) मुख्य रस, जामें दरसत भाव।

(३) अलंकार भूषण, सुरस जीव, छंद तन भाख।
तन भूषण हू बिन जिये, बिन जीवन तन राख॥

[श० र०]

विश्वनाथ की यह रसवादी परम्परा उन्हें भानुदत्त से प्राप्त हुई थी। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में पहले रस को अलंकार का अंग मानते हुए उसका विवेचन हुआ, फिर ध्वनिकार और उनके अनुसरण पर मम्मट आदि ने ध्वनि का अंग मान कर उसका विवेचन किया। विश्वनाथ ने इस परिपाटी को भंग करते हुए स्वतंत्र रूप में रस का निरूपण किया और ध्वनि को पृथक् परिच्छेद में ही दिया। हिंदी के रीतिकारों ने भी प्रायः इसी परिपाटी को ग्रहण किया है। देव ने रस को सबसे महत्वपूर्ण काव्य-तत्व मानते हुए उसका अन्य तत्वों की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत विवेचन किया है। रस के अतिरिक्त, रीति, अलंकार आदि अन्य अंगों को भी उन्होंने उचित गौरव दिया है, परन्तु ध्वनि को वे बिल्कुल ही उड़ा गए हैं। रीति को उन्होंने काव्य का द्वार—अथवा रसाभिव्यक्ति का माध्यम माना है, अलंकार को भूषणवत् मानते हुए उसके महत्व को भी मुक्तकण्ठ से स्वीकृत किया है :

सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार।
या,—कविता कामिनि सुखद पद, सुबरण सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अद्‌भुत रूप लखाति॥

[श० र०]

काव्य पुरुष का रूपक उन्होंने भी बाँधा है—उसके अनुसार छंद-पद शब्दार्थ काव्य का शरीर है—छंद को एक स्थान पर गति भी कहा गया है.

अलंकार भूषण हैं, रस आत्मा है। समर्थ काव्य के लिए वे शब्द, अर्थ, रस, भाव, छंद और अलंकार को आवश्यक मानते हैं :

> शब्द सुमति मुख ते कढ़ै, लै पद वचननि अर्थ,
> छंद भाव भूषन सरस, सो कहि काव्य समर्थ।
>
> [श० र०]

अर्थात् समर्थ काव्य वह है जिसमें अर्थयुक्त शब्द सरस भावों का वहन करते हुए अलंकार सहित, छन्द-बद्ध रूप में हमारे सम्मुख प्रकट हों।

ध्वनि की देव ने इतनी उपेक्षा क्यों की है, यहाँ पर यह प्रश्न स्वभावतः ही उठता है। एक कारण यह हो सकता है कि ध्वनि तो काव्य के सभी तत्वों में वर्तमान रहती है, अतएव उसका पृथक् विवेचन नहीं किया गया, परन्तु ऐसा नहीं है। उनके विवेचन में इस प्रकार के संकेत हैं जिनसे उनका ध्वनि-विरोध स्पष्ट लक्षित होता है—उदाहरण के लिये अलंकारों मे स्वभावोक्ति को विशेष महत्व देना, अथवा अभिधा को उत्तम काव्य मानते हुए व्यंजना को रस-कुटिल एवं अधम काव्य मानना :—

> अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षना लीन,
> अधम व्यंजना रस-कुटिल, उलटी कहत नवीन।
>
> [श० र०]

जैसा कि मैंने शब्द-रसायन के विवेचन में कहा है इसमें सन्देह नही कि इस उक्ति के सन्दर्भ पर विचार करने से व्यंजना की यह अधमता बहुत कुछ उसकी (व्यंग्य-व्यंजक) पात्र परकीया पर प्रक्षिप्त हो जाती है, फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि देव ने व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य को ही अधिक महत्व दिया हैं। वास्तव में यह शुद्ध रसवाद के आग्रह का परिणाम है। अपने काव्य मे भी उन्होने भाव की सहज अभिव्यक्ति के बल पर ही प्रायः रस-सृष्टि की है। बिहारी की भाँति संकेतो के बल पर नहीं। शुद्ध रसवाद की प्रतिष्ठा स्पष्ट रूप से काव्य में कल्पना-तत्व पर अनुभूति (राग) तत्व की ही विजय घोषणा है। विश्वनाथ से पूर्व भी जिन्होने रस के महत्व को उद्घोषित किया है वे भी व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ पर ही अधिक निर्भर रहे हैं। रसवाद के सब से प्रबल पृष्ठ-पोषक भवभूति का काव्य इसका प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि देव की इस उक्ति पर किसी प्रकार चौंकने की आवश्यकता नहीं है। इसको पृथक् रूप में न देख कर अन्य सिद्धान्तों के साहचर्य में ही देखिये। शब्द शक्तियों में अभिधा का प्राधान्य, अलंकारों में स्वभावोक्ति का

प्राधान्य रस के तत्वों में भाव का प्राधान्य, रस के पात्रों में शुद्ध-स्वभावा स्वकीया का प्राधान्य; अंत में काव्य के तत्वों में रस का प्राधान्य--ये सभी सिद्धान्त परस्पर सम्बद्ध हैं और इन सब का मूल आधार विशुद्ध रसवाद ही है।

आलोचना शक्ति :—देव के रीति विवेचन का सम्यक् परीक्षण करने के उपरांत अब हम इस स्थिति में हैं कि उनकी आलोचना शक्ति का मूल्यांकन कर सकें। सब से पहले तो मौलिकता को ही लीजिये। इस दृष्टि से देव को अथवा हिन्दी के किसी भी रीतिकार को वास्तव में विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता। उनके रस-प्रसंग में जिन कतिपय नवीनताओं का आभास मिलता है, वे प्रायः सभी भानुदत्त की रस-तरंगिणी से ग्रहण की गई हैं। नायिका-भेद में उन्होंने केशव के माध्यम से विश्वनाथ तथा भानुदत्त का अनुसरण किया है। यहाँ देश आदि क्रम से जो विस्तार हुआ है, उसके लिये भी कम से कम संकेत संस्कृत में अवश्य मिल जाते हैं। हिन्दी में तो रहीम ने भिन्न-भिन्न जाति-वर्णों की नायिकाओं का वर्णन किया ही है। इसके अतिरिक्त अलंकार, शब्द-शक्ति और रीति-गुण के विवेचन में कोई विशेष उल्लेखनीय नवीनता ही नहीं है। कुछ नवीन संगतियाँ बैठाने का प्रयत्न उन्होंने अवश्य किया है, परन्तु वे भी अधिक तर्क-सम्मत एवं गम्भीर नहीं हो पाई हैं। उनमें कुछ तो स्पष्ट ही भ्रांतिपूर्ण हैं। देव की मौलिकता वास्तव में विस्तार बढ़ाने तथा वर्ग बाँधने तक ही सीमित रही है, और इस क्षेत्र में भी उन्हे ऐसी सफलता नहीं मिली कि भारतीय रीति-शास्त्र पर किसी प्रकार भी उनका ऋण माना जाये। देव या हिन्दी के अन्य रीतिकारों के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि उनके समय तक संस्कृत रीति-शास्त्र इतना विकसित और विस्तृत हो चुका था कि अब उसमें किसी प्रकार की मौलिक उद्भावनायें करना सहज सम्भव नहीं था। स्वयं संस्कृत में भी अभिनव गुप्त, कुंतक और महिमभट्ट के उपरांत मौलिक प्रतिपादन समाप्त हो चुका था। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ स्वीकृत सिद्धांतो के व्याख्याता ही थे मौलिक उद्भावक नहीं। इन पण्डितों के आचार्यत्व का आज इसी रूप में गौरव है। परन्तु देव और उनके सहयोगी इस कर्त्तव्य को निबाहने में भी असमर्थ रहे। साहित्य के सूक्ष्म सिद्धान्तों के विवेचन में देव प्रायः असफल हुए हैं। उनके पद्यबद्ध लक्षण अस्पष्ट हैं, उनमें कहीं-कहीं छन्द पूर्ति के कारण ही ऐसे शब्द आ गये हैं जो अर्थ में विघ्न उत्पन्न कर देते हैं। उदाहरण का कौनसा चरण लक्षण से सम्बद्ध है इसका पता लगाना कठिन पड़ता है, कहीं कहीं लक्षण और उदाहरण एक दूसरे से मेल ही नहीं खाते। रस के प्रसंग में तो कवि के मनोयोग के कारण कहिये या सिद्धान्त और स्वभाव के सामञ्जस्य के कारण कहिये, स्पष्टता मिलती भी है; परन्तु अलंकार, रीति-गुण, शब्द-शक्ति आदि के विवेचन तो एक प्रकार के गोरख-

धन्धे हैं जिनमें लक्षण को पकड़िये तो उदाहरण का तारतम्य हाथ नहीं बैठता है, और उदाहरण को सुलझा लीजिये तो लक्षण हाथ से छूट जाता है। उपर्युक्त प्रसंगों का कोई भी स्थल मेरे कथन की सत्यता प्रमाणित करने में समर्थ होगा, उसके लिये आपको उदाहरण ढूँढने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। भ्रांतियों की भी कमी नहीं है। कुछ तो पद्य के बंधनों के कारण अर्थ में थोड़ी दुरूहता स्वभावतः ही आ गई है, परन्तु वास्तविक भ्रांतियाँ भी कम नहीं हैं। साथ ही कवि इस ओर सतर्क भी नहीं रहा। अलंकारों के विवेचन में उसने कितनी असावधानी और जल्दबाजी से काम लिया है! भला जिन सूक्ष्म अन्तरों को संस्कृत के आचार्य सूत्र, वृत्ति और कारिका देकर भी स्पष्ट नहीं कर पाये, उनको देव एक छन्द में कई २ अलंकारों को ठूँसकर कैसे सुलझाते? कहने का तात्पर्य यह है कि सभी दोष छंद की सीमाओं के मत्थे नहीं मढ़े जा सकते हैं। इनका सम्बन्ध कवि की प्रतिभा और स्वभाव से भी है। इस कवि का भावपक्ष जितना समृद्ध था, उतना विचार-पक्ष नहीं था। अपनी तीव्र संवेदना के कारण भावों के सूक्ष्म भेद-प्रभेदों का ज्ञान तो उन्हें सहज ही हो जाता था, और कल्पना तथा अध्ययन के आधार पर वे उनकी संगतियाँ भी थोड़ी बहुत बैठा लेते थे। परन्तु इन भेद-प्रभेदों की सीमा रेखाओं को पृथक् पृथक् कर देखने वाली वस्तु-परक, विश्लेषण शक्ति, और उसके साथ ही उनके अंतर्गत मिलने वाले तारतम्य को पकड़ कर विशेष तथ्यों को सामान्य रूप मे स्थिर करने वाली संश्लेषण शक्ति उनमे अत्यन्त अल्पमात्रा में थी। परिणाम यह हुआ कि उनका रीति-कथन आलोचनात्मक न होकर वर्णनात्मक ही रह गया है। काव्य के मूल तथ्यों की अनुभूति तो वे स्वच्छता और गहराई से कर सकते थे, परन्तु प्रतिपादन नहीं। अनुभूति की इस सचाई से उन्हें दृष्टि की स्थिरता अवश्य प्राप्त हो गई थी। उदाहरण के लिये रसवाद को उन्होंने अनुभूति के द्वारा इतनी सचाई से पकड़ लिया था कि अपने किसी भी ग्रन्थ में, काव्य के किसी भी प्रसंग के विवेचन मे वे उससे विचलित नहीं हुए। कारण यही था कि इस सिद्धांत को उन्होंने बुद्धि से ग्रहण नहीं किया था हृदय से ग्रहण किया था। किन्तु विवेक और बुद्धि की वह दृढ़ता, जो इस स्थिरता को प्रौढ़ता और बल देती, उनके पास नहीं थी। फलतः उनकी स्थापनायें या तो एकांगी होकर रह गई हैं, और या फिर कौतूहल का विषय बन गई हैं। उदाहरण के लिये उपमा को सब अलंकारो का मूल आधार मानने वाला सिद्धांत एकांगी है, तीन तीन रसो के वर्ग वाला सिद्धांत अपुष्ट है और अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के संकर भेदों का प्रस्तार केवल कौतूहलमय। देव का विवेक पक्ष वास्तव में इतना दुर्बल था कि विस्तार के जोश में प्रायः सुरुचि कुरुचि का भी भेद वे नहीं सकते थे। नायिका-भेद का प्रस्तार करते करते खर और काक सत्वों वाली नायिकाओं तक को वे रस के आलम्बन के अंतर्गत खींच लाये।

सारांश यह है कि आलोचक की दृष्टि से देव का मुख्य गुण है उनका रस-संवेदन। हिन्दी रीति-साहित्य में रस-सिद्धांत का इतना समर्थ एवं व्यापक प्रतिपादन दूसरा कवि नहीं कर पाया। इस दृष्टि से ही उनका गौरव है। इसके अतिरिक्त न तो उनकी तथाकथित मौलिक उद्भावनायें, और न उनका भेद-प्रस्तार ही कुछ विशेष महत्व रखता है।

देव की कला

(अ) चित्रण-कला और अभिव्यञ्जना

कला शब्द का प्रयोग यहाँ हम स्थूल अर्थ में कर रहे हैं। वास्तविक अर्थ में तो किसी कवि की कला उसके सम्पूर्ण आत्म की अभिव्यक्ति होती है। विभिन्न अनुभूतियों से निर्मित उसका आत्म अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न करता हुआ सहज-रूप में रंग, रेखा, शब्द आदि में बँधा जो आकार प्राप्त कर लेता है वही उसकी कला है। यह प्रयत्न दो प्रकार का होता है, एक अवचेतन, दूसरा चेतन। अवचेतन प्रयत्न द्वारा कलाकार मन मे अनुभूति का साक्षात्कार करता है। अवचेतन प्रयत्न इतना सहज और सूक्ष्म होता है कि उसे स्वयं इसका ज्ञान नहीं होता। इसके उपरांत फिर वह सचेत होकर उस अनुभूति को रेखा, रंग, शब्द आदि में बाँधने का प्रयत्न करता है। यह दूसरा प्रयत्न निश्चय ही स्थूल होता है; क्योंकि इसके साधन—रेखा, रंग, शब्द आदि सभी तो स्थूल हैं। तत्व-दृष्टि से वास्तव में अवचेतन प्रयत्न ही मुख्य है। क्रोचे ने तो कला का पूर्ण कृतित्व उसी में मानते हुए चेतन-प्रयत्न को सर्वथा प्रासंगिक माना है। परन्तु फिर भी पहला यदि आत्मा है तो दूसरे को शरीर अवश्य मानना पड़ेगा, और आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए शरीर का अध्ययन जितना महत्व रखता है, उतना महत्व हमें इस बाह्य प्रयत्न को अवश्य देना पड़ेगा।

देव ने अपनी रसानुभूतियों को व्यक्त करने के लिए काव्य के किन मूर्त उपकरणों का प्रयोग किया है, प्रस्तुत प्रसंग में इसी का विवेचन करना हमारा उद्देश्य है। अस्तु!

अनुभूति को आकार देने का सबसे सहज माध्यम है चित्र। क्योंकि आकार मूलतः चित्र-रूप ही तो होता है। अनुभूति निराकार होती है। उसका चित्र तो सम्भव नहीं। उसको व्यक्त करने के लिए कलाकार या तो अनुभोक्ता की मूर्त चेष्टाओं का अंकन करता है, या फिर अनुभोक्ता की वासना में रंगे हुए अनुभूति के विषय अथवा पात्र के रूप का चित्रण। संस्कृत के रसाचार्य ने इस तथ्य को पूर्ण-रीति से ग्रहण करते हुए पहले को अनुभाव-विधान और दूसरे को आलम्बन-विधान कहा है। देव की अनुभूति एकान्त शृंगारिक अनुभूति है, अतएव उन्होंने मुख्यतः शृंगार के ही आलम्बन, और आश्रय की चेष्टाओं के (अनुभावों के) मधुर चित्र अंकित किए हैं।

पहले कुछ पूरे रूप-चित्र लीजिए :—

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव' श्रीफल उरोज आभा आभासै अधिक-सी।
छूटी अलकनि झलकनि जल कननि की, बिना बेंदी बंदन बदन-सोभा बिकसी॥
तजि तजि कुंज जेहि उपर मधुर पुंज गुंजरत मंजुरव बोलै बाल पिक-सी।
नैननि हँसाइ नेकु नीवी उकसाइ, हँसि, ससि-मुखी सकुचि, सरोवर ते निकसी॥

इस चित्र में रंगों का प्रयोग नहीं है, इसका सौन्दर्य वाञ्छित अवयवों के चयन पर आश्रित है। पीत रंग की साड़ी का भीग कर नायिका के गोरे अंगों में लिपट जाना और उन्हीं मे मिल जाना, वस्त्र के शरीर से चिपक जाने के कारण श्रीफल जैसे सुडौल उरोजों का विशेष-रूप से व्यक्त हो जाना, बिखरी हुई अलकों से जलकणों का झलकना, माथे की बिन्दी और मांग का सिंदूर धुल जाने पर मुख की सहज शोभा का निखर आना, नेत्रों मे हँसना, अंत में थोड़ा नीवी को उकसाना और संकोच से झुककर धीरे से सरोवर से बाहर आ जाना—ये सभी संकेत अपने में अत्यन्त मनोरम होने के अतिरिक्त चित्र की दृष्टि से भी सर्वथा सटीक हैं। इसमें रूप के तत्वों को बड़ी सूक्ष्म-दृष्टि से पकड़कर एक अविकल सौन्दर्य-चेतना के द्वारा संश्लिष्ट कर दिया गया है जिसके कारण चित्र पूर्ण हो गया है। तीसरी पंक्ति में परम्परा के अनुरोध-वश भौंरों के मंडराने का उल्लेख थोड़ा अस्वाभाविक हो गया है, परन्तु इतने संकेतों मे यह एक संकेत छिप जाता है। स्वर्गीय लाला भगवानदीन ने 'बोलै बाल पिकसी' पर भी आक्षेप किया है। परन्तु हम समझते हैं यह अधिक अप्रासंगिक नहीं है। इसने चित्र के दृश्य-रूप मे मुखरता का एक स्पर्श भी दे दिया है। उपर्युक्त चित्र में हाव का वर्णन होने के कारण, उसके अवयव प्रायः स्थिर ही हैं। नीचे के छंदों में गतिशील चेष्टाओं के द्वारा गतिमय चित्र का अंकन किया गया है :—

पीछे परबीनै-बीनैं संग की सहेली, आगे
भार उर भूषन डगर डारै छोरि-छोरि।
मोरे मुख मोरनि त्यों, चौंकति चकोरनि त्यों,
भौंरनि की भीर भीरु देखै मुख मोरि-मोरि॥
एक कर आली कर ऊपर ही धरे, हरे—
हरे पग धरै देव चलै चित चोरि-चोरि।
दूजे हाथ साथ लै सुनावति वचन, राज—
हंसन चुनावति मुकुत-माल तोरि-तोरि॥

ऐसे चित्रों में मुख्यतः चित्र-सामग्री के चयन में अर्थात् वांछित के ग्रहण और अवांछित के त्याग में ही कलाकार अपना कौशल दिखलाता है। इस दृष्टि से देव को विशेष सफलता वाञ्छित तत्वों के ग्रहण और प्रेरक भाव द्वारा उनको

अन्वित करने में ही मिली है। अवाञ्छित का त्याग वे सब जगह सफ़ाई से नहीं कर पाते हैं। बिहारी अवाञ्छित का त्याग बड़ी सफ़ाई से करते हैं; परन्तु उनके चित्रों भावान्विति अपेक्षाकृत क्षीण रहती है। यदि और भी अधिक गति-वेग का चित्र देखना हो तो नीचे की चार पंक्तियाँ लीजिए :—

भूषननि भूलि पैन्हे उलटे दुकूल 'देव',
खुले भुजमूल प्रतिकूल बिधि वंक मैं।
चूल्हे चढे छाँड़े, उफनात दूध भाँड़े,
उन सुत छाँड़े अंक, पति छाँड़े परजंक मैं॥

उपर्युक्त पंक्तियों में हड़बड़ी का अत्यंत सजीव चित्र है।

ये सभी पूरे चित्रों के उदाहरण हैं। इनमें अनेक रेखाओं के द्वारा चित्र के विभिन्न अवयवों को उठाया गया है। परंतु कुछ चित्र एक रेखा को ही विशेष-रूप से उभार कर बनाये जाते हैं, और रेखाएँ केवल ख़ाके को भरने के लिए होती हैं। चित्र में प्राण इसी उभरी हुई रेखा से आते हैं :

प्यारी सँकेत सिधारी सखी सँग स्याम के काम सँदेसनि के सुख।
सूनौ इतै रँग-भौन चितै चित मौन रही चकि चौंकि चहूँ रुख॥
एक ही बार रही जकि ज्योंकि त्यों भौंहनि तानि कै मानि महा दुख।
देव कछू रद बीरी दबी री सु हाथ की हाथ रही मुख की मुख॥

यहाँ आरम्भ में कुछ अतिरिक्त रेखाओं का प्रयोग हुआ है। जैसे, नायिका का रंगभवन को सूना पाकर चारो ओर चकित-दृष्टि डालना और चुप हो जाना, भौंहों को तान कर ज्यों का त्यो रह जाना, परन्तु ये केवल ढाँचा तैयार करती हैं। चित्र में सजीवता आती है अंतिम रेखा से ही—जिसको स्पष्टतः कवि ने गहरा कर दिया है :—'देव कछू रद बीरी दबी री सु हाथ की हाथ रही मुख की मुख।' काव्य में जो कार्य व्यञ्जना करती है, चित्र में वह प्रायः रेखा द्वारा होता है, इसीलिए जब कभी व्यञ्जना को सूक्ष्म करना होता है तो कलाकार व्यञ्जक रेखा को हल्की कर देता है। देव चित्रण के इस रहस्य से भी सहज-रूप से परिचित थे, और स्थान-स्थान पर उन्होंने इसका प्रयोग किया है। रात्रि में रंगभवन का चित्र है। मिलन के लिए आतुर नायक प्यार से नायिका को पान देता है, पर वह हँस कर भौंह मरोड लेती है। इस पर ललचा कर नायक बाँह पकड लेता है, तो नायिका स्पष्ट ही मुँह से मना कर देती है कि सखियाँ सभी हमसे अवस्था में बड़ी हैं—इस प्रकार ढिठाई करना ठीक नहीं है। बेचारा नायक अब ललचाई आँखों से देख ही सकता है। परंतु नायिका उसे थोड़ा और तंग करना चाहती है। कवि इस अंतिम मधुर

चेष्टा का एक हल्की रेखा से चित्र खींच देता है : 'लाल जितै चितवै तिय पै, तिय त्यों-त्यों चितौति सखीन की ओरी।'* नायक का धीरे-धीरे नायिका की ओर दृष्टि उठाना और नायिका का उसी अनुक्रम से अपनी दृष्टि को सखियों की ओर फेरते जाना, इन दोनो दृष्टियों को मिलाने वाली रेखा कितने हल्के हाथों से खींची गई है।

कहीं-कहीं रेखा भी पूरी नहीं है। केवल एक अवयव को ही उभार कर एक ही अनुभाव के द्वारा चित्र मे सजीवता लाई गई है।

ठाड़ी वड़े खन की वरसै वडरी अंखियान वडे बडे आंसू।

यहाँ वडी आँखो मे बडे बडे आँसू दिखा कर ही चित्र की पूर्ति की गई है।

कुछ भाव चित्रो मे छायाकृतियों का प्रयोग होता है। पात्र की किसी भावना विशेष को मूर्तरूप देने के लिए चित्र की पृष्टि-भूमि में छायाकृतियों का उपयोग किया जाता है। इनका मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत वड़ा महत्व है क्योंकि मूर्तिमंत भावना को व्यक्त करने के लिए यह अत्यन्त सफल एवं रोचक प्रयोग है। देव ने एक स्थान पर इस प्रकार का एक बहुत ही सुन्दर छाया-चित्र अंकित किया है :—

रावरे पायन ओट लसै, प्रग गूजरी वार महावर ढारे।
सारी असावरी की झलकै, छलकै छवि घाँवरे घूम घुमारे।
जाओ जु जाओ दुराओ न मोहु सों, देव जू चन्द दुरै न अंध्यारे।
देखौ हो कौनसी छैल छिपाई, तिरीछे हँसै वह पीछे तिहारे।।

नायक को किसी के ध्यान मे खोया हुआ देखकर, उसकी वास्तविकता का पता लगाने के लिए नायिका व्यंग्य करती है—'देखो तुम्हारे पीछे पैरों में महावर लगाए हुए, आसावरी की झलकती हुई चूनर और घूमरदार घांवरा पहने हुए तिरछी होकर वह कौन हँस रही है? तुम उसे छिपा नही सकते - कहीं चन्द्रमा भी अंधेरे में छिप सकता है।' वास्तव मे है वहां कोई नहीं, परन्तु नायिका इस चित्र के द्वारा मानो नायक के मन में—अथवा ईर्ष्या के कारण अपने ही मन मे घूमती हुई सपत्नी की छायाकृति को बड़ी सफाई से अंकित कर देती है। यह चित्र सचमुच कवि के सूक्ष्म कौशल का परिचायक है।

वर्ण-योजना

रेखाओं का उपयोग चित्र में यदि भाव की व्यंजना के निमित्त होता है,

---

* पान दियो हँसि प्यार सों प्यारी, बहू लखि त्यो हँसि भौ मरोरी।
बाँह गही ललचाइ लला मुख, नाहीं कही मुसकाइ किसोरी।।
तोरो न लाज जेठानी सखीजन, देव ढिठाई करैं नहिं थोरी।
लाल जितै चितवै तिय पै, तिय त्यों-त्यों चितौति सखीन की ओरी।।

तो रंगों का उसको समृद्ध करने के लिए। रीतिकाल कला की समृद्धि का युग था, अतएव उसकी चित्रशाला में रंगों का प्राचुर्य मिलता है। बिहारी और देव दोनों ने अपने चित्रों में वर्ण-योजना का अद्भुत चमत्कार दिखाया है। कहीं छाया-प्रकाश के मिश्रण द्वारा चित्र मे चमक उत्पन्न की गई है, कहीं उपयुक्त पृष्ठभूमि देते हुए एक ही रंग को काफी चटकीला कर दिया गया है, और कहीं कहीं अनेक प्रकार के रंगो को सूक्ष्म कौशल से मिलाते हुए उसमें सतरंगी आभा उत्पन्न की गई है। पहले छाया और प्रकाश का चमत्कार देखिए :—

सूझत न गात बीति आयो अधरात, लखि
सोये सब गुरुजन जानिकै बगर के।
छिपि कै छबीली अभिसार को किवार खोले,
खुलिगे सुगन्ध चहूँ चन्दन अगर के॥
देव कहै कुंजनि तैं भौरें पुंज गुंजि आये,
पूछि पूछि पीछे परे पाहरू डगर के।
देवता कि दामिनि मसाल है कि जोति-जाल,
झगरो मचत जगे सिगरे नगर के॥

आधी रात बीत चुकी है, गुरुजन सब सोए हुए हैं, चारो ओर निस्तब्धता छाई है, शरीर तक दिखाई नहीं देता। नायिका चुपके से ज्योंही किवाड खोलती , उसके शरीर की सुगंध सर्वत्र फैल जाती है। जिसके परिणाम स्वरूप कुंजों से भौंरों के समूह आकर ऊपर मंडराने लगते हैं। पहरेदार चौकन्ने होकर पीछे लग जाते हैं। नगर में एक खलबली सी मच जाती है, कि आखिर यह है कौन—कोई देवी है, या दामिनी पृथ्वी पर उतर आयी है, या मशाल जल रही है, अथवा कोई ज्योति-पुंज है ? इस चित्र में पहले निस्तब्ध आधी रात के घने अंधकार और भौंरों के समूह द्वारा छाया को गाढ़ा किया गया है, फिर दामिनी, मशाल, ज्योति-जाल आदि से प्रखर प्रकाश की उद्भावना की गई है। निस्तब्ध काली रात मे तेजी से आगे बढ़ती हुई मशाल में—अथवा सघन मेघों में चमकती हुई बिजली में जो छाया-प्रकाश का प्रभाव होता है, प्रस्तुत चित्र में कवि ने उसे ही अत्यन्त सफलता-पूर्वक उत्पन्न किया है।

अब कुछ ऐसे चित्र लीजिए जिनमें एक ही रंग का वैभव है :—

फटिक सिलानि सों सुधार्‌यौ सुधा-मन्दिर,
उदधि दधि कौ सो उफनाय उमगै अमंद।
बाहर तै भीतर लौं भीति न दिखाई देत,
छीर कैसे फेन फैली चाँदनी फरस बन्द।

तारा-सी तरुनि तामैं देव जगमग होति,
मोतिन की ज्योति मिल्यौ मल्लिका कौ मकरंद।
आरसी-से अम्बर मैं आभासी उज्यारी ठाढ़ी,
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब सो लगत चन्द।

पृथ्वी और आकाश में सर्वत्र चाँदनी का प्रवाह उमड रहा है। उसमें नहाता हुआ, स्फटिक-निर्मित सौध-मन्दिर ऐसा लगता है मानो दधि का समुद्र हो; संगमरमर के फ़र्श पर मानों दूध की लहरें लहरा रही हैं। उस फ़र्श पर तारिकाएं जैसी श्वेत-वसना, गौराङ्गी तरुणियाँ खड़ी हैं जिनके शरीर मोती और मल्लिका के आभूषणों से जगमगा रहे हैं। उनके मध्य में है चन्द्रकांता राधिका। उधर आकाश में भी यही दृश्य है—वहां भी चाँदनी का समुद्र उमड रहा है और उसमें तारिकाओं के समूह से घिरा हुआ चन्द्रमा अद्भुत आभा विकीर्ण कर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानो आकाश ने आरसी का रूप धारण कर लिया है, जिसमें पृथ्वी का यह सम्पूर्ण दृश्य प्रतिविम्बित हो रहा है। आप देखिए, इस चित्र में चाँदी के औज्ज्वल्य की कितनी प्रखर जगमगाहट है—सारा चित्र जैसे झलझला रहा है। मैं समझता हूँ कि चित्र-सामग्री की समृद्धि की दृष्टि से समस्त रीतिकाल में देव का स्थान अन्यतम है—ऐसे उदाहरण उनमें अनेक मिलेंगे जिनमें चाँदनी, चाँदी, सोना, हीरे-मोती, तरह तरह के जवाहरात, ज़री के वस्त्राभूषण, अनेक प्रकार के फूल, स्फटिक शिला, जल की फुहार आदि का अनंत वैभव बिखरा हुआ है :—

चाँदनी महल बैठी चाँदनी के कौतुक को,
चाँदनी-सी राधा-छवि चाँदनी विशालरैं।
चंद की कला-सी देव दासी संग फूली फिरैं,
फूल-से दुकूल पैन्हें फूलन की मालरैं।
छूटत फुहारे वे, विमल जल झलकत,
चमकैं चंदोवा मनि मानिक महालरैं।
बीच जरतारन की, हीरन के हारन की,
जगमगी जोतिन की, मोतिन की झालरैं।

उपर्युक्त चित्रों मे एकवर्ण की ही आभा होने के कारण वर्ण-योजना अपेक्षाकृत सरल है—परन्तु ऐसे चित्रों में जहाँ अनेक वर्णों का सूक्ष्म मिश्रण है कवि को ज़्यादा कारीगरी दखानी पड़ती है। वर्ण-योजना के उदाहरण-स्वरूप ब्रजभाषा के आचार्यों में देव का यह छंद अत्यन्त प्रसिद्ध है :—

नीचे को निहारत नगीचे नैन-अधर,
दुबीचे पर्‌यौ स्यामारुन आभा अटकन को।

नीलमनि भाग ह्वै, पद्‌मराग ह्वै कै,
पुखराग ह्वै बिंध्यौ रहत छ्वै निकट कन को।
देव बिहँसत दुति दंतन जुडाति जोति,
विमल मुकुत हीरा-लाल गटकन को।
थिरकि थिरकि थिर, थाने पर थाने तोरि,
बाने बदलत नट मोती लटकन को।

नीचे को निहारते ही नयन और ओठों की छाया पडने से लटकन के मोती की आभा श्यामारुण हो जाती है। कुछ भाग नीलमणि हो जाता है और कुछ पद्मराग। शरीर की कांति से उसमें पुखराज का आभास होने लगता है और हँसते ही फिर वह विमल मुक्ता हो जाता है। यहाँ थोड़ा परम्परा का पालन अवश्य है, परन्तु फिर भी श्यामारुण आदि रंगों के स्पर्श अत्यन्त मनोरम बन पड़े हैं। नीचे के चित्र में रंगों का मिश्रण इससे भी सूक्ष्म है :—

मांग गुही मोतिन भुअंग ऐसी बेनी, उर उरज उतंग औ मतंग गति गौन की।
अङ्गना अनंग कैसी पहिरे सुरंग सारी, तरल तुरंग दृग चाली मृग दौन की।
रूप की तरंगनि बरंगिनि के अंगनि सें, सोंधे की अरंग लै तरंग उठै पौन की।
सखी संग रंग मैं कुरंग नैनी आवै तौलों कैयो रंगमई भूमि भई रंग भौन की।

नायिका की भुजङ्ग जैसी श्याम वेणी मोतियों से गुँथी हुई है—साड़ी रंगीन है। शरीर से रूप की तरंगे उठ रही हैं, नेत्र कुरंग जैसे है। रंग भवन की स्फटिक भूमि पर इन सब के प्रतिविम्ब पड़कर मिल जाते हैं जिससे नायिका के आते आते ही वह अनेक रंगमयी हो उठती है।

यहाँ रंग सभी चटकीले हैं। पर कहीं कही उनको हल्का करके भी मिलाया गया है :—

प्रात पयोदन ज्यो अरुणाई दिखाई दई तरुणाई प्रवीनै।

अथवा :—हेम की बेलि भई हिमरासि घरीक मैं घाम सों जाति घुरी है।

अर्थात् कंचन की बेल जैसी नायिका विरह के कारण हिमराशि-सी हो गई है जो तनिक भी ताप से घड़ी भर में घुली जा रही है। कंचन रंग का फीका पट कर हिम जैसा हो जाना और फिर उसका धूप से घुलते जाना—रंगों में कितनी कोमलता है।

'गोरो गोरो मुख आज ओरो सो बिलानो जात।' में रंग का स्पर्श और भी हल्का हो गया है। एक चित्र में कवि ने इससे भी सूक्ष्म कौशल का परिचय दिया है—"चौगुनो रंग चढ़ो चित में, चुनरी के चुचात लाला के निचोरन।'

वर्षा में नायिका की चुनरी भीग गई है—नायक बड़े स्नेह से उसे निचोड़ रहा है। रंग से चुचाती हुई चुनरी को इस प्रकार अपने प्रेमी के हाथों से निचुड़ते देखकर नायिका के हृदय में चौगुना रंग चढ़ जाता है। यहाँ रंग भरा नहीं गया व्यञ्जित किया गया है।

रीतिकाल के अन्य कवियों की भाँति देव में भी मानव-चित्रों का ही प्राधान्य है। रीति कविता का मुख्य विषय शृंगार है और उसका वातावरण सर्वथा घरेलू है, अतएव स्वभावतः ही उसमें प्रकृति के चित्रों के लिए विशेष स्थान नहीं है। प्रकृति को यहाँ केवल उद्दीपन के रूप में ही ग्रहण किया गया है। अतएव षट्ऋतु और बारहमासे से अधिक ये कवि नहीं जा सके हैं। बदलते हुए मौसम और बदलती हुई ऋतुओं को प्रणयी-मन पर क्या क्या प्रतिक्रियाएं होती हैं इसी पर इनका ध्यान गया है। प्रकृति के सहज सौन्दर्य्य ने इन्हें आकृष्ट नहीं किया। देव ने सुजान-विनोद और सुखसागरतरंग में षट्ऋतु तथा बारहमासे के चित्र दिये हैं। उनका चित्रण भी यद्यपि प्रधान रूप से उद्दीपन की दृष्टि से ही हुआ है परन्तु फिर भी कवि के सहज रूप-मोह और सूक्ष्म अन्वीक्षण के कारण कुछ प्रकृति-चित्र वास्तव में बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं :—

आस पास पूरन प्रकास के पगार सूझैं, बनन अगार डीठ गली ह्वै निवर ते
पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूडी, बिधु बरम्हण्ड उतरात बिधि बर ते।
सारद जुन्हाई जन्हु पूरन सरूप धाई, जाई सुधा-सिंधु नभ सेत गिरिवर ते।
उमड़ो परत जोति-मंडल अखंड सुधा, मंडल मही में इन्दु-मंडल विवर ते।

इस चित्र में कोरे उद्दीपन के निमित्त परम्परा का निर्वाह नहीं है, इसमें स्पष्ट ही प्रकृति के प्रति कवि की भावना उमड़ रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उसका मन शरद ज्योत्स्ना के इस तरंगायित प्रवाह में उछल उछल कर नहा रहा हो। प्राकृतिक सौन्दर्य्य के प्रति ऐन्द्रिय आनन्द की भावना तो देव के अनेक चित्रों में मिल जाएगी :—

१—बरन सोपाननि ऊपर रह्यो भू पर को, चारिहू तरफ फहरातीं रस-चादरैं।
२—रंगराती हरी हहराती लता झुकि जाती समीर के झूकनि-सो।

एकाध चित्र में कवि ने सूक्ष्म अन्वीक्षण का अपूर्व चमत्कार दिखाया है।
सुधा के सरोवर-सो अम्बर उदित ससि मुदित मराल मनु पैरिबे को पैठ्यो है।
बेला के बिमल फूल फूलत समूल मानों, गगन ते उडि उडुगण गण बैठ्यो है।

चन्द्रिका-मण्डित आकाश में हाल ही में उदित हुआ चन्द्रमा ऐसा लगता है मानो कोई हंस सुधा के सरोवर में तैरने के लिए अभी अभी प्रविष्ट हुआ हो। "पैरिबे को पैठ्यो है" में हंस की मुद्रा का और उसके द्वारा चन्द्रमा की

तत्कालीन छवि का अत्यन्त सूक्ष्म-कोमल चित्र अंकित किया गया है जो अंगरेजी कवि मिल्टन के एक ऐसे ही प्रसिद्ध चित्र का स्मरण दिलाता है :—

To behold the wandering moon,

× × ×

And oft, as if her head she bow'd
Stooping through a fleecy cloud.

अंत में, देव के चित्र-कौशल का विवेचन करते हुए रीतिकाल के प्रतिष्ठित चित्रकार-कवि बिहारी का स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है। बिहारी के चित्रों में नक्काशी का प्राधान्य है—उनकी रेखाएं पैनी और रंग जड़े हुए हैं—वे चित्र वस्तु-परक अधिक और भाव-परक कम हैं। यह स्पष्टतः ही उन पर जयपुर क़लम का प्रभाव है।—जयपुर क़लम का अठारहवीं शताब्दी में काफ़ी प्रचार था—मुग़ल शैली का गहरा प्रभाव होने के कारण इस शैली मे भी रूप-रेखा की कड़ाई विशेष रूप से मिलती है। बिहारी का जयपुर दरबार से सीधा सम्बन्ध था—अतएव वहां चित्रकला की जिस शैली का संवर्द्धन हो रहा था उसका बिहारी के काव्यचित्रों पर प्रभाव पड़ना सहज स्वाभाविक ही था। देव के चित्रों मे रेखाएं हलकी-कोमल, रंग तरल और घुले-मिले हैं—उनका सम्बन्ध राजस्थानी-शैली से है जो भारत की अपनी देशी शैली थी और मूलतः भाव-परक होने के कारण जिसमें मार्दव की विशेषता थी। बिहारी और देव के चित्रों की यह तुलना आधुनिक युग में पंत और महादेवी के चित्रों की तुलना का अनायास ही ध्यान दिला देती है।

अभिव्यंजना के प्रसाधन

अलंकार—सम्प्रदाय के विवेचन में हमने सौन्दर्य-शास्त्र के इस मूल रहस्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि भाव की रमणीयता और उक्ति की रमणीयता अथवा अनुभूति के सौन्दर्य और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में सहज सम्बन्ध है। भारतीय रीति-शास्त्र ने इन दोनों तत्वों के महत्त्व को तो पूर्णतः ग्रहण कर लिया था, परन्तु उसने उन्हें अभिन्न रूप मे न देखकर पृथक् पृथक् ही देखा था। यह बात नहीं कि इन दोनो के सम्बन्ध से वह अनभिज्ञ था परन्तु इनकी अनिवार्य एकता का क़ायल वह नहीं था—इसलिए उसने अनुभूति और अभिव्यक्ति के पार्थक्य का सर्वथा लोप नहीं होने दिया। इसके विपरीत विदेश का नवीन सौंदर्य-शास्त्र दोनों का अनिवार्य्य अपार्थक्य मानता है—उसका कहना है कि भाव की रमणीयता की स्थिति उक्ति की रमणीयता के अतिरिक्त और है ही क्या ? इस प्रकार वह वस्तु और आकार की एकता का प्रतिपादन करता है। यह सिद्धांत चाहे पूर्ण रूप से संगत न हो, परन्तु वस्तु की समृद्धि बहुत कुछ आकार की समृद्धि पर आश्रित है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। अनुभूति की उत्तेजना

अथवा रमणीयत्ता को अभिव्यक्त करने में अभिव्यन्जना के साधारण उपकरण समर्थ नहीं होते—उसके लिए कवि को चेतन अथवा अवचेतन रूप में विशिष्ट (सबल एवं रमणीय) उपकरणों का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है। रीतिकाल के कवि अभिव्यक्ति के प्रति विशेष रूप से सतर्क थे—उनमें अन्य कवियों की अपेक्षा चेतन प्रयत्न अधिक स्पष्ट मिलता है।

अप्रस्तुत-विधान :—अभिव्यक्ति को रमणीय एवं सबल बनाने का सबसे सहज तथा उपयोगी साधन है अप्रस्तुत-विधान अर्थात् प्रस्तुत की श्रीवृद्धि के लिए अप्रस्तुत का उपयोग। यह अप्रस्तुत-विधान प्रधानतः साम्य पर आधृत रहता है और यह साम्य मुख्यतया तीन प्रकार का होता है, रूप-साम्य (सादृश्य), धर्म-साम्य (साधर्म्य). और प्रभाव-साम्य ।

सादृश्य :—सादृश्य-मूलक अप्रस्तुत का प्रयोग वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट करने के निमित्त किया जाता है। देव ने अपने शृंगार-चित्रों में रूप की अनुभूति को स्पष्ट एवं तीव्र करने के लिए ही उसका उपयोग किया है। रीतिकाल में आकर उपमान प्रायः रूढ हो गये थे। संस्कृत मे नायक-नायिका के प्रत्येक अंग के लिए, रूप के प्रत्येक अवयव के लिए, उपमानो की एक परम्परा-सी निश्चित हो गई थी। रीतिकाल के साधारण कवि तो प्रायः उनका ही रूढि-बद्ध प्रयोग करते रहे, परन्तु प्रतिभाशाली कवियों ने उनके अन्तर्गत भी कल्पना की सहायता से अनेक रमणीय विधान प्रस्तुत किये। देव मे परम्परागत उपमाओं का प्रयोग अवश्य हैं, उनके नख-शिख-वर्णन मे और कहीं-कहीं अन्यत्र भी कुछ अप्रस्तुत-विधान सर्वथा रूढ उपमानों पर आश्रित होने के कारण निश्चय ही ऐसे हैं जो रूप की अनुभूति कराने में किसी प्रकार भी समर्थ नहीं होते—उनमें चित्रमयता नाम को भी नहीं है, केवल असमर्थ परम्परा का अनुसरण है : 'जानि न परत अति सूछम ज्यों देव गति, भूत की चलाकी धौं कला है कोटि नट ते।' यहाँ रूढि के प्रभाववश बेचारी कटि को देवगति, भूत की चालाकी और नट की कला बनाना पड़ा है—इसमे सन्देह नहीं कि सूक्ष्मता और संदिग्ध अस्तित्व की व्यन्जना करने में ये उपमान काफ़ी समर्थ हैं, परन्तु इनसे कटि के सौन्दर्य की अनुभूति कहाँ होती है ? इसी प्रकार—

त्रिवली त्रिवेणी लट रोमावली धूम-लट, यौवन पटल ज्योति बेदी छवि तुण्ड मैं।
बेद-ध्वनि बोलै गुणवंत मुनि किंकणीक रसना रतन मणि मुकुतान भुण्ड मैं।
× × × × × मनोज मखु माड़्यो नाभि-कुण्ड मैं।

मनोज के यज्ञ को पूरा करने के लिए त्रिवली को त्रिवेणी, और रोमावली को धूम-शिखा बनना चाहे स्वीकार्य भी हो जाए, लेकिन किंकिणी स्वयं मुनि बन कर अपनी झनकार को वेद-ध्वनि में परिणत करने को कभी तैयार नहीं हो सकती।

परन्तु ऐसे उदाहरण देव में बहुत कम हैं—उनके लिए खोज करनी पड़ती है। साधारणतः उनकी कविता में छवि के अत्यन्त रम्य गोचर रूप बिखरे मिलते हैं —

बैस बराबर दोऊ सुहात सु गोरी को गात प्रभात ज्यों पूनो।

वयःसन्धि मे छिपते हुए शैशव और निखरते हुए यौवन की स्पष्ट अनुभूति कराने के लिए कवि ने पूर्णिमा के प्रभात की उपमा दी है—भोले शैशव की मृदुल छवि मानो राका की चाँदनी है और यौवन की कान्ति प्रभातकालीन आभा है; इस प्रकार दोनों के सम्मिलित सौन्दर्य की चेतना वयः सन्धि के सौन्दर्य की अनुभूति में सहायक होती है। वर्ण-योजना के प्रसंग में उद्धृत उपमा इससे भी अधिक स्पष्ट है—"प्रात पयोदन ज्यो अरुणाई दिखाई दई तरुणाई प्रवीनै।" और उधर 'जगर मगर आपु आवति दिवारी-सी' में रूप की जगमगाहट और भी प्रखर हो गई है। पुराने उपमानों के योग से भी स्थान-स्थान पर रूप के सूक्ष्म-विधान खड़े किए गये हैं:—"अमल कमल बीच किरणि तरणि की-सी छलकै छलानि छबि छाय रबि सोम लै" हाथों में अँगूठियों की आभा ऐसी लगती है जैसे कमल पर चमकती हुई रवि की किरणें हों। इसी प्रकार :—

मन्द हंसी अरविन्द ज्यों बिन्द, अंचै गये दीठि में दीठि खुभै कै।
कंज को मंजिम जन मानो, उडे चुनि चंचुनि चंचु चुभै कै॥

यहाँ अप्रस्तुत-विधान के द्वारा नेत्रमिलन की सूक्ष्म अनुभूति कराई गई है। उपमान पुराने हैं; परन्तु उनकी योजना नवीन है; अतएव अलंकार मे एक नया चमत्कार ही आगया है।

रूप के प्रति देव की संवेदना कितनी सूक्ष्म-कोमल थी, इसका निर्देश पहले हो चुका है। पाठक के मन में भी उसे ज्यों का त्यों उद्बुद्ध करने के लिए उतनी ही सूक्ष्म अभिव्यञ्जना-शक्ति की अपेक्षा थी और यह शक्ति निस्संदेह इस कवि मे थी। अपनी स्थापना की पुष्टि के लिए यहाँ हम केवल दो उदाहरण उपस्थित करते हैं—

१—बड़े-बड़े नैननि सो आँसू भरि-भरि ढरि
गोरो गोरो मुख आजु ओरो सो बिलानो जात।

यह देव का अत्यन्त प्रसिद्ध उदाहरण है। देव-मर्मज्ञ मिश्र-बन्धुओं ने इसके काव्य-गुण की भूरि-भूरि प्रशंसा की है; परन्तु स्वर्गीय लाला भगवानदीन ने मुख के लिए ओले की उपमा को अनुचित मानते हुए इस चरण मे पाठ की अशुद्धि मानी है। उनका आग्रह है कि वास्तविक पाठ यह है—"बढ़े-घटे नैननि सों आँसू भरि-भरि ढरि, गोरे मुख परि आजु ओरे लौं बिलाने जात।"

इसमें सन्देह नहीं कि आँसू और ओले में आकार-साम्य कहीं अधिक है, और अनुपात की दृष्टि से ओला मुख की अपेक्षा आँसू का ही अधिक समीचीन उपमान है; परन्तु ऐसा मान लेना, वास्तव में, स्थूल अनुपात के लिए सूक्ष्म रूप-चेतना का बलिदान करना है। उपर्युक्त उपमा में सादृश्य केवल रंग तक ही सीमित है। कवि यहाँ यही कहना चाहता है कि आँसुओं के कारण क्रमशः फीकी होती हुई मुख-छवि ओले के समान घुलती-सी प्रतीत होती है। जिन्होंने एक ओर आँसुओं में घुलती हुई मुख की गौर-कान्ति को और दूसरी ओर वर्षा की बूँदों से धीरे-धीरे घुलते हुए ओले को देखा है, वे अवश्य ही इस सादृश्य-विधान के अपूर्व सौन्दर्य की दाद दे सकते हैं।

साधर्म्य :—साधर्म्य-मूलक उपमानों का उद्देश्य धर्म अथवा गुण की अनुभूति में सहायक होना है। सादृश्य-विधान के द्वारा जहाँ कवि वस्तु के रूप की चेतना को संवेदनीय बनाता है, साधर्म्य-विधान के द्वारा वहाँ उसका अभीष्ट वस्तु के धर्म अथवा गुण की अनुभूति को संवेदनीय बनाना होता है। आधुनिक उपमान—जिनमें लक्षणा का चमत्कार प्रायः वर्तमान रहता है, साधर्म्य-मूलक ही अधिक होते हैं। पुराने कवियों ने भी उनका अपने ढंग से उपयोग किया है। देव में इस प्रकार की सुन्दर योजनाएं मिलती हैं :—

१—देव कछू अपनो बस ना, रस लालच लाल चितै भईं चेरी,
बेग ही बूड़ि गईं पंखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।

जैसे मधुमक्खी के पंख रस में डूब जाते हैं, इसी प्रकार आँखों की पाँखें भी लाल के रूप में डूब गईं। आँखों में और मधुमक्खी में रूप-साम्य विशेष नहीं है, परन्तु दोनों में रस के लोभ, अर्थात् धर्म का साम्य है।

२—'माखन-सो तन दूध-सो जोबन……' में भोली-भाली ग्राम्या के शरीर की उपमा मक्खन से और यौवन की दूध से दी गई है। शरीर और मक्खन अथवा यौवन और दूध में सादृश्य की तो सम्भावना है नहीं—साधर्म्य का सौन्दर्य अवश्य स्तुत्य है। अंगों के भोले मार्दव और स्निग्धता की इतनी स्पष्ट अनुभूति मक्खन से अधिक कदाचित् ही कोई दूसरा उपमान करा सके; इसी प्रकार यौवन के सात्विक तारल्य के लिए भी दूध अत्यन्त सार्थक उपमान है। ये दोनों ही उपमान नायिका के निश्छल सौन्दर्य्य की अत्यन्त मधुर व्यन्जना करते हैं। एक और उदाहरण लीजिये जो इससे भी कहीं अधिक सूक्ष्म-तरल है :—

३—विमल विलास ललचावत लला को चित,
ऐंचत इतै को वे उतै ही को मुरत हैं।

पारे ही के मोती किधौं प्यारी के सिथिल गात,
ज्यों ही ज्यों बटोरियत त्यों-त्यो बिथुरत हैं।

नायिका के प्रणय-मान का वर्णन है ; इधर उसके विभ्रम विलास पर मुग्ध होकर नायक उसके सोत-से शिथिल अंगों को समेटने के लिए लालच-भरे हाथ बढाता है, उधर वह उतना ही उन्हें सिकोड़ती चली जाती है। ये नायिका के अंग हैं या पारे के मोती ? जितना ही नायक उन्हें बटोरने का प्रयत्न करता है, उतने ही वे बिथुरते चले जाते हैं। यहाँ रमणी के गोरे अंगो और पारे के मोतियों में रंग का साम्य तो साधारण है; पर दोनों के बिथुर जाने में स्पर्श के साम्य की अनुभूति कितनी स्पष्ट है ! यह उपमा एकदम अछूती है। कहीं-कहीं साधर्म्य का प्रयोग और भी सूक्ष्म और भाव-गम्य हो गया है :—

पतिव्रत-व्रती ए उपासी प्यासी अंखियन,
प्रात उठि प्रीतम पिआयो रूप-पारनौ। — दर्शन की लालायित आँखें मानों उपवास-रता पतिव्रता हैं-और दूसरे दिन आनेवाले प्रियतम का रूप उनके लिए पारण (अर्थात् उपवास के उपरांत मिलने वाला भोजन) है। इस विधान में दोनों ही अप्रस्तुत अत्यन्त भाव-पूर्ण हैं-दर्शन की प्यासी आँखों पर उपवास-रत पतिव्रता का आरोप, और फिर उसी परम्परा में रूप के ऊपर सूक्ष्म साधर्म्य के आधार पर पारण का आरोप—व्यंग्य में डूब कर कितना करुण-मधुर हो गया है।

प्रभाव-साम्य :—प्रभाव-साम्य और साधर्म्य में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं किया जा सकता। वास्तव में प्रभाव-साम्य साधर्म्य का सूक्ष्मतर रूप ही है। इसका प्रयोग वस्तु अथवा व्यक्ति के गुण को संवेदनीय बनाने के स्थान पर किसी प्रभाव की अनुभूति को स्पष्टतर करने के निमित्त होता है। इसका भी सौन्दर्य बहुत कुछ लक्षणा पर ही आश्रित रहता है। आधुनिक अभिव्यञ्जना प्रणालियों में इसको और भी अधिक महत्व प्राप्त है। प्रभाव-साम्य पर आधृत देव के कुछ अप्रस्तुत-विधान लीजिये :—

१—ये अँखियां सखियाँ न हमारियै, जाय मिलीं जल-बिन्दु ज्यों कूप मैं।
कोटि उपाय न पाइये फेरि समाय गईं रंगराय के रूप मैं॥

यहाँ नेत्रों में और जल-बिन्दु मे, अथवा रूप और कूप में सादृश्य तो है ही नहीं, साधर्म्य भी कोई विशेष नहीं है। परन्तु नेत्रों के रंगराय के रूप में डूब कर उसी में समा जाने मे, और जल-बिन्दु के कूप में डूब कर उसी में तिरोहित हो जाने में अन्तिम प्रभाव का गहरा साम्य है। डूब कर लय हो जाने का गम्भीर प्रभाव दोनों में समान है। नेत्रों के रूप में डूब कर उसी में समा जाने में लक्षणा का

भी भावमय प्रयोग दर्शनीय है। ठीक यही बात 'जम्बु-रस-बिन्दु जमुना जल तरंग में' के लिए कही जा सकती है। इसमें मन जम्बु-रस की बूंद है, और कृष्ण का श्याम रंग जमुना-जल की तरंग है। कृष्ण के तरंगायित श्यामल सौन्दर्य की उपमा तो जमुना-जल-तरंग से रूप, धर्म और प्रभाव तीनों के साम्य की दृष्टि से ही ठीक बैठ जाती है; परन्तु जम्बु-रस-बिन्दु और मन में साधारणतः रूप अथवा धर्म की समानता नहीं मिलती।

२—आनन सुगंध ज्यों सुगध जैसे फूलन तैं,
फूल से दुकूलन तैं रूप निकस्यौ परै।

कोमल एवं सुवासित (फूल से) दुकूलों से नायिका का रूप इस प्रकार उत्कीर्ण हो रहा है जैसे पुष्प से सुगंध। रूप नेत्रों का विषय है, और सुगन्ध घ्राण का परन्तु आस्वादन की अवस्था में माध्यम का अंतर नहीं रहता, अतएव दोनों की ऐन्द्रिय अनुभूति में मौलिक भेद नहीं रहता। दूसरे शब्दों मे, मन पर दोनों का प्रभाव एक-सा ही पड़ता है। उपर्युक्त अप्रस्तुत-विधान मे, जो सर्वथा आधुनिक प्रतीत होता है, इसी मनोवैज्ञानिक सत्य का आश्रय लिया गया ।

३—अब लगि आँखिन की पूतरी कसौटिन मे
लागी रहै लीक वा की सोने की गुराई की।

आँखो की काली पुतली मे बसी हुई गौर-कान्ति की रेखा और कसौटी पर लगी हुई सोने की लीक में रूप-साम्य तो अत्यन्त स्पष्ट है ही, परन्तु इसके वास्तविक सौन्दर्य का कारण रंग का सादृश्य न होकर मन पर पड़े हुए सम्मिलित प्रभाव का साम्य ही है। रूप की इतनी सूक्ष्म चेतना और उसकी इतनी सच्ची एवं सटीक अभिव्यक्ति प्राचीन साहित्य मे अनेक कवियों के लिए सहज नहीं थी।

अभिव्यञ्जना की समस्त प्रणालियों मे अप्रस्तुत-विधान ही देव को सब से अधिक प्रिय है। देव स्वभाव से भावुक और सिद्धांत से रसवादी थे। उन्हीं के शब्दों में रस की सम्पत्ति है भाव, और भाव की स्पष्ट अनुभूति कराने में (स्वभावोक्ति को यदि स्वतन्त्र अलंकार न मानें तो) सब से सहज सहायक औपम्य-मूलक अलंकार ही हैं। देव ने सिद्धांत-रूप मे भी उपमा के प्रति अपना पक्षपात घोषित किया है, और उधर व्यवहार में भी इन्हीं अलंकारों के प्रयोग मे अद्भुत-कौशल का परिचय दिया है। उनकी उपमाओं और रूपकों में पर्याप्त वैचित्र्य एवं विभिन्नता मिलती है। एक ओर, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है, जहाँ उन्होंने कल्पना-प्रसूत रम्य और रंगीन उपमायें ग्रहण की हैं, तो दूसरी ओर नित्यप्रति के साधारण जीवन से भी उनका चयन किया है:

पट्ट द्वै पलटी उलटे पट ज्यों,

या फिर—

देव तेऽब गोरी के बिलात गात बात लगे,
ज्यों-ज्यों सीरे पानी पीरे पान से पलटियत।

अमूर्त अप्रस्तुत :—साधारणतः कवि अमूर्त भावना अथवा तथ्यों को व्यक्त करने के लिये मूर्त उपमानों का प्रयोग करते हैं और वास्तव में अमूर्त की अभिव्यक्ति की यह प्रणाली सहज स्वाभाविक भी है। परन्तु कभी-कभी मूर्त को अमूर्त द्वारा व्यक्त करना भी सहज और रोचक होता है। कुछ अमूर्त तथ्य अथवा भावनायें हमारे मन के निकट इतनी स्पष्ट और व्यक्त हो जाती हैं कि वे अनेक मूर्त पदार्थों की भी अपेक्षा सहज-ग्राह्य बन जाती हैं, इसीलिये वे कभी-कभी मूर्त वस्तुओं की अनुभूति में भी विशेष रूप से सहायक हो सकती हैं। छायावादी कवियों में इस प्रकार के अत्यन्त सुन्दर अमूर्त-विधान मिलते हैं। प्राचीन कवियों में इनका अभाव तो नहीं है क्योकि सहज मनोविज्ञान पर आश्रित यह प्रवृत्ति किसी विशेष देश अथवा काल की सम्पत्ति नहीं हो सकती। उदाहरण के लिये तुलसी का प्रसिद्ध वर्षा-वर्णन ही लिया जा सकता है,❀ परन्तु इस प्रकार की परिपाटी को उन्होंने विशेष प्रश्रय नहीं दिया, अतएव ऐसे विधान प्राचीन कविता मे अधिक नहीं हैं। देव में इस प्रकार की भी कुछ एक योजनायें मिल जाती हैं—जैसे नख-शिख में एक स्थान पर उन्होंने उरोजों को 'ओज के उज्ज्वल रूपक' कहा है :

कैधों रुचि भूपर अनूप रचि राखे देव,
रूपक-समूह द्वै उज्यारे अति ओज के।

उरोजो के सुन्दर उभार की अनुभूति को व्यक्त करने के लिये यह उपमान अत्यन्त व्यञ्जनापूर्ण है, इसमे कल्पना का उपयोग जितना रम्य है उतना ही सार्थक भी। इसके अतिरिक्त और भी कुछ उद्धरण उपस्थित किये जा सकते हैं :

कुल की-सी करनी, कुलीन की-सी कोमलता,
सील की-सी सम्पत्ति, सुसील कुल कामिनी।

❀ दामिनि दमक रही घन माहीं, खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।
क्षुद्र नदी भरि चली तोराई, जस थोरे धन खल बौराई॥
उदित अगस्त पंथ जल सोखा, जिमि लोभइ सोखइ संतोषा।
बूँद अघात सहैं गिरि कैसे, खल के वचन संत सह जैसे॥
[रामचरित मानस]

दान को सो आदरु, उदारताई सूर की-सी,
गुनी की लुनाई, गुनमंती गज गामिनी ॥

× × ×

धर्म के लिए धर्मी का प्रयोग :—इससे भी अधिक रमणीय तथा सूक्ष्म प्रणाली है, धर्म के लिये धर्मी का प्रयोग। इसका सौन्दर्य भी सर्वथा लक्षणा के आश्रित है। साध्यवसाना लक्षणा इसके मूल में रहती है। स्थूल रूप में यह प्रयोग वाचक-धर्मलुप्ता उपमा के समान प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में उपमा के इस निर्जीव भेद में इतनी अभिव्यञ्जक शक्ति कहाँ सम्भव है? दूसरे, इसका उद्देश्य भी उपमा से भिन्न होता है। उपमा में जहाँ साम्य सदैव ही प्रकट एवं स्पष्ट रहता है, यहाँ उसका कोई भी मूल्य नहीं है। यहाँ अभीष्ट है केवल प्रभाव का तीव्र संवेदन; तीव्रता इस प्रयोग का अनिवार्य गुण होता है। अतएव वही विशेषण अथवा उपमान यहाँ उपयोगी हो सकता है, जिसका धर्म परम्परा से इतना स्थिर हो चुका हो और जिसका सम्बन्ध हमारे संस्कारों से इतना गहरा हो गया हो कि धर्मी के उल्लेख मात्र से ही हम धर्म को पूरी तरह ग्रहण कर लें। यह प्रयोग भी बहुत कुछ आधुनिक है, और वास्तव मे देव में इस प्रकार के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण देखकर उनके अभिव्यन्जना-कौशल पर चकित रह जाना पड़ता है।

(१) तारे खुले न घिरी बरुनी घन, नैंन भये दोउ सावन भादौं।

यहाँ सावन भादौं का साधारण वाच्यार्थ है 'निरंतन बरसन वाले'। सावन भादों के साथ 'के समान' वाचक शब्द और 'निरंतर बरसने वाले' साधारण धर्म को लुप्त मान लेने से उपर्युक्त पद वाचक-धर्म-लुप्ता उपमा का सीधा उदाहरण बन जाता है। परन्तु नेत्रों को एक ओर 'सावन भादों' की तरह बरसने वाले कहना और दूसरी ओर 'सावन भादों' ही कह देना एक बात नहीं है। दूसरे प्रयोग में जो आतिशय्य की ध्वनि है वह पहले में नहीं है। अतएव आधिक्य अथवा तीव्रता की वृद्धि के लिए यहाँ धर्म के स्थान पर धर्मी का ही प्रयोग किया गया है।

(२) पन्नग की मनि कीन्हीं उन्हें, उन पन्नग की किचुली कियो चाहत।

अर्थात् हमने उन्हें सर्प की मणि बनाया, परन्तु वे हमको सर्प की केंचुली बनाना चाहते हैं। सर्प का मणि के प्रति मोह और केंचुली के प्रति सहज औदास्य प्रसिद्ध है। उन्हीं का आश्रय लेकर मोह और औदास्य की तीव्र व्यंजना करने के लिए यहाँ वाचक शब्द को बचाकर मोह और औदास्य के प्रसिद्ध पात्रों का प्रयोग किया गया है।

(३) पावस ते उठि कीजिये चैत अमावस ते उठि कीजिये पूनौं।

पहले उद्धरण में अप्रस्तुत सावन भादों के साथ प्रस्तुत नेत्रों का भी उल्लेख है. परन्तु यहाँ अप्रस्तुत ने प्रस्तुत को पूर्णतः निगीर्ण कर लिया है—इसका अस्तित्व ही लुप्त हो गया है। यहाँ विरह के विषाद के लिए पावस और अमावस का, तथा मिलन के उल्लास के लिए चैत और पूनो का प्रयोग हुआ है। पावस के अंधकार और वर्षा द्वारा मन के विषाद तथा बरसते हुए नेत्रों की, और इसके विपरीत—चैत्र द्वारा मन के उल्लास तथा मुस्कराती हुई मुख-छवि की व्यंजना हमारे संस्कारों के इतने निकट है कि धर्म के लिए धर्मी का यह प्रयोग अर्थ-ग्रहण में बाधक तो होता ही नहीं है—बल्कि उलटा वाचक शब्दों की किफ़ायत करता हुआ और अनेक सम्बद्ध संस्कारों को जगाता हुआ व्यंजक गुण की श्री-वृद्धि कर देता है। अमावस और पूनों के मूल में भी यही सत्य है। परम्परा और संस्कार के प्रभाव से ऐसे शब्द ही प्रतीक पद को प्राप्त कर लेते हैं और वास्तव में उपर्युक्त चार शब्दों में कम से कम पावस, पूनो और अमावस तो एक प्रकार से स्वीकृत प्रतीक हैं ही। एक छंद में प्रतीकों का प्रयोग देव ने और भी उदारता-पूर्वक किया है।

(४) पून्यो प्रकास उकासि कै सारदी, आसहू पास बसाय अमावस;
दै गए चिंतन सोच विचार, सु लैगए नींद छुधा बल-बावस।
है उत देव बसंत सदा, इत हैउंत है हिय कंप महावस;
लै सिसिरौ—निसि, ग्रीषम के दिन, आंखिन राखि गए ऋतु पावस।

इसमें पूनो, अमावस, और पावस के अतिरिक्त, जीवन के उल्लास के लिए वसंत, और विषाद के लिए हेमंत, शिशिर-निशा, तथा ग्रीष्म के दिनों का प्रयोग किया गया है।

मानवीकरण :—भाव-संवेदन को तीव्र करने की इससे थोड़ी भिन्न किंतु लक्षणा की ही आश्रित एक अन्य सफल युक्ति है—मानवीकरण। मानवीकरण में जड़ वस्तुओं, अथवा भावनाओं, अथवा किसी अंग विशेष पर कर्तृत्व आदि मानव गुणों का आरोप किया जाता है। विदेश में इसको एक स्वतंत्र अलंकार माना गया है। हमारे यहाँ अङ्ग्रेजी के प्रभाव से इसको लोकप्रियता चाहे आधुनिक युग में ही प्राप्त हुई हो, परन्तु इसका प्रयोग प्राचीन काव्य में भी निश्चित रूप से हुआ है। भाव की तीव्र अनुभूति को व्यक्त करने का प्रयत्न करते हुए देव, विदेशी अलंकार-शास्त्र का स्वप्न में भी ध्यान न कर, न जाने कितनी बार इसका प्रयोग कर गए हैं :

(१) ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषय के संग,
एरे मन मेरे हाथ—पांव तेरे तोरतो।

(२) ऐरे मन मेरे तैं घनेरे दुख दीने अब,
ए किवार दै कै तोहि मूंदि मारौं एक बार ॥

यहाँ सूक्ष्मेन्द्रिय मन पर मानव-अङ्गों का आरोप किया गया है। मन पर विभिन्न मानवोचित क्रियाओं का आरोप तो अनेक छंदों मे मिलता है :

लट मैं लटकि, कटि-जोयन उलटि करि,
त्रिवली पलटि कटि-तटनि मैं कटि गयो।

अथवा :—प्रेम-पयोधि परो गहिरे अभिमान को फेन रह्यो गहि रे मन।
कोप-तरंगन सों बहि रे पछिताय पुकारत क्यों बहि रे मन ?
'देवजू' लाज-जहाज ते कूदि रह्यो मुख मूँदि, अजौं रहि रे मन;
जोरत, तोरत प्रीति तुही अब तेरी अनीति तुही सहि रे मन ॥

इसी प्रकार एक स्थान पर नेत्रों पर भी दौड़ कर धार में घुसना, फँस जाना, उकसने मे असमर्थ होना, अँगड़ाई लेते हुए गहरे में गिर जाना आदि मानव क्रियाओं का आरोप किया गया है :

धार में धाइ धँसी निरधार ह्वै, जाय ँसी उकसीं न अँधेरी।
री अँगराय गिरी गहिरीं, गहि फेरे फिरीं न घिरीं नहिं घेरी ॥

ये प्रयोग भावना की मूर्तिमत्ता के सहज परिणाम हैं। मन-सम्बन्धी पदों में भावना की तीव्रता के कारण मन एक सूक्ष्मेन्द्रिय मात्र नही रह गया, वह कवि की अनुभूति में एक स्वतंत्र सशरीर व्यक्तित्व धारण कर उपस्थित हो गया है—मानों वह उसका कोई घनिष्ठ सखा या परामर्शदाता हो। इसी प्रकार अन्तिम छंद में रूप चेतना इतनी तीव्र और गहरी होगई है कि उसका अनुभव करने वाले नेत्र। पर स्वतंत्र व्यक्तित्व का आरोप आपसे आप हो गया है।

सम्भावना-मूलक अप्रस्तुत-विधान :—कुछ अप्रस्तुत योजनाएं इस प्रकार की होती हैं जिनका सौन्दर्य किसी प्रकार के साम्य पर आश्रित न होकर सम्भावना पर ही आश्रित होता है—हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा इसी प्रकार के अलंकार हैं। उत्प्रेक्षा में साधारणतः उपमेय-उपमान सम्बन्ध की स्थिति आवश्यक मानी गई है, परन्तु इन दोनों भेदों के लिए वह अनिवार्य नहीं है। इनमें काव्यमय सम्भावना का ही चमत्कार रहता है। इसीलिए कल्पना की ललित क्रीड़ा के लिए इनमें विशेष अवकाश रहता; और भावुक कवि इसमें भावुकता का मधुर पुट देकर एक अद्भुत सौंदर्य उत्पन्न कर देते हैं। यही कारण है कि जिन कवियों में कोमल भाव और ललित कल्पना का प्राधान्य रहता है,-उनमें इन अलंकारों के प्रति एक सहज मोह होता है। देव भी मतिराम की भांति इसी प्रकार के कवियों

की श्रेणी मे आते हैं, स्वभावतः ही उनकी कविता में इस प्रकार की ललित सम्भावनाएं अनेक हैं।

नायिका की भौंहो के लिए कहा गया है :—

नारि हिये त्रिपुरारि बँधे सुनि, हारि कै मैन उतारि धर्‌यो धनु ।

अर्थात् भौंहें मानो काम देवका धनुष हैं, जो उसने यह सुनकर कि अब तो शिव नारी-हृदय में बंध गए है, उतार कर रख दिया है क्योंकि अब इसकी क्या जरूरत है। इसमें संदेह नहीं कि इस उत्प्रेक्षा मे ढीली भौंहो और उतरे हुए धनुष मे साम्य का आधार भी निश्चित रूप से है ही, परन्तु वास्तविक सौंदर्य्य का कारण उपर्युक्त मधुर सम्भावना ही है जो एक प्रसंगोचित मधुर घटना के संस्कार मन मे जगाकर हमारी सौन्दर्य्य-चेतना को और भी उद्‌बुद्ध कर देती है। शिव पर नारी की विजय की स्मृति रूप-चेता के मन पर पडे हुए नारी के प्रभाव को जैसे और भी गहरा कर देती है। इसी प्रकार एक स्थान पर नेत्रों की दीप्ति को देखकर कवि सम्भावना करता है कि : 'दीपति मैन महीप सिखाई समीप सिखा गहि-दीप-सिखा की।' ऐसा लगता है मानो कामदेव ने दीपक को पास रखकर स्वयं अपने आप तरुणी के नेत्रों को दीप्ति विकीर्ण करना सिखाया है।—इस सम्भावना का सौन्दर्य्य स्वतः व्यक्त है, और स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है।

उपर्युक्त सम्भावनाओं में रूप की चेतना का प्राधान्य है। कुछ सम्भावनाएं केवल भाव की ही श्रीवृद्धि करती हैं, जैसे—

बाल के अधर लाल-अधरनि लागि जागि
उठी मदनागि पघिलान्यो मन मोम सो।

अथवा—दुलही के विलोचन-बानन कौं,-ससि आज को सान समान भयो।

या—यों सुनि ओछे ऊरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आए।

या फिर—आंसुन बूड्‌यो उसास उड्‌यो किधौं मान गयो हिलकी की हिलोरनि।

इन चारों उदाहरणों में सम्भावना जितनी भावपूर्ण है उतनी ही सूक्ष्म भी। यहाँ वह व्यक्त न होकर एक प्रकार से अर्ध-व्यक्त ही रही है, जिससे उसकी भावगम्यता और भी बढ़ गई है।

चमत्कार-मूलक अलंकार :—अभिव्यन्जना में आकर्षण और प्रभाव उत्पन्न करने का दूसरा मुख्य साधन है चमत्कार। चमत्कार का सम्बन्ध है हमारी विस्मयवृत्ति से।—काव्य की अनुभूति में विस्मय वृत्ति का भी कुछ योग अवश्य रहता है—सत्काव्य या कला में यद्यपि हमारे चित्त का रंजन करने का गुण ही

मुख्य होता है, परन्तु मस्तिष्क को चमत्कृत करने की भी थोड़ी बहुत शक्ति अनिवार्यतः रहती है। काव्य के मूल मर्म को जाननेवाले कवि और सहृदय तो सदा इन दोनों तत्वों के इसी अनुपात को स्वीकार करते आए हैं, परन्तु जिनकी दृष्टि ऊपरी स्तर तक ही पहुँच पाती है जो काव्य को आत्माभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण न कर आत्म-प्रदर्शन के रूप में ही ग्रहण करते हैं, वे इस अनुपात को उलट देते हैं। उनके लिए चमत्कार मुख्य हो जाता है और हृदय का रंजन गौण। संस्कृत और हिन्दी में ऐसे कवि और आचार्य अनेक हुए हैं—वास्तव में प्रयत्न-सुलभ होने के कारण चमत्कार ऐसे कवियों का, जो स्वभाव से रस-सिद्ध नहीं हैं अथवा जिनकी रुचि गंभीर नहीं है, अत्यन्त प्रिय साधन रहा है। संस्कृत-हिन्दी के अनेक कवियों ने चमत्कार को विचित्र क्रीडाएं की हैं। केशवदास ने तो चमत्कार के लिए रस, औचित्य, ध्वनि, किसी का भी बलिदान कर दिया है। उनके उपरांत अनेक रीति कवियों पर भी यह कुप्रभाव पड़ा, बिहारी जैसे मर्मज्ञ कवि पर भी चमत्कार का जादू खूब खेला। परन्तु मतिराम, देव आदि इससे मुक्त रहे—मतिराम अपनी संयत रुचि के कारण और देव रस के प्रति उत्कट आग्रह के कारण। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने न जाने देव को चमत्कारप्रिय कवियों की कोटि में क्यों रख दिया है। यमक के प्रति अवश्य थोड़ा गुनहगार होते हुए भी यह कवि चमत्कार के फेर में नहीं पड़ा। उसकी अतिशय भावुकता और गंभीर रस-चेतना चमत्कार को कैसे सहन कर सकती थी? निश्चय ही देव के काव्य में चमत्कार-मूलक अलंकारों का प्रयोग बहुत कम है—स्वभाव और साम्य-मूलक अलंकारों के जहाँ प्रभूत उदाहरण मिल जाएंगे, वहाँ चमत्कार-मूलक अलंकारों के लिए आपको खोज करनी पड़ेगी। इस वर्ग के अंतर्गत वे अलंकार आते हैं जिनका उपयोग उक्ति में विचित्रता लाने के लिए होता है—वैषम्य और श्लेष-मूलक अलंकार प्रायः इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। देव ने जहाँ इनका प्रयोग किया भी है वहाँ चमत्कार को स्थूल कभी नहीं बनाया—उनके वैषम्य और श्लेष सूक्ष्म रहकर ही उक्ति में वैचित्र्य उत्पन्न करते हैं, और इसका कारण यह है कि वे सदैव साधन रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं, साध्य नहीं बन पाए। कुछ उदाहरण लीजिए:—

(१)

कातिक की राति पूनो इन्दु परगास दूनो।
आस पास पावस अमावस खगी रहे।
ग्रीषम की ऊमा, मयूष मान कीनीं, मुख—
देखे सनमुख निसि-सिसिर लगी रहे॥

बरसै जुन्हाई सुधा-बसुधा सहस धार—
कौमुदी न सूखे ज्यों-ज्यों जामिनी जगी रहे।

दोऊ पच्छ उज्ज्वल विराजें राजहंसी देव,
स्याम रंग-रंगी जगमगी उमगी रहै ।

(विरोधाभास)

(२) ये अँखियाँ बिनु काजर कारी, अँयारी चितै चित में चपटी-सी ।
मीठी लगें बतियाँ मुख सीठी, यों सौतिन के उर में डपटी-सी ॥
अंगहू राग बिना अंग अंग, झकोरें सुगन्धन की झपटी-सी ।
प्यारी बिहारी ये एडी लसै, बिन जावक पावक की लपटी-सी ॥

(विभावना)

उपर्युक्त पद में स्पष्टतः कवि का अभीष्ट रूप की अनुभूति को व्यक्त करना है, फिर भी विभावना का चमत्कार भी साधन रूप में उसमें अत्यंत सूक्ष्म योग दे रहा है, इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

इसी प्रकार,

(३) आपुने ओछे हिये में दुराइ, दयानिधि देव बसाइ लिए मैं ।
हौं ही असाध बसी न कहूँ, पल आध अगाध तिहारे हिये मैं ।

यहां विभावना और विशेषोक्ति का सूक्ष्म संतुलन है । मैं इस छन्द को भाव-गांभीर्य्य का अन्यतम उदाहरण मानता हूं—फिर भी आप देखें कि उक्ति में वैचित्र्य उत्पन्न करते हुए भाव को गंभीर करने में इस सूक्ष्म अलंकार-योजना का कितना सुन्दर योग है ।

अतिशय-मूलक अलंकार :—अपने मूल रूप में अतिशयोक्ति का उद्देश्य उत्तेजना को संवेदनीय बनाना, अर्थात् अपनी उत्तेजना को व्यक्त करना और दूसरे को उत्तेजित करना है । उत्तेजना के लिए चित्त के विस्तार और उत्कर्ष की अपेक्षा होती है—और चित्त के विस्तार और उत्कर्ष के लिए अपनी बात को बढ़ा चढ़ाकर कहना आवश्यक होता है, तभी अतिशय-मूलक अलंकारों का जन्म होता है । भाव की उद्दीप्ति काव्य का मुख्य ध्येय होने के कारण अतिशय प्राय: कथन की सभी प्रणालियों में प्रच्छन्न अथवा प्रकाश रूप में वर्तमान रहता है । इस प्रकार वास्तव में उसका मूल सम्बन्ध भावोद्दीप्ति से ही है । परन्तु रस के मर्म को न समझने वाले कवियों ने इस सम्बन्ध को विच्छिन्न कर दिया—अतिशय-मूलक अलंकारों का कार्य निर्द्वन्द्व होकर ऊँची उड़ानें भरना तथा चमत्कार की सृष्टि करना ही रह गया । बिहारी ने अतिशयोक्ति के बड़े करिश्मे दिखाए हैं, और हिन्दी के चमत्कार-रसिक आलोचकों ने उनकी काव्य-प्रतिभा की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है—परन्तु गंभीर काव्य-मर्मज्ञों ने ऐसे प्रयोगों को एक खिलवाड़ मात्र मानते हुए उन्हें काव्य की

रूपवृद्धि के लिए उपयोगी नहीं माना है। स्वभावोक्ति के प्रेमी देव को इनके प्रति कोई आकर्षण नहीं था—उन्होंने चमत्कार के लिए कहीं भी इन्हें नहीं अपनाया—भाव की उद्दीप्ति के लिए अवश्य कहीं कहीं इनका प्रयोग किया है, और वह अत्यन्त सफल बन पड़ा है :—

ले रजनीपति बीच बिरासिनि दीमिनि-दीप समीप दिखावै।
जो निज न्यारी उज्यारी करै तब प्यारी के दंतन की द्युति पावै॥

उपर्युक्त अतिशयोक्ति की सफलता दाँतों की चमक की तीव्र अनुभूति कराने में ही है, रूप के उपमानों के एक नवीन चमत्कार का आविष्कार करने में नहीं है।

इसी प्रकार—"सेज पै ज्यों रँगरेज मनोज कैसलोने सोने की बेलि बनाई।" विरह की कृशता पर कितनी रम्य एवं भाव-पूर्ण अत्युक्ति है। सेज पर पड़ी हुई विरह-क्षीण नायिका ऐसी लगती है मानों कामदेव-रूपी रंगरेज़ ने बिछौने के ऊपर सोने की बेल छाप दी हो। यहाँ 'स्वभाव' और 'अतिशय' में कितना मधुर सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। पारिभाषिक रूप में यद्यपि यह उत्प्रेक्षा का ही उदाहरण है; परन्तु वास्तव में आधार इसका अतिशय ही है।

देव के प्रतीकों का विवेचन :—किसी के व्यक्तित्व, उसके स्वभाव, आशा-आकांक्षाओं का अध्ययन करने के लिए प्रतीकों का अध्ययन आधुनिक मनोविज्ञान में विशेष महत्व रखता है। वैसे तो अनेक प्रकार के प्रतीक माने गए हैं; परन्तु उनमें से मुख्य प्रकार तीन हैं :—१. सृजन के प्रतीक, २. नाश के प्रतीक और ३. काम के प्रतीक। रीतिकाव्य के सामान्य विवेचन में हमने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार उसमें काव्य के सुखद एवं प्रसन्न प्रतीकों का प्रयोग ही मुख्य-रूप में हुआ है। देव में भी निश्चित रूप से शृंगार-प्रतीकों का ही प्राधान्य है—ऊपर दिए हुए प्रतीको मे ही देख लीजिए—प्रात-पयोदों में अरुणिमा, चन्द्रमा में बिजली, यमुना-तरंग में जम्बूरस-बिन्दु, कूप में जल की बूंद, कसौटी में सोने की लीक, रस में डूबी हुई मधुमक्खी—ये सभी स्पष्टतः शृंगार के प्रतीक हैं। शृंगार के प्रतीक होने से ये सभी प्रतीक कोमल, रमणीय और चित्रमय हैं। इनमें रंग का वैभव और उल्लास है। इसमें संदेह नही कि रीतिकाल के सभी कवियों की तरह देव की काव्य-सामग्री भी सीमित ही है, और वे रूढ-उपमानों को नहीं बचा पाये हैं, उनके नख-शिख वर्णन में ऐसे अनेक प्रयोग हैं। परन्तु शृंगार की चेतना अत्यन्त तीव्र होने के कारण उनके अप्रस्तुत-विधान प्रायः रूप अथवा भाव के संवेदन में असमर्थ नहीं हुए। रूढ़ उपमानों को भी उन्होंने भावुकता में रंग दिया है और इस प्रकार उनमें एक नवीन अभिव्यञ्जक शक्ति उत्पन्न कर दी है; साथ ही

उनके विधान में भी वैचित्र्य की सृष्टि की है। फिर भी, एक ओर प्रकृति के नाना रूप-विधानों से घनिष्ठ परिचय न होने के कारण और दूसरी ओर अभिव्यञ्जना के अमूर्त उपकरणों का प्रचलन न होने के कारण देव भी अपनी अलंकरण सामग्री का उचित विकास नहीं कर पाये।

परन्तु यह परिमिति भी सापेक्षिक ही समझनी चाहिए। आधुनिक युग के, विशेषकर छायावाद के कवियों की रोमानी अनेकरूपता अथवा तुलसी, सूर, जायसी जैसे कवियों का जीवन-व्यापी विस्तार देव में नहीं है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु साथ ही यह भी असंदिग्ध है कि रीतिकाल के कवियों में केशव और बिहारी के अतिरिक्त किसी का भी क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं है। केशव ने जहाँ अपने पाण्डित्य और कल्पना-वैभव के आधार पर रीतिकाल की अलंकरण-सामग्री की श्रीवृद्धि की है और बिहारी ने अपने सूक्ष्म अन्वीक्षण के आधार पर, वहाँ देव ने अपने भाव-वैभव के द्वारा उसको सम्पन्न बनाया है। अंतर्जगत् की प्रवृत्तियों से घनिष्ठ परिचय होने के कारण अमूर्त उपादानों का भी उन्होंने स्थान-स्थान पर सुन्दर प्रयोग किया है, उधर धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग कर, तथा भावनाओं अथवा जड़ वस्तुओं पर मानव-गुणों का आरोप कर उस बँधी हुई सीमा के भीतर भी वैचित्र्य-विकास की सफल चेष्टा की है। स्पष्टतः ही देव के अधिकांश प्रतीक भाव-मूलक ही हैं, कल्पना-मूलक अथवा बौद्धिक नहीं हैं। वे हमारे भाव-संवेदनों को ही विशेषतया उद्बुद्ध करते हैं, कल्पना अथवा बुद्धि को इतना उत्तेजित नहीं करते।

(आ) देव की भाषा

अभिव्यञ्जना का सबसे मुख्य और सहज माध्यम है भाषा। रीतिकाल तक आते-आते ब्रजभाषा निश्चित रूप से उत्तर भारत की काव्य-भाषा बन चुकी थी। भक्तिकाल में अवधी और ब्रज के बीच थोड़ा प्रतिद्वन्द्व रहा; परन्तु रीतिकाल में साहित्य का स्वीकृत माध्यम ब्रजभाषा ही हो गई थी। इस युग का प्रत्येक साहित्यकार; चाहे उसकी मातृ-भाषा राजस्थानी हो, अथवा अवधी, अनिवार्य्य रूप से ब्रजभाषा की शरण लेता था। देव को यही भाषा अत्यन्त समृद्ध रूप में उत्तराधिकार में मिली थी; अतएव उनकी व्यक्तिगत भाषा-शैली का विवेचन करने से पूर्व ब्रज-भाषा की साधारण प्रकृति और सौष्ठव का थोड़ा विश्लेषण कर लेना उपादेय होगा।

ब्रजभाषा की प्रकृति :—ब्रजभाषा का सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश और उसी परिवार की प्राकृत से है। इन दोनों भाषाओं का उससे माता और मातामही का सम्बन्ध है। यों तो अन्य देशी भाषाओं की भाँति इसका भी जन्म और प्रचार बारहवीं-तेरहवीं विक्रम शताब्दी से ही आरम्भ हो जाता है। पृथ्वीराज रासो में ब्रजभाषा की पद-योजना स्थान-स्थान पर मिलती है :—"बाल बैस ससि ता समीप अमृत-रस पिन्निय" में 'ता' ब्रजभाषा सर्वनाम का ही विभक्ति-हीन प्रयोग है। इसके उपरान्त निर्गुण सन्तों मे गोरखनाथ के गद्य-लेख स्पष्ट ही ब्रजभाषा में लिखे हुए हैं, उधर कबीर आदि की भी साखियो, विशेषकर पदों मे इस भाषा का प्रचुर प्रयोग हुआ है। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि ब्रजभाषा के साहित्यिक महत्व की वास्तविक प्रतिष्ठा सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे ही हुई, 'संवत् १५५६ वैशाख सुदी ३ आदित्यवार को गोवर्धन मे श्रीनाथजी के विशाल मंदिर की नींव रखी हुई थी। वही तिथि साहित्यिक ब्रजभाषा के शिलान्यास की तिथि भी मानी जा सकती है। [ब्रजभाषा का व्याकरण] इसमें संदेह नहीं कि बल्लभाचार्य तथा उनके पुत्र एवं शिष्य-परंपरा ने ब्रजभाषा के प्रचार एवं समृद्धि मे सबसे अधिक योग दिया और उनके प्रयत्न के फल-स्वरूप ब्रजभाषा-साहित्य का निरंतर क्रमबद्ध विकास हुआ; परन्तु उनके द्वारा शिलान्यास की बात अधिक मान्य नहीं है। शास्त्रज्ञ कवियों ने समय के साथ प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से उसकी उत्तराधिकारिणी ब्रजभाषा को क्रमानुसार स्वत: ही—वल्लभ और उनकी शिष्य-परम्परा के प्रभाव से अछूते रह कर भी—साहित्यिक माध्यम के रूप में ग्रहण कर लिया था। संवत् १५९८ में लिखी हुई कृपाराम की 'हित-तरंगिणी' इसका प्रमाण

है। उसकी भाषा स्वच्छ साहित्यिक ब्रजभाषा है। वास्तव में उसकी अतिशय स्वच्छता देखकर ही कुछ विद्वान् उसे अप्रामाणिक मानने लगे हैं। सम्भव है डा० साहब का भी यही मत हो; परन्तु उसकी रचना-तिथि इतने असंदिग्ध रूप में दी हुई है कि उस पर संदेह करना, जब तक कि कोई विरोधी प्रमाण न मिल जाए, सरल नहीं है। यह कवि—शास्त्रज्ञ कवियो की परम्परा मे होने के कारण, भक्ति-कविता के प्रभाव से सर्वथा दूर था, यह तो निर्विवाद ही है, साथ ही उसकी भाषा से स्पष्ट है कि वह इस परम्परा का पहला कवि भी नहीं था। उससे पहले कुछ अन्य कवियों ने भी ब्रजभाषा का प्रयोग किया होगा।

किसी भाषा की प्रकृति का निर्णय करने का वास्तविक साधन उसका शब्द-समूह न होकर व्याकरण ही होता है। शब्द-समूह में प्राय: निरंतर परिवर्तन होता रहता है; क्योंकि किसी भी जीवित भाषा का कार्य बिना उचित आदान-प्रदान के चल नहीं सकता। इसके विपरीत व्याकरण के रूप अपेक्षाकृत स्थिर रहते हैं, उनमें परिवर्तन होता तो है, परन्तु बहुत ही धीरे-धीरे। अतएव किसी भाषा का स्वरूप स्थिर करने के लिए उसका व्याकरण ही अधिक विश्वसनीय साधन है। ब्रजभाषा के विशेषज्ञों ने भाषा-विज्ञान एवं साहित्यिक दृष्टि से उसका सम्यक् अध्ययन करने के उपरान्त निम्नलिखित विशेषताएँ निर्धारित की हैं :—

उच्चारण:—अवधी में जहाँ इ और उ के उपरान्त अ की स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है, वहाँ ब्रजभाषा में खडी बोली की तरह इ और अ का य तथा उ और अ का व हो जाता है—प्यार, क्वांर। इसी तरह इ और उ की अपेक्षा ब्रजभाषा में य और व का प्रचार अधिक है। अवधी के ह को भी ब्रजभाषा-भाषी य करके बोलते हैं :—मॉय (माँहि)।

संज्ञाएं और विशेषण:—ब्रजभाषा की पुंल्लिङ्ग संज्ञाएं तथा विशेषण प्राय: ओकारांत होते हैं। इसके विपरीत खड़ीबोली मे उनके रूप आकारांत और अवधी मे अकारांत पाये जाते हैं—पुँ० संज्ञा : घोडो (ब्रज), घोडा (खडी) और घोड़ (अवधी); विशेषण : भलो (ब्रज), भला (खडी) और भल (अवधी)। इस प्रकार पश्चिमी भाषाओं की प्रवृत्ति दीर्घान्त है, और अवधी की लघ्वन्त। विभक्ति लगने से पूर्व ब्रजभाषा में इनके विकृत रूप बहुवचन में न प्रत्यय लग जाता है—घोडन कूं (कों)।

(२) विभक्ति:—कर्ता— ने (इसका प्रयोग भूतकालिक सकर्मक क्रिया के साथ ही होता है)

कर्म*— कों, कौं; को, कौं; कूं, कुं;

करण— सों, सौं, से; ते, तैं। (कर्मवाच्य और भाववाच्य में पै और पर भी होता है)

सम्प्रदान— को, कों; कौ, कौं; कूं, कुं।

अपादान— सो, सौं, से; सूं, सुं; ते, तैं।

सम्बन्ध— को, कौं; के, कें; कै, कैं; की (स्त्रीलिंग)

अधिकरण—मे, मैं; माँहि मॉय, मँह, मांझ [ये सब मध्य से बने हैं, इसलिए यहाँ अवधी की हि का भ्रम नहीं होना चाहिए।]; पै, पर।

सर्वनाम—

उत्तम पुरुष :—साधारण रूप :—(एकवचन) मै, हौं (प्रांत-भेद से हों और हूँ भी); (बहुवचन) हम।

विकृत रूप :— (एकवचन) मो, (बहुवचन) हम।

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता—	मै, हौं, (प्रांत-भेद से हों और हुं भी)	हम
कर्म-सम्प्रदान—	मोको, मोकूं, मोहि आदि।	हमको, हमकूं, हमहिं, हमै।
करण-अपादान—	मोसों, मोसे, मोतैं।	हमसो, हमसैं, हमतैं।
सम्बन्ध—	मेरौ, मेरो, मेरे, मेरी।	हमारौ, हमारो, हमारे, हमारी।
अधिकरण—	मोमे, मोपै इत्यादि।	हममे, हम पै इत्यादि।

मध्यम पुरुष :—साधारण रूप :—एकवचन—तू, तैं।
बहुवचन—तुम।

विकृत रूप :—एकवचन—तो,
बहुवचन—तुम।

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता—	तू, तैं।	तुम।
कर्म-सम्प्रदान—	तोकों, तोकूं, तोहि आदि	तुमको, तुमकूं, तुमहिं, तुम्हें।
करण-अपादान—	तोसों, तोसैं, तोतैं।	तुमसों, तुमसैं, तुमतें।

---

*[मथुरा और उसके आस-पास के गांवों मे, इधर अलीगढ़ तक कूं ही बोला जाता है। को या कौ पूर्व के सोरो आदि ब्रजभाषी प्रांतो में अब भी ज्यों का त्यों नित्यप्रति की बोलचाल मे आता है। साहित्यिक भाषा में को और कों का ही अधिक प्रयोग है।]

सम्बन्ध—	तेरौ, तेरो, तेरे, तेरी।	तुम्हारौ, तुम्हारे आदि; और तिहारौ, तिहारे आदि।
अधिकरण—	तोमें, तोपै इत्यादि।	तुममैं, तुमपै।

अन्य पुरुष :—साधारण रूप :—एकवचन—वह।

बहुवन—वे।

विकृत रूप :—एकवचन—वा।

बहुवचन उन।

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता—	वह, वो, वु आदि।	वे,
कर्म-सम्प्रदान—	वाको, वाकूं, वाहि।	उनको, उनकूं, उनहि, उन्हें।
करण-अपादान—	वासों, वासैं, वातैं।	उनसों, उनसैं, उनतैं।
सम्बन्ध—	वाकौ, वाको, वाके, वाकी।	उनकौ, उनको, उनके, उनकी।
अधिकरण—	वामें, वापै, आदि।	उनमें, उनपै, आदि।

संकेतवाचक, सम्बन्धवाचक, प्रश्नवाचक, नित्यसम्बन्धी सर्वनामों के रूप प्रायः अन्यपुरुष के ही अनुसार चलते हैं।

क्रिया

मूल रूप :—क्रिया का मूल रूप जिसे भाववाचक अथवा क्रियावाचक संज्ञा भी कहते हैं, नो अथवा (इ) बो लग कर बनता है। जैसे चलनो या चलिबो।

वर्तमान काल

व्रजभाषा में अवधी की भांति वर्तमान काल मे क्रिया का रूप प्रायः त लग कर बनता है। खड़ीबोली मे जहाँ यह दीर्घांत होता है, व्रज मे अवधी की तरह वहाँ यह लघ्वन्त होता है। उदाहरण—खड़ीबोली मे 'चलता (है)', व्रजभाषा में 'चलत (है)'। स्त्रीलिंग में प्रायः इ और कभी-कभी ई और लग जाती है। जैसे—चलति (है), अथवा चलती (है)। इनके अतिरिक्त वर्तमानकालिक क्रिया के रूप कभी-कभी दूसरे प्रकार से भी चलते हैं—चलै (हैं), चलौं (हौं), चलौ (हौ) आदि। स्त्रीलिंग और पुँलिंग में यहाँ भेद नहीं होता।

सहायक क्रिया के रूप :—

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष—	हौं, हूँ।	हैं।
मध्यम पुरुष—	है।	हौ।
अन्य पुरुष—	है।	हैं।

भूतकाल

भूतकाल में क्रिया का साधारण रूप 'ओ अथवा औ' कहीं-कहीं 'यो अथवा यौ' लगकर बनता है, यही भूतकालिक कृदंत का भी रूप है। य लगाकर बने हुए भूतकाल के रूपों में खड़ीबोली और ब्रजभाषा में विशेष अंतर नहीं है।

सहायक क्रिया के रूप :—

	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	हो, हुतो, हतो।	हे, हुते, हते।
म० पु०	हो।	हे, ,, ,, ।
अ० पु०	हो।	हे, ,, ,, ।

स्त्रीलिंग—(एकवचन) ही, हुती, हती; (बहुवचन) हीं, हुतीं, हतीं।

भविष्यत् काल

भविष्यत् काल में क्रिया का साधारण रूप प्रायः ग लगकर बनता है—'चलैगो'; परन्तु 'इह' लग कर भी बने हुए रूप कम नहीं मिलते 'चलिहैं'।

सहायक रूपः—

	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	उंगो, औंगो; इहौं।	एंगे, यंगे. इहैं।
म० पु०	ऐगो, यगो, इगो, इहै।	औंगे, एगे, हुगे, इहौ।
अ० पु०	ऐगो, ,, ,, ,, ।	यंगे, एंगे, हिंगे, इहैं।

आज्ञा, संभावना, प्रार्थना आदि :—

		एकवचन	बहुवचन।
आज्ञा :—	उ० पु०	उं, ऊं।	यँ, एं।
	म० पु०	(अ), उ, हु।	ओ, उ, हु।
	अ० पु०	ए, ऐ, य, इ।	यँ, एं।

	एकवचन	बहुवचन
प्रार्थना :—	इयो, ईजियो।	इये ईजिये. ईजै।

सम्भावना :—	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	तो।	ते।
म० पु०	तो।	ते।
अ० पु०	तो।	ते।

कृदन्त

वर्तमान कालिक :—पुँल्लिंग—त, अत अतु, (प्रायः एकवचन में)

स्त्रीलिंग—ति, अति, अती।

	एकवचन	बहुवचन
भूतकालिक—पुँल्लिंग—	ओ, औ; यो, यौ;	ए, ये;
स्त्रीलिंग—	ई, यी।	ईं यीं।

पूर्वकालिक—१. पुँल्लिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों में 'इ' प्रत्यय लगता है, तथा 'इ' का कभी कभी 'य' भी हो जाता है।

२. कभी कभी पूर्वकालिक कृदंत अपनी पूर्ति के लिये के, कै आदि की अपेक्षा करते हैं।

व्यापकता :—ब्रजभाषा अपने समय में अत्यन्त व्यापक भाषा रही है। उसका क्षेत्र ब्रज के चौरासी कोस तक तो कहने भर को ही था। उसका प्रसार इतना व्यापक था कि आसपास की अनेक प्रांतीय बोलियों का अस्तित्व उसमें लोप हो गया था। उत्तर-पूर्व मे कनौजी, दक्षिण में बुंदेलखण्डी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व न रख पाईं, और लगभग ब्रजभाषा के रूपांतर-मात्र बन गईं। कनौजी और बुंदेलखण्डी दोनों में भूतकाल में यो के स्थान पर ओ (गओ, दओ) का प्रयोग होता था और अब भी होता है। बुंदेलखण्डी में कुछ सर्वनामों में अनुस्वार लग जाता है। ड़ के स्थान पर सदैव र का प्रयोग होता है। ब्रजभाषा ने इन सभी विशेषताओं को इतने सहज-रूप मे ग्रहण कर लिया कि इनका स्वतन्त्र रूप ही नहीं रह गया। वास्तव में पूरी तीन शताब्दियों तक उत्तर-भारत की साहित्यिक भाषा रहने के कारण ब्रजभाषा का स्वरूप इतना व्यापक हो गया था कि ब्रज की बोली उसको समा नहीं सकती थी—यह ब्रजभाषा वास्तव में एक साहित्यिक भाषा ही थी, बोलचाल की भाषा नहीं थी। ब्रज की बोली इसका मूल आधार अवश्य थी, परन्तु अनेक वाह्य प्रभाव पडने के कारण वह काफी लचीली और व्यापक हो गई थी। उसका शब्द-भण्डार तो अनेक भाषाओं के शब्दों से समृद्ध हो ही गया था, उसका व्याकरण भी इतना व्यापक हो गया था कि आसपास की बोलियों के अतिरिक्त अवधी के रूपों को भी उसने स्वच्छन्दता से ग्रहण कर लिया था। किसी समृद्ध साहित्यिक भाषा को उसके मूल बोलचाल के रूप मे सीमित नही किया जा सकता। साहित्यिक अभिरुचि और परिष्कृति उसमे अनेक परिवर्तन और परिशोधन कर उसके स्वरूप को ही प्रायः बदल देती है। ब्रजभाषा के साथ ठीक यही हुआ। सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों मे गोरखपुर बनारस से लेकर उदयपुर तक और कमायूं गढ़वाल से रीवां, छत्तीसगढ़ी आदि तक में बसने वाले कवि जिनकी मातृभाषायें भिन्न-भिन्न थीं, ब्रजभाषा मे काव्य-रचना करते थे। अतएव इन प्रांतों की बोलियों का प्रभाव उस पर पड़ना स्वाभाविक था। उदाहरण के लिये पूर्वी-पश्चिमी अवधी के 'हि' में समाप्त होने वाला रूप, 'वौ' मे समाप्त होने वाले रूप, अनेक लघ्वंत रूप; और राजस्थानी के म्हारों, थारो आदि सर्वनाम, यहाँ तक

कि संज्ञाओं के कुछ 'आंकारांत' (घोड़ां) विकृत रूप ब्रजभाषा में स्वच्छन्दता से प्रयुक्त होते थे। इनके अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण प्रभाव था—काव्य तथा छन्द का आग्रह। व्रजभाषा का प्रायः समस्त साहित्य छन्दोबद्ध है। छन्द के बन्द, लय और तुक की अपनी विशेष आवश्यकतायें होती हैं, उधर काव्य के माधुर्य, ओज आदि गुणों की अपनी माँगें होती हैं, जिनके कारण काव्य-भाषा की शब्दावली और पद-योजना में अनिवार्यतः एक विशिष्टता आ जाती है। जिन भाषाओं में गद्य का साहित्य भी समानान्तर चलता रहता है, उनके कवियों पर तो व्याकरण का अनुशासन अधिक रहता है क्योंकि गद्य में व्याकरण के नियमों का पालन सहज सुगम होता है, परन्तु जिनमें गद्य का अभाव होता है, उनके कवियों को अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्दता रहती है। व्रजभाषा के साथ यही हुआ है। इसीलिये उसमें अत्यधिक व्यापकता तथा वैकल्पिक रूपों की भरमार मिलती है, और इसीलिये शास्त्र-निष्ठ आलोचकों को उससे नियंत्रण के अभाव की शिकायत है।

सौष्ठव :—व्रजभाषा का सौष्ठव लोक-विश्रुत है। उसकी स्तुति में न जाने कितने छन्द और कितने आख्यान प्रचलित हैं। इस भाषा का सर्व-प्रधान गुण है माधुर्य्य, जो इसका सहज गुण है। भाषा का माधुर्य यों तो उसके प्रयोग पर बहुत कुछ निर्भर होता, परन्तु फिर भी किसी भाषा में वह सहज गुण के रूप में भी वर्तमान रहता है। यह सहज गुण उसकी जन्मदात्री भाषा और बोलने वालों की प्रकृति तथा चरित्र पर आश्रित रहता है। व्रजभाषा का जन्म शौरसेनी प्राकृत से हुआ है, और प्राकृतों में शौरसेनी का माधुर्य अप्रतिम था। इसके अतिरिक्त व्रजभाषा जिस जन-पद की भाषा है वह वैभव और संस्कृति का केन्द्र रहा है। विचार और भाव की समृद्धि एवं परिष्कार से भाषा की समृद्धि और परिष्कार आप से आप हो जाता है। बाद में कृष्ण-भक्ति की रस-धारा भी शताब्दियों तक यहीं बही जिसके कारण मन की आर्द्र-कोमल और मधुर वृत्तियों का इस भाषा से सहज ग्रन्थि-बन्धन हो गया और फलस्वरूप इसमें भी आर्द्रता, कोमलता तथा माधुर्य आदि गुण सहज-रूप में व्याप्त हो गये। कठोर वर्ण धीरे-धीरे घिस कर मधुर हो गये, संयुक्त वर्ण पृथक् होकर सुगम कोमल हो गये। व्रजभाषा में तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव का ही प्राचुर्य है। उच्चारण-सौकर्य आदि के आग्रह से ही तत्सम शब्द की प्रायः तद्भव में परिणति होती है, अतएव तद्भव शब्दों में एक सहज-कोमलता वर्तमान रहती है। व्रजभाषा में तद्भव शब्दों का प्राचुर्य उसकी माधुरी का एक महत्वपूर्ण कारण है।

व्रजभाषा का दूसरा काव्योचित गुण है उसका लचीलापन। यह लचीलापन शब्द तथा कारक-चिह्न आदि की विविधता का सहज परिणाम है। और भाषायें जहाँ अपनी विशिष्ट विभक्तियों से जकड़ी हुई हैं, वहाँ व्रजभाषा को अपेक्षाकृत

अधिक स्वतन्त्रता है। शब्दों के विषय में भी यही बात है। संस्कृत का एक तत्सम शब्द ब्रजभाषा में अनेक तद्भव रूप धारण कर लेता है। अकेले कृष्ण के कान्ह कान्हा, कान्हर, कन्हैया आदि अनेक रूप बन जाते हैं। इस विविधता से कवि को छन्द, गीत आदि के लिए विशेष बन्धन-बाधा नहीं रहती और भाव की अभिव्यक्ति मे सौंदर्य आ जाता है। शब्दो और कारक-चिन्हो के अतिरिक्त ब्रजभाषा के उच्चारण में भी एक विशेष मार्दव और लोच है। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने अपने व्याकरण मे ब्रजभाषा के ध्वनि-समूह का विवेचन करते हुए उसके चार विशेष मूल-स्वरो का उल्लेख किया है, जो क्रमशः ए, ओ, ऐ और औ के ह्रस्व रूप हैं। इनके द्वारा दीर्घ-स्वरो में एक प्रकार की कोमलता और लोच आ जाता है, जो संस्कृत तथा खड़ीबोली में सम्भव नहीं है।

ब्रजभाषा का तीसरा गुण है उसकी समृद्धि। समृद्धि इस भाषा को वास्तव में उत्तराधिकार मे प्राप्त हुई थी। इसके तीनो पूर्व-रूप शौरसेनी-प्राकृत, नागर-अपभ्रंश; और पिंगल उत्तर-भारत के सबसे विस्तृत तथा समृद्ध एवं संस्कृत-भू-भाग का साहित्यिक माध्यम रह चुके थे। अतएव स्वभावतः ही इसको एक अत्यन्त समृद्ध शब्द-कोष तथा परिष्कृत पद-योजना उत्तराधिकार मे प्राप्त हुई। इधर अपने सहज गुणो के कारण इसने भी स्वदेशी-विदेशी भिन्न-भिन्न भाषाओं से काव्योचित शब्दों को ग्रहण कर अपना समुचित विस्तार और विकास किया और संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं के अतिरिक्त अवधी, राजस्थानी तथा अन्य प्रांतीय बोलियो के व्यंजक तथा कोमल-ध्वनशील शब्दो से इसका भण्डार भर गया। उधर फ़ारसी के अनेक शब्द ब्रजभाषा के सांचो मे ढल कर सर्वथा उसी के अंग बन गये। ब्रजभाषा को व्यापक बनाने का यह कार्य भक्त कवियों द्वारा संपादित हुआ। इन भक्त कवियों का विशेषकर सूर और तुलसी का सम्बन्ध एक ओर जहाँ उच्च साहित्य और शास्त्र से था, वहाँ दूसरी ओर जन-समुदाय से भी था, अतएव इनकी वाणी मे सहज ही व्यापकता आ गई जो और कवियों के लिए दुःसाध्य होती। रीति-काल के कवियों ने इसी व्यापक भाषा को ग्रहण कर उस पर खराद करना आरम्भ किया जिससे थोडी अस्वाभाविकता आ जाने पर भी भाषा मे एक नई चमक आ गई।

देव की भाषा

ब्रजभाषा के स्वरूप और सौष्ठव का सामान्य विवेचन हमें देव की भाषा के स्वरूप और सौष्ठव को समझने मे सहायक होगा। स्वरूप के अन्तर्गत हम उसके शब्दकोष, व्याकरण, पद-योजना आदि की, और सौष्ठव के अन्तर्गत उसके काव्य-गुण अर्थात् व्यन्जना-शक्ति, प्रयोग-कौशल, अलंकरण आदि की परीक्षा करेंगे। देव की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। उनको जो भाषा मिली

थी वह अत्यन्त समृद्ध थी। सूर ने उसकी निखिल शक्तियों का विकास कर उसको अत्यन्त व्यापक बना दिया था। हितहरिवंश और नन्ददास ने उसकी पद-योजना को संस्कृत की शब्द-मणियों से जड़ दिया था, बिहारी ने उसके समास-गुण को पूर्ण विकास पर पहुंचा दिया था और मतिराम ने उसको सर्वथा स्वच्छ और परिष्कृत कर दिया था। देव ने अपने उत्तराधिकार का पूर्णतया सदुपयोग करते हुए उसको और भी समृद्ध किया। देव ब्रजभाषा के प्रमुख आचार्यों में से हैं। उनके काव्य में ब्रजभाषा पूर्ण समृद्ध रूप मिलता है।

स्वरूप :—हम कह चुके हैं कि साहित्यिक ब्रजभाषा का शब्द-कोष अत्यंत व्यापक था, उसमें ब्रज में प्रचलित तद्भव और देशज शब्दों के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फ़ारसी, तथा उत्तर भारत की अन्य बोलियों के शब्दों का स्वच्छन्दता से प्रयोग होता था। देव का भी शब्द-कोष अत्यन्त भरा पूरा है। संस्कृत के गंभीर पण्डित होने के कारण तथा उसके रीति-ग्रन्थों से सीधे प्रभावित होने के कारण उनकी भाषा में संस्कृत शब्द प्रचुर-मात्रा में मिलते हैं। संस्कृत के तत्सम शब्द ब्रजभाषा की प्रकृति के अधिक अनुकूल नहीं पड़ते, अतः प्रायः कवि-गण उन्हें तद्भव रूप देकर ही ग्रहण करते हैं। केशव ने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया और उनके ग्रन्थों में हमें संस्कृत के तत्सम शब्द ज्यों के त्यों बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं। तुलसीदास ने भी विनय-पत्रिका में ऐसा ही किया है। देव का मार्ग मध्यवर्ती है, उन्होंने तत्सम शब्दों का प्रयोग मतिराम, पद्माकर आदि अन्य रीति-कवियों की अपेक्षा अधिक किया है, परन्तु उनका उद्देश्य पाण्डित्य या चमत्कार प्रदर्शन नहीं है। उन्होंने भाषा की श्रीवृद्धि करने के लिये ही प्रायः तत्सम शब्दों का ग्रहण किया है। यद्यपि अनेक स्थानों पर यमक और अनुप्रास का आग्रह भी इसका कारण है, यह भी मानना ही पड़ेगा। एक उदाहरण लीजिये—

> आस-पास पूरन प्रकास के पगार सूझैं,
> बनन अगार डीठ गली ह्वै निबरते।
> पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूड़ी,
> विधु बरह्मण्ड उतरात विधि बर ते।
> सारद जुन्हाई जह-जाई धार सहस,
> सुधाई सुधा-सिन्धु नभ सेत गिरि वर ते।
> उमडो परत जोति-मण्डल अखण्ड सुधा,
> मण्डल मही में इंदु-मण्डल बिबर ते।

उपर्युक्त छंद में रेखांकित शब्द सभी लगभग अपने तत्सम रूप में वर्तमान हैं। परन्तु आप देखें कि इन शब्दों का प्रयोग चांदनी के रजत-प्रवाह के विस्तार और

गम्भीरता का ध्वनन करने के लिये ही किया गया है। साथ ही प्रत्येक शब्द को व्रजभाषा के अनुकूल ढाल लिया गया है। 'व' व्रजभाषा की प्रकृति के अनुसार सर्वत्र 'ब' हो गया है, सहस्र का संयुक्त 'स्र' स रह गया है। निवृत्त की क्रिया निवरते बन गई है। सभी शब्द प्रचलित हैं। केवल 'निवरते' प्रचलित रूप से थोड़ा भिन्न हो जाता है।

खंजन मीन मृगीन की छीनी दृगंचल चंचलता निमिषा की।
देव मयंक के अंक की पंक निसंक लै कज्जल लीक लिखा की।
कान्ह, बसी अँखियान विषे विसफूरति बीस बिसें बिसिखा की।
दीपति मैन-महीप लिखाई समीप ।रखा गहि दीप-सिखा की।

यहाँ भी संस्कृत तत्सम शब्दों का प्राचुर्य्य है--विस्फूर्ति, दीप्ति, विशिख आदि शब्द शुद्ध तत्सम रूप में होकर भी व्रजभाषा का सहज अंग बनकर प्रयुक्त हुए हैं। संस्कृत के कठिन तत्सम शब्द जिनके लिए हिन्दी के साधारण पाठक को कोष की शरण लेनी पड़े, देव में हैं तो अवश्य परन्तु उनका अनुपात अधिक नहीं है :—उदाहरण के लिए चामीकर, वृंदारक, रथाङ्ग, पुलोमजा, सरीसृप, आसीविष, नीरज (चन्द्रमा), कैतव, दुरोदर, शंबरारि, हसंता, छंद (मनोरंजन के अर्थ में) इभ आदि को उद्धृत किया जा सकता है। ऐसे तत्सम शब्द जो भाषा की प्रकृति के प्रतिकूल पड़ते हों या जिनसे भाषा का मार्दव नष्ट होता हो, बहुत कम हैं :—

—भूषण भाषण भेष विशेष सुभोजन पान सुगन्धनि की निधि।
(अथवा) - देव कन्दर्प के दर्पण द्वै कि सतापम तर्पण दर्प दुधा के।

इसी प्रकार प्रेम-चन्द्रिका में 'दुरतिक्रम', 'अनध्याम' आदि का प्रयोग भी हुआ है। इनके अतिरिक्त दो एक छंदों में विनय-पत्रिका की संस्कृत-बहुला भाषा को भी प्रयुक्त किया गया है ; जैसे :—

जय-जय भगवंत रूपी महारत्न,
भारायमान क्षितीभार संभारहृत,
कमलनयन केशव स्वामि, कंसारि,
वंसावतंस, स्फुरद्रूप गोपाल भूपाल भूत ;
करुनानिलय कोटि कंदर्प दर्पापहारी,
महा सुन्दर स्याम मूर्ति छवि ब्रीडनं।
वृजिन हरन राज राजेन्द्र देवेन्द्र,
दुःखापहो मेन्द्र वृन्दावना क्रीड संक्रीडनं।
(शब्दरसायन पिंगल पृ० १९९)

परन्तु ये 'ह उदाहरण के लिए गढ़े गये हैं, अतएव इनको विशेष महत्व

नहीं दिया जा सकता। आधुनिक देश-भाषाओं का ताना-बाना प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दों से ही बना हुआ है। ब्रजभाषा के अधिकांश तद्भव शब्द प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के ही विकसित रूप हैं। पुरानी हिन्दी और पिंगल आदि की अवस्था तक तो ये शब्द बहुत कुछ अपने प्रकृत रूप में ही वर्तमान थे, परन्तु धीरे धीरे वे घिस कर चिकने हो गए। फिर भी साहित्यिक ब्रजभाषा के शब्द-कोश में प्राकृत और अपभ्रंश के अविकृत शब्द भी मिलते हैं। देव में ऐसे शब्दों की संख्या नगण्य नहीं है। लोचन के लिए लोयन, विद्युत के लिए विज्जु, मदन के लिए मयन, मद के लिए मय (मयमंत), यूथ के लिए जूह, नाथ के लिए नाह, आदि प्राकृत-अपभ्रंश शब्द उनके काव्य में स्वच्छंदता से प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु ये प्रायः हिन्दी के ही 'तद्भव' शब्द बन गए हैं। साधारणतः पाठक के ध्यान में भी नहीं आता कि ये प्राकृत-अपभ्रंश के शब्द हैं। एकाध स्थान पर प्राचीन हिन्दी के 'दीसंत' आदि का भी प्रयोग है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है ब्रजभाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का भी समावेश हो गया था। मुसलमानों से नित्य प्रति का सम्पर्क, मुसलमानी राज्य होने के कारण अनेक बार उनके यहाँ ही आश्रय-प्राप्ति, अनेक मुसलमान कवियों द्वारा ब्रजभाषा में काव्य-रचना, मुसलमानी संस्कृति का प्रभाव, आदि, ऐसे महत्त्वपूर्ण कारण थे जिनसे उस युग की कोई भी व्यापक-भाषा अरबी-फ़ारसी के शब्दों से बच नहीं पाई। रीतिकाल में भूषण और बिहारी की कविता में इन शब्दों का अत्यधिक प्रयोग है। पहले के काव्य का प्रतिनायक मुसलमान था, और दूसरे का आश्रय-दाता (मुसलमान शासन का एक विशिष्ट पदाधिकारी होने के कारण) मुसलमानी संस्कृति के रंग में क़ाफी रंगा हुआ था। देव में अरबी-फ़ारसी के शब्द उपर्युक्त दोनों कवियों की अपेक्षा तो बहुत ही कम हैं, साधारण अनुपात से भी उनकी संख्या थोड़ी ही है। गुलाब, कमान, महल, मखमल, कैंची, कलेजा, जहाज़ आदि शब्द तो हिन्दी में ऐसे मिल गए हैं कि इनको पृथक् करना भी सरल नहीं है, इनके अतिरिक्त और जो शब्द देव के काव्य में प्रयुक्त हुए हैं वे भी उस समय आमफ़हम ही थे—जैसे रुख़, बर्फ़, किर्च, सही, ज़ोर, शर्बत, ग़रीब आदि। इस प्रकार वास्तव में मखतूल, फ़र्शबंद, खवासी, कज्ज़ाक (कजाक), फ़ारगत (फारखती), शरीक जैसे विदेशी लगने वाले शब्द देव में कुछ एक ही रह जाते हैं। इनमें पहले चार तो एक प्रकार से पारिभाषिक-से हैं क्योंकि उनसे वस्तु या व्यक्ति-विशेष का बोध होता है, 'शरीक' भी पहले सरीक और फिर इनी प्रत्यय लगने से स्त्रीलिंग में सरीकिनी बनकर ब्रजभाषा में ही बिलकुल घुल-मिल गया है। फ़ारगत शब्द यद्यपि शुद्ध विदेशी है, परन्तु यह ब्रज के गाँवों में फारखती के रूप में आज भी काफी प्रचलित है। एकाध स्थलों पर जहाँ विषय इस प्रकार का है, वहाँ ज़रूर अरबी-फ़ारसी का पुट गहरा

हो गया है—उदाहरण के लिए सुखसागर-तरंग का समर्पण-छन्द लिया जा सकता है जो पिहानी के मुसलमान अधिपति अकबर अली ख़ाँ की प्रशस्ति में लिखा गया है :—

ऐसो कौन आज जाकी सोहत समाज जहाँ,
सब को सुकाज साहिबी को सुख साज है।
देव गुणमंत संत सामंत समाज, राज-
काज को जहाज दिल दरिया-दराज है।
जापै इतराज ता गनीम सिर गाज बग-
बैरिन पै बाज सैद बंश सिरताज है।
सानी सुरराज जो पिहानी-पुर राज करै,
मही मैं जहाज महमदी महाराज है।

पर यह वास्तव में देव की भाषा का सहज रूप नहीं है। मुसलमान आश्रयदाता की प्रशस्ति को उसकी संस्कृति के अनुकूल बनाने के लिए ही कवि ने सप्रयास ऐसा किया है।

अन्य प्रांतीय बोलियों के शब्द तो ब्रजभाषा में इतने घुल-मिल गए थे कि आज उनको पृथक् करके देखना भी सर्वथा सम्भव नही होता। उसमे बुंदेलखंडी, कन्नौजी के अतिरिक्त, अवधी और राजस्थानी आदि के शब्दो का अनुपात, किसी प्रांत-विशेष में कवि के वास पर प्रायः निर्भर रहता था। देव अपने जीवन मे इटावा, भरतपुर, दिल्ली आदि प्रान्तों में ही रहे थे। बाद मे शायद कुछ दिन के लिए अवध मे पिहानी जाकर रहे हों, अतएव स्वभावतः ही उनकी भाषा में ब्रज से भिन्न बोलियों के शब्द बहुत कम हैं। जो हैं वे प्रायः पूर्व-कवियो द्वारा स्वीकृत साहित्यिक शब्द ही हैं दूसरी बोलियों के देशज शब्द अधिक नही है। यों तो देव की कविता मे अनेक शब्द नये से मालूम पडते हैं, परन्तु वे वास्तव मे किसी दूसरी भाषा के नही हैं। केवल तोड़-मरोड़ के कारण ही विलक्षण प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए 'लपना', 'सौरंई' और 'रिख्यो' को लीजिए। ब्रजभाषा-भाषी इन पर थोडा चौंक सकता है। पर वे बाहर के शब्द नहीं हैं—लपना जल्पना से निकला है, सौरंई श्यामलता की विकृति है, और रिख्यो रेखा से बना लिया गया है। अन्त मे कुछ शब्द ही ऐसे रह जाते हैं जो ब्रज की परिधि से थोड़े बाहर पड़ते है :—झंभा, त्रीकना आदि। झंभा बुंदेलखंड मे आजकल नागा के अर्थ में सर्वसाधारण में प्रचलित है।

देव पर शब्दों को विकृत करने का दोष लगाया जाता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल इस अपराध में भूषण के साथ ही देव की भी गणना करते हैं। वास्तव मे

इस प्रसंग में भूषण के साथ देव की तुलना तो उनके साथ बहुत बड़ा अन्याय है, परन्तु वैसे यह आरोप उचित ही है। लाला भगवानदीन ने देव के द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्दों का विश्लेषण करते हुए उनके अनौचित्य का अत्यंत प्रामाणिक विवेचन किया है। देव ने यमक, अनुप्रास अथवा तुक के लिए शब्दों की बहुत ही तोड़-मरोड़ की है। ऐसा करने में उन्होंने भाषा-विज्ञान के नियमों का उल्लंघन ही नहीं किया, कहीं कहीं तो उनका रूप ऐसा बदल दिया है कि वे सर्वथा नवीन शब्द ही प्रतीत होते हैं जिनका अर्थ लगाना असम्भव हो जाता है। इस शब्द-विकृति के मूल में प्रायः दो कारण हैं: एक तुक का आग्रह, दूसरा यमक अथवा अनुप्रास का आग्रह। तुक के आग्रह से कंदुक का कंद बन जाता है, इच्छा का ईछी, अभिलाषिणी का अभिख्या, हिरण्य का हिरन, तुला का तुलही, उल्लसित-हृदयवाली का हिये उलही, विदित का विद्योत, द्वन्द्व का दंदरा :—

१. औचक ही उचकौं कुच 'कंद' सौं।
२. भूख न भोजन की कछु 'ईछी' ॥
३. राखै मुख आभा अभिमान की 'अभिख्या' हौं।
४. तोलियत मानिक ते तुलासों 'हिरन' के।
५. कपोल ज्यों प्रेम पला 'तुलही' के।
६. मिले सुखदायक न देख्यो दुख 'दंदरा'।
७. मरदनसिंह महीप सुत देस वंस-'विद्योत'।

इसी तरह, (२) यमक अनुप्रास के आग्रह से भी पूर्णेन्दु का पुमनेन्दु — व्यामोह का व्याह, जल्पना का लपना, पाण्डुर का पण्डल, हेमंत का हेंउत बन गया है।

१. 'लपनै' कहां लौं बालपने की बिकल बातैं—
२. है उत देव बसंत सदा इत 'हेंउत' है हिय कंप महावस।

यह अन्याचार केवल संस्कृत के शब्दों के साथ ही नहीं हुआ, हिन्दी के शब्दों का भी बड़ी निर्दयता से अंग भंग किया गया है :—

गर्वीली गुननि लजीली ढीली भौंहनि कै,
ज्यों ज्यों नई जाति त्यों त्यों नये नेह 'नितई'।
बीधी बात बातनि, 'उनीधीं' गात गातनि,
'समीधी' पर्य्यङ्क में निसंक अंक 'हितई'।
अँसुवन भीजी बीजी सीजी औ पसीजी,
भीजी पी जी सौं पती-जी राग रंग रैन रितई।

नाह नाह सौंहैं के हँसौंहैं नेह सौंहैं करी,
क्यौं हू नाह सौंहैं ना हँसौंहैं नैक चितई।

इसी प्रकार—वंशी वारौ के वज़न पर धनसी वारौ, तनसी वारौ, सहचर के वज़न पर रहचर, महचर, चहचर, आदि अनेक शब्द देव ने गढ लिए हैं, उनकी संगति बैठती है या नहीं उनका कुछ अर्थ निकलता है या नहीं, इसकी कोई चिन्ता नहीं की। देव के काव्य में ऐसे शब्द भी सैकड़ों हैं जिनका कोई अर्थ ही नहीं मिलता। तीभ, धील, बावस, हुद्द, सीजी, बसीकने, गमार्‌यौ, दुहुव, तरावक, हूप आदि आदि। वैसे तो व्रजभाषा का कोई भी कवि इससे मुक्त नहीं है परन्तु देव में यह दोष इतना अधिक है कि पाठक को प्रायः अर्थ के उलझ जाने के कारण अत्यन्त क्षोभ होता है। उनके छंदों की बहुत बड़ी संख्या इस प्रकार से प्रयोगों से ग्रस्त है।

व्याकरण

व्याकरण की दृष्टि से भी देव की भाषा अत्यन्त सदोष है। उन्होंने स्थान-स्थान पर उसके नियमों का उल्लंघन किया और इसके मूल में भी वही तुक, अनुप्रास और यमक का मोह है। इसी मोह में पड़कर वे लिंग-सम्बन्धी दोष, कारक-चिह्नों तथा क्रिया रूपों की गड़बड़, वाक्य-विन्यास का शैथिल्य, आदि अनेक व्याकरण दोषों के दोषी हुए हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे व्याकरण के नियमोंसे अनभिज्ञ थे, अथवा शुद्ध भाषा लिखने में ही असमर्थ थे। जहां उन्होंने थोड़े भी संयम से काम लिया है, वहाँ उनकी भाषा बिल्कुल शुद्ध तथा व्याकरण-सम्मत भिलती है।

गौने के चार चली दुलही, गुरु लोगन भूषन भेष बनाए।
सील-सयान सखीन सिखायो, सबै सुख सासरे हू के सुनाये।
बोलियो बोल सदा हँसि कोमल, जे मन भावन के मन भाये।
यो सुनि ओछे उरोजन मैं अनुराग के अंकुर से उठि आये।

छंद की गति और लय के आग्रह तथा प्रायः अवधारण की दृष्टि से काव्य भाषा में क्रिया पहले आ जाती है और कर्त्ता, कर्म बाद में—ऐसा खड़ीबोली की कविता में—और अंगरेजी आदि में भी होता है। बस इस विपर्य्यय को छोड़कर उपर्युक्त छंद में व्याकरण के सभी नियमों का पूर्ण निर्वाह है। अन्तिम पंक्ति में तो अन्वय की भी आवश्यकता नहीं है।

राधिका कान्ह को ध्यान धरै, तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै;
त्यों अँसुआ बरसै, बरसाने को पाती लिखै, लिखि राधे को ध्यावै।
राधे ह्वै जाय घरीक मैं 'देव', सुप्रेम की पाती लै छाती लगावै;
आपने आपु ही मैं अरुझै, सुरुझै, बिरुझै, समुझै, समुझावै।

इस छंद में वाक्य सरल नहीं हैं, संयुक्त हैं, कृदन्तों का प्रयोग भी कई बार हुआ है। कृदन्त-प्रधान अंशों के प्रयोग से वाक्य रचना प्रायः जटिल हो जाती है, पर आप देखिए देव ने कितनी सफ़ाई से प्रत्येक वाक्य और वाक्यांश की स्वच्छता की रक्षा की है। लगभग संपूर्ण छंद ज्यों का त्यों गद्य में परिणत किया जा सकता है।

एक उदाहरण और लीजिए :

'कंपत हियो'; 'न हियो कंपत हमारो'; 'यों
हँसी तुम्हें अनोखी'; 'नेकु सीत मे ससन देहु';
'अंबर-हरैया, हरि, अंबर उजेरो होत',
'हेरिकै हँसै न कोई'; 'हँसै तो हँसन देहु।'

यहाँ एक ही पंक्ति में उत्तर-प्रत्युत्तर दिया गया है, शुक्लजी की शब्दावली में क्या मजाल कि जो एक भी शब्द इधर उधर हो जाये। वास्तव मे देव बड़े पण्डित और शास्त्रविद् कवि थे, परन्तु एक तो व्रजभाषा की प्रणाली ही कुछ बिगड़ी हुई थी, दूसरे देव ने झंकार, गति-लय, पद-बंध, समास-गुण, माधुर्य्य आदि भाषा के साहित्यिक गुणों पर इतना अधिक ध्यान दिया है कि उसके व्याकरण की प्रायः उपेक्षा हो गई है। पर यह दोष अपने आप में किसी प्रकार भी साधारण अथवा नगण्य नहीं है।

वचन और लिंग के दोष :—

पायनि के चित चायन को बल लीलत लोग अथायनि वैस्यो।

(१) लोग सदैव बहुवचन में प्रयुक्त होता है, यहाँ लोग के साथ 'वैस्यो' एकवचन क्रिया का प्रयोग किया गया है।

(२) कुछ शब्द ऐसे होते है जो एक से अधिक वस्तुओं का द्योतन करने के कारण, जबतक कि पार्थक्य के लिए उनमें से एक का विशेष रूप से प्रयोग न किया जाए, साधारणतः सदैव ही बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं—केश, दंत, नख, नेत्र, कुच, नितम्ब, हाथ-पैर आदि ऐसे ही शब्द हैं। 'एक आँख दुखती है—' यहां तो पार्थक्य व्यन्जक एकवचन का प्रयोग ठीक है, परन्तु साधारणतः आँख दुखने आगई है, आँखें खुल गईं', 'आंखें खिल गईं' आदि ही कहते या लिखते हैं—कुच और नितम्ब का भी बहु (द्वि) वचन में ही प्रयोग होता है। परन्तु देव ने एक वचन में ही उन्हें बाँध दिया है :

—ज्यौं पुलक्यौ जल सौं झलक्यौ उर औचक ही 'उचकौ' कुच कंद-सौं।
—देवजू बाढ़त ओप घरीं पल, त्यौंहीं नितम्ब भयौ कछु 'भारो'।

यहाँ किसी प्रकार भी पार्थक्य का निर्देश न होने से एकवचन के लिए कोई स्थान नहीं है।—'नैनन ते सुख के अँसुवा मनो भौंर सरोजन ते 'सरक्यौ' परै।' में उपमेय 'अँसुवा' बहुवचन मे होने के कारण उपमान भौंर भी बहुवचन मे ही होना चाहिए, और उसी के अनुसार क्रिया भी होनी चाहिए। परन्तु 'सरक्यौ' एकवचन है। कहीं कहीं आपने भाववाचक संज्ञा का भी बहुवचन कर डाला है—

ईंगुर सो रग एडिन बीच, भरी अँगुरी अति 'कोमलतायनि।'

इसी प्रकार लिंग-दोष भी देव मे है:

१. पेलि के पठाई, वधू सारद के 'सोम-सो'।

२. न रचा है चित और, अरचा है चितचारी 'को'।

अरचा स्त्रीलिंग है, पर 'को' पुँल्लिंग का चिह्न है।—

३. उचके कुच कंद कदंब-कली-'सी'—कुचकन्द पुँल्लिङ्ग हैं 'सी' स्त्रीलिंग है।

४. राधा मन मोहि मोहि मोहन 'भई भई।'

५. लहर लहर होत प्यारी की 'लहरिया'

लहरिया प्राय: पुँल्लिंग में ही प्रयुक्त होता है—देव ने इसका स्त्रीलिंग मे प्रयोग करते हुए उसके साथ क्रिया 'होत' को पुँल्लिंग ही रहने दिया है।

६. 'लंक' शब्द कहीं पुँल्लिग और कहीं स्त्रीलिंग मे प्रयुक्त हुआ है:

पुँल्लिग— सु भयो छवि दूबरो लंक विचारो।

वा मुख मयंक जीत्यौ लंक मृगराज हू को।

स्त्रीलिग—लंक गहि लीनी.... .....

या—लंक लचकि लचकि जात।

लंक शब्द प्राय: स्त्रीलिंग में ही प्रयुक्त होता है, अवधी मे भी इसका यही रूप है—

'बसा लंक बरनै जग झीनी।' (जायसी)

कारक-चिह्नों की गड़बड़ :—कविता की भाषा में कारक-चिह्नों का प्रयोग नियमित रूप से नहीं हो सकता—भाषा की कसावट को बनाए रखने के लिए कविजन इनको छोड़ भी देते है। व्रजभाषा के कवियों ने—विशेषकर रीतिकाल के कवियों ने—प्रायः ऐसा किया है। देव के लिए तो अश्लथ पदबंद अत्यधिक महत्त्व रखते थे, अतएव उन्होंने स्थान स्थान पर कारक-चिह्नों को उड़ा दिया है। इन सबमें कर्त्ता के चिह्न 'ने' का प्रयोग सबसे कम हुआ है। एक प्रकार से 'ने'

को उड़ा देना ब्रजभाषा का स्वभाव ही बन गया था, यहाँ तक कि वैयाकरणों ने इसे नियम के भीतर ही ले लिया है। परन्तु वास्तव में ऐसा माना नहीं जा सकता क्योंकि यह केवल छंद का आग्रह ही है। ब्रजभाषा का जो थोड़ा बहुत गद्य है, उससे ऐसा कहीं नहीं मिलेगा। भूतकालिक सकर्मक क्रिया के साथ गद्य का वाक्य बिना 'ने' के पूर्ण ही नहीं हो सकता,

'अब जो यह बात श्री गुसाँई जी ने कही।'

परन्तु कविता में 'ने'–रहित प्रयोग कहीं मिल जायेंगे। यही अधिकरण की विभक्तियों के लिए भी कहा जा सकता है। देव ने भी स्थान स्थान पर विभक्तियों को छोड़ दिया है :—

१. जब ते जदुराय दई दुहि गाय

२. उनहूँ अपनो पहिराय हरा मुसकाय कै गांय कै गाय दुही।

३. राधिका प्यारी हमारी सों तू कहि कालिह की बेन बजाई मैं कैसी।

निम्नलिखित पद मे कई कारको की विभक्तियाँ नदारद हैं :

भाँवरि होत निछावरि ह्वै गुन दामरि मेलि गरे गहरान्यो।
चित्त चुम्यो मद ओठनि को हिय नेह नयो हरि के ढहरान्यो।
देव दुहूं रस लोभ बढ्यो, भयो लाज के छोभ कछू हहरान्यो।
दूलह प्रेम–पियूष पियो, सुर-रुख ज्यों ऊलहि के लहरान्यो।

'चित्त चुम्यो' और 'हिय''''ढरि' में अधिकरण का चिन्ह 'में' नहीं दिया गया; 'दुहूँ रस लोभ बढ्यो' में सम्बन्ध या कर्म का चिन्ह 'को' और दूलह प्रेम-पियूष पियो' में कर्त्ता का चिन्ह 'ने' उड़ा दिया गया है।

यहाँ तक तो कोई विशेष हानि नहीं है, परन्तु इसके आगे जब कारक चिह्नों की गड़बड़ होने लगती है—तो वह क्षमा नहीं की जा सकती :

देव अहो बलि हौं बलिहारी, तिहारी सी प्रीति निहारी न 'मेरे'।

यहाँ कर्त्ता की विभक्ति होनी चाहिए, परन्तु देव ने सम्बन्ध की विभक्ति लगा दी है।

—"कल हंस कलोलत हैं कल 'सों'।" यहाँ 'सों' निरर्थक है।

—"खुले भुजमूल प्रतिकूल विधि बंक 'मैं'।" यहां 'सों' (करण) के स्थान पर 'मैं' (अधिकरण) का भ्रान्त प्रयोग कर दिया गया है क्योंकि द्वारा के अर्थ में 'सों' ही आता है 'मैं' नहीं, 'बंक (उलटी) विधि सों (द्वारा)' ही शुद्ध न कि 'बंक विधि मैं।'

कारक-चिह्नों के वैकल्पिक रूप :—देव के प्रस्तुत मुद्रित और हस्त-लिखित ग्रन्थों में कारक-चिह्नों के प्रायः सभी वैकल्पिक रूप मिलते हैं। कर्म कारक के को, कौ, कों और कहीं कहीं कौं भी, करण और अपादान के सों, से, तैं, ते; अधिकरण के मैं, में, मांहि, माँझ, मध्य, मधि, तथा पै, पर, पांहि—सभी को यथा-सुविधा प्रयुक्त किया गया है। जहाँ तक कर्म कारक की विभक्तियों में ओ, और 'ओं' तथा 'औं' की ध्वनियों का सम्बन्ध है, यह निर्णय करना कठिन है कि देव ने मूल रूप मे इनमें से कौनसी ध्वनि को स्वीकृत किया था क्योंकि उनकी कोई प्रामाणिक मूल-लिपि प्रस्तुत नही है। पं० मातादीन और चातक जी के पास सुरक्षित कुछ खण्डित पृष्ठ हैं जो देव की अपनी हस्त लिपि कहे जाते है; उनमे 'ओ' ध्वनि अर्थात् 'को' का ही प्रयोग अधिक है—यद्यपि 'कौ' का भी सर्वथा अभाव नही है। जिस एक छंद का चित्र हमने दिया है उसमें तीन बार 'को' और एक बार 'कौ' आया है। इसको प्रमाण न भी माना जाए तब भी यह तो सत्य ही है कि मथुरा और मथुरा के आस पास, इधर पश्चिम मे अलीगढ़, और बुलंद-शहर तक 'ओ' ध्वनि का प्रचार अधिक है, और जितना आगरे से आगे इटावा मैनपुरी की ओर जाइए उतना ही 'ओ' के प्रति आग्रह अधिक मिलेगा; उधर 'ओं' और 'औ' का प्रचलन एटा, बदायूं आदि प्रांतो मे है। ऐसी परिस्थिति में देव के लिए कर्म-चिह्न में 'ओ' की ध्वनि ही अधिक सम्भाव्य मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त जैसा कि एक व्याकरणकार ने लिखा है 'औ' की अपेक्षा 'ओ' की ध्वनि अधिक कोमल होने के कारण साहित्यिक ब्रजभाषा में 'को' ही अधिक ग्राह्य रहा है। रत्नाकर जी का मत पं० कृष्ण बिहारी मिश्र आदि अनेक अधिकारी पण्डितों को आज मान्य नहीं है।

क्रिया-रूप :—काव्य-भाषा में समास-गुण के आग्रह के कारण कारक चिह्नों की भांति क्रिया रूपों का भी प्रयोग थोड़ी किफायत से किया जाता है। वास्तव में कविता की भाषा में संयुक्त क्रियाएं ही ठीक बैठती हैं। वर्तमानकाल की सहायक क्रिया 'है' जिसका गद्य मे बाहुल्य मिलता है, काव्य में प्रायः उड़ा दी जाती है। खड़ी बोली का परिमार्जन करते हुए, कवि पंत के सामने भी यह समस्या आई थी, और उन्होने काव्य भाषा में संयुक्त क्रियाओ की उपादेयता पर बल देते हुए इस दो सींगों वाले कनक-मृग 'है' को कविता की पञ्चवटी से पूर्णतः बहिष्कृत करने का अनुरोध किया था। खड़ी बोली तो अपनी स्वाभाविक सीमाओ के कारण इस प्रयत्न में सफल न हो सकी, परन्तु संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग ब्रज-भाषा का तो एक सहज गुण रहा है। वर्तमानकाल के अनिश्चित और अपूर्ण रूपों में 'है' के प्रयोग का विधान तो है, परन्तु काव्य में प्रायः उसको त्याग ही दिया जाता है। इसके अतिरिक्त वर्तमानकाल के वैकल्पिक क्रिया-रूपो में तो 'है' क्रिया

मे ही संयुक्त हो जाता है—'है' का 'हि' और 'हि' का ए बनकर क्रिया के धातु रूप में लग जाने से ही वर्तमान कालिक क्रिया के आवै, गावै आदि वैकल्पिक रूप बनते हैं। वर्तमान-कालिक कृदंत मे भी जहां खडी बोली में 'कर' को पृथक् रूप से जोड़ना पड़ता है, वहां ब्रजभाषा मे प्रायः क्रिया में ही 'इ' या 'य' प्रत्यय लगा देने से कृदंत रूप बन जाते हैं। शताब्दियों तक काव्य का माध्यम रहने के कारण ब्रजभाषा मे खडी बोली की अपेक्षा ये विशेषताएं आप से आप आगई हैं। देव ने इन सभी का वाञ्छित उपयोग करते हुए अपनी भाषा की समास-शक्ति का विकास किया है। 'है' का प्रयोग पृथक् रूप मे उनकी कविता मे बहुत ही कम मिलता है :

> वैरागिनि की धौं अनुरागिनि सुहागिनि तू,
> देव बड़भागिनि लजाति औ लरति क्यों ?
> सोवति, जगति, अरसाति, हरखाति,
> अनखाति, बिलखाति, दुख-मानति डरनि क्यों ?
> चौंकति चकत्ति उचकति और बकति,
> विथकति औ थकति ध्यान धीरज धरति क्यों ?
> मोहति,मुरति, सतराति, इतराति साह—
> चरज सराहि 'आहचरज' मरति क्यों :
> —ऊँचे धाम वाम चढि आवत उतरि जाति।
> —सूखे जल सफरी लों सेज पै फरफराति।
> —बदन लिलार बड़े वार घुमड़े परत।

यक्त क्रिया-रूपों को भी देव में बहुलता है :—

> पवन झुलावै, केकी-कीर बतरावै, 'देव'।
> कोकिल हलावै, हुलसावै करतारी दै॥

परन्तु यह सब होते हुए भी क्रिया-रूपों की गड़बड़ी देव में खूब मिलती है। एक तो क्रियाओं के रूप निश्चित नहीं है—कारक-चिह्नों की भाँति यहाँ भी प्रायः सभी वैकल्पिक-रूप मिलते हैं। —भविष्यत् कालिक क्रियाओं मे ग और ह दोनों में अन्त होने वाले रूप तो मिलते ही हैं—कहीं-कहीं बी मे अंत होने वाले रूप भी प्रयुक्त हुए हैं जो किसी प्रकार भी शुद्ध नहीं माने जा सकते हैं :

> कछु और उपाय करै जनि ही इतने दुख सों सुख सों 'भरिबी'।
> फिरि अंतक सो बिन कंत बसंत सु आवत जीवत ही 'जरिबी'।
> बन बौरत बौरी ह्वै जाउगी देव सुने धुनि कोकिल की 'डरिबी'।
> जब डोलिहैं औरै अबीर भरी सु हहा कहि बीर कहा 'करिबी'।

बी कारान्त क्रियाएं विधि लिंग में ही प्रत्युक्त होती हैं—सूर, तुलसी, मतिराम, दास, सभी ने इसका इसी रूप में प्रयोग किया है—

लखनलाल कृपाल ! निपटहि 'डारिबी' न बिसारि ।
'पालिबी' सब तापसिनि ज्यों राज धरम बिचारि ।

डा० श्याम सुन्दर दास के अनुसार यह रूप व्रज के दक्षिण से लेकर बुन्देलखंड तक प्रचलित है । एक प्रकार से आजकल इसे बुन्देलखण्डी क्रियापद ही माना जाता है । कहीं-कहीं दुहरे प्रत्यय लगा कर क्रिया का रूप विचित्र बना दिया गया है—

"माधव 'चितैहौगी' उमा-धव को ध्यान कै ।" यहां 'है' और 'गी' दोनों ही भविष्यत् वाची प्रत्यय लगा दिए गए हैं । लाला भगवानदीन ने ऐसे ही शब्दों को पकड़ कर देव को खूब झंझोड़ा है ।

'देव जू' गोहिंन लागे फिरैं, गहिके गहिरे रंग मैं 'गहिराऊ' ।
पीतपटा पहिरो है, भट्ट, उन्हें नीलपटा अपनो 'पहिराऊ' ॥
बांसुरी की बनि तानन सों, व्रज की बनिवान सबै 'बहिराऊ ।'

यहाँ एक तो गहरो से आज्ञा में 'गहराउ' बना लेना ही व्याकरण सम्मत नहीं है, फिर दीर्घांत कर देना तो सर्वथा अनियन्त्रित है । यही बात 'पहिराऊ' और 'बहिराऊ' के लिए भी कही जा सकती है । इसी प्रकार क्रियापदों में भी काल की गड़बड़ियाँ अनेक हैं । कुछ स्थानों पर एक ही वाक्य में वर्तमान और भूतकालों को भिड़ा दिया गया है :

दर्पन देखि इतै दग दै, रचि मेरे सिंगार बिगारत हैं हरि ।
× × ×
भाल मृगम्मद बिन्दु बनाय कै, इन्दु-सो मोंहि गुबिन्द गये करि ।

वाच्य-परिवर्तन में देवने भाषा का रूप काफी बिगाड़ा है ।—व्रजभाषा में 'इयत' प्रत्यय लगाकर तथा 'जानो' क्रिया के विभिन्न रूपों को जोड़कर कर्म-वाच्य और भाव-वाच्य बनाये जाते हैं । 'इयत' प्रत्यय प्रत्येक शब्द में ठीक नहीं बैठता, इसलिए जानो क्रिया के विभिन्न रूपों को जोड़ने की आवश्यकता पड़ती है । पर देव ने इसका उचित ध्यान नहीं रखा—'सुननो', 'धुननो' आदि से 'सुनियत', 'धुनियत', तो ठीक है, चढानों से 'चढ़ाइयतु' भी सहलिया जाए, परन्तु 'लपटानो' से 'लपटाइयतु' तो व्याकरण सम्मत होते हुए भी साधारणतः व्यवहारार्थ नहीं है । देखिए नीचे के छंद में 'इयत' प्रत्यय का कितना दुरुपयोग किया गया है—

मोहन की मूरति सो मोही मनमोहिनी सु,
मोहि महामोह व्योह मो हिय 'मढ़ाइयतु'।
भौंर भौंर भीतर सरोज फरकत, ऐसी,
अधखुली-अँखियान उपमा 'बढ़ाइयतु'।
आलिन की आन उर आनी, तन आनी आन,
करत न कान ही सयान ही 'पढ़ाइयतु'।
लोनौ मुखमण्डल पै पंडल प्रकास जैसे,
'देव' चन्द-मण्डल पै चन्दन 'चढ़ाइयतु'।

यहाँ मुख्य क्रिया-पद है 'चढाइयतु' जिसका अर्थ है चढ़ाया जा रहा है। यह तो ठीक है। परन्तु 'मढ़ाइयतु' का अर्थ मढ़ाया जा रहा है, लेने से पहले प्रधान वाक्य का शब्दार्थ होगा, हृदय मोह और व्यामोह से मढ़ाया जा रहा है: और 'बढाइयतु' का अर्थ 'बढ़ाया जा रहा है करने से दूसरे प्रधान वाक्य का शब्दार्थ होगा : अधखुली आँखों के लिए उपमा बढ़ाया जा रहा है (उ प्रत्यय पुल्लिंग वाची है)। भला ऐसे वाच्य प्रयोगों से कुछ तुक बैठती है ? इसके अतिरिक्त कर्तृवाच्य और कर्म-वाच्य की उलझनें तो देव की भाषा मे अनेक मिलती हैं—परन्तु यह हिन्दी का स्वाभाविक दोष है—खड़ीबोली इतने नियमन के उपरांत भी इससे मुक्त नहीं हो पाई—देव बेचारे दोषी हैं तो क्या आश्चर्य ?

अवधी और खड़ी बोली के क्रियापद और सर्वनाम :—जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, ब्रजभाषा में हिन्दी की अन्य समीपवर्ती उपभाषाओं के भी क्रियापद और सर्वनाम आदि घुल-मिल गये थे। देव में 'आहिं' आदि अवधी के क्रिया-पद मिल तो जाते हैं पर उनका 'अनुपात' बहुत ही कम है। 'दीन्ह', 'कीन्ह' आदि अवधी रूप जो बिहारी में प्रचुरता से मिलते हैं, देव में ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुसार 'दीन्ही', 'कीन्ही' बन कर ही प्रयुक्त हुए हैं। 'बकती', 'झुकजाती', 'लहराती' जैसे वर्तमान-कालिक कृदंत साधारणतः खड़ी बोली के ही हैं, परन्तु ब्रजभाषा में भी वैकल्पिक रूप में उनका प्रयोग थोड़ा बहुत होता ही था। ठेठ ब्रजभाषा लेखक रसखान में भी 'बोलती है' जैसे क्रिया-पद मिल जाते हैं। सर्वनामों में देव ने प्रचलित रीति के अनुसार सभी वैकल्पिक रूपों को ग्रहण किया है। उन्होंने उत्तम-पुरुष के मैं हौं, मोहि (मोय); मध्य पुरुष के तू, तैं, तोहि (य), तोकों, सभी का यथा-सुविधा प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त संकेत-वाचक सर्वनामों में तो जाको, जाहि (य) ताको, ताहि (य) के साथ शुद्ध अवधी-रूप जेहि, तेहि और इह भी स्थान-स्थान पर मिल जाते हैं :—

—करत समाज सुसाज सुख राजहंस 'जेहि' सेव।
—काव्य सार शब्दार्थ को, रस 'तेहि' काव्य सुसार।

वाक्य-रचना :—विश्वनाथ के अनुसार आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति से युक्त पद-समूह को वाक्य कहते है। वाक्यार्थ की पूर्ति के लिये किसी पदार्थ की जिज्ञासा बना रहना आकांक्षा है, एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध करने में बाधा न होना योग्यता है, और जिन पदार्थों का प्रकरण में सम्बन्ध है, उनके बीच में व्यवधान न होना आसक्ति है। अर्थ की उचित प्रतीति के लिए वाक्य-गत व्यवस्था सर्वथा अनिवार्य है। कविता में कवि को पदों का क्रम थोड़ा इधर-उधर करने की स्वतन्त्रता सदा से रही है। व्यवस्था का ध्यान रखने वाले कवियों ने तो इस स्वतन्त्रता का उचित उपयोग ही किया है, परन्तु अनेक कवि इसका दुरुपयोग भी खूब करते आये है। हिन्दी के प्राचीन साहित्य में तुलसी को छोड कर अन्य कवियों ने वाक्य-रचना के नियमों का ढंग से पालन नहीं किया। रीति-काल के अन्य कवियों की भांति देव का ध्यान भाषा की समृद्धि और अलंकृति की ओर ही अधिक था। अतएव उनकी भाषा में वाक्य-रचना की विशेष व्यवस्था ढूंढना व्यर्थ होगा। इस युग में आकर सवैया और कवित्त में अन्तिम चरण के बन्द का महत्व इतना अधिक हो गया था कि कवियों को प्रायः उसी पर जाकर वाक्य समाप्त करना पड़ता था, कर्त्ता और प्रधान-क्रिया अधिकतर उसी में रहती थी। स्वभावतः वाक्य का स्वरूप इस प्रकार कृत्रिम बन जाता था, और उसका क्रम उलट जाता था। देव के अनेक छन्द इसका प्रमाण हैं :—

रेसम के गुन छीनि छरा करि, छोर तें एंचि सनेह रचावै।
देव दसौ अंगुरी कर पांइ, बरै उरझाइ कै रंग मचावै।
मोहनि सी, मन पोहति सी, तन चोरति सी, छवि भौंहं चलावै।
चञ्चल नैननि सैनन सों पटवा की बहू नटवा से नचावै।

दंपति एक ही सेज परे पग पींडुरी दाबिं दुहूँ को रिझावति,
आपने ओछे उठोहैं कठोर उरोजन कों मलै एड़ी मिलावति;
भौंहैं उमेठि रहै ठकुराइनि ठाकुर के उर काम जगावति,
लौंड़ी अनोखी लड़ाइते लाल की पाँय पलोटै कि चोटैं चलावति।

यह बात नहीं है कि वे व्यवस्थित वाक्य-रचना में समर्थ ही नहीं थे। इस परिच्छेद के आरम्भ में उद्धृत छंदों की वाक्य-रचना उनकी समर्थता की साक्षी है, परन्तु वास्तव में उन्होंने इसे कभी विशेष महत्व नहीं दिया। यह बात उन पर ही नहीं हिन्दी के अधिकांश प्राचीन कवियों पर ही लागू होती है। इसी पर खीझ कर तो शुक्ल जी को कहना पड़ा कि 'वाक्य-दोष हिन्दी में भी हो सकते हैं; इस का ध्यान

तो बहुत कम लोगों को रहा।' फलस्वरूप देव की वाक्य-रचना अव्यवस्थित और उलझी हुई है, और यह त्रुटि उनमें शायद दूसरे कवियों से भी अधिक है। वाक्य का सब से मुख्य दोष है अन्वय-दोष, जिसे शास्त्रीय शब्दावली में 'अभवन्मत संबंध' कहते हैं। वाक्य-पदों का सम्बन्ध कठिनाई से बैठना अथवा न बैठना इसके अन्तर्गत आता है। उधर शास्त्र के अक्रमत्व, संदिग्धत्व आदि दोष भी इसी मे आ जाते हैं। देव मे यह दोष विरल नहीं है—

१—काके कहैं लूटत सुने हो दधि-दान मैं।

इसका खींच-तान कर अन्वय होगा :—'काके कहैं दधि-दान लूटत' मैं सुने हो।

२—धरत न धीर, उर अधिक अधीर मैं।

यहाँ उर और मैं के बीच उर के विशेषण 'अधिक अधीर' आ गये हैं।

३—एक तुही वृषभानु सुता, अरु तीनिहै वे जु-समेत सची हैं।

कितना शिथिल पद है।

४—ओठन ते उठि पीठि पै बैठि, कंधान पै एँठि मुर्यो मुख मोरनि॥
देव कटाच्छन तें कढि कोपि, लिलार चढ्यो बढ़ि भौंह मरोरनि।
अंक में आय मयंक-मुखी लई, लाल को वंक चितै दृग-कोरनि।
आँसुन बूड्यो उसास उड्यो किंधौ मान गयो हिलकी की हिलोरनि।

इस छन्द में कर्ता 'मान' बिलकुल अन्त में आया है। रीति-काल की परिपाटी के अनुसार इसको स्वीकार भी कर लिया जाये, परन्तु तीसरे चरण में एक गर्भित-वाक्य और आ गया है, जिससे यह अन्तर और भी बढ़ गया है, और फिर, इस गर्भित-वाक्य का अन्वय ही नहीं बैठता। 'चितै' को यदि 'चितौनि' के स्थान पर ग़लती से प्रयुक्त किया हुआ माना जाये तब कहीं कठिनता से यह संगति बैठती है कि लाल को (अपनी ओर) वंक-दृग-कोरों से देखती हुई मयंक-मुखी को उन्होंने (लाल ने) आकर गोद में ले लिया। 'लाल को' के स्थान पर 'लाल' ने पाठ मान लेने से यह समस्या हल हो जाती है, परन्तु सभी ग्रन्थों में यही पाठ होने से इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह करना भी सहज नहीं है। इसके अतिरिक्त ऐसे पद-समूह जिनका कोई भी अन्वय नहीं बैठता, देव में एक दो नहीं, अनेक हैं, कहाँ कहाँ पाठ की अशुद्धि मानी जा सकती है?

वाक्य के अन्य मुख्य दोष हैं न्यून-पदत्व, (जिसके अन्तर्गत साकांक्ष आदि अन्य शास्त्रीय दोष आ जाते हैं) और अधिक-पदत्व (जिसमें निरर्थक-पदत्व आदि का

भी समावेश हो जाता है)। भाषा के अन्य दोषों की भांति इनके लिये भी छन्द, अनुप्रास और एकाध स्थान पर यमक का आग्रह ही उत्तरदायी है।

न्यून पद :—खैंचि खरी दई दौरि सखी के उरोजन बीच सरोज फिराय कै।

यहाँ लिंग दोष नहीं है, जैसा कि लाला जी ने दिखाया है, वरन् 'की माल' छूट जाने से न्यून-पदत्व ही है। ठीक ऐसा ही एक जगह और हुआ है—

बालम ओर बिलोकि के बाल, दई मानो खैंचि सनाल सरोज की।

यहाँ भी 'माल' शब्द रह गया है।

ये उदाहरण तो साधारण हैं, इनका अर्थ तो थोडी कठिनाई के बाद निकल ही आता है। परन्तु देव मे ऐसे अनेक छद भरे पडे हैं जिनमें न्यून-पद और कष्टार्थ दोष मिल कर एक हो गये है। लक्षणा, व्यंजना, रीति-गुण, रस-भेद तथा अलंकार आदि के उदाहरण रूप दिये हुए छंदो में ये दोष प्रायः सर्वत्र ही मिलते है, और वहाँ थोड़ी देर के लिये क्षमा भी किए जा सकते है। परन्तु इस कवि में तो यह एक साधारण बात है :—

अंत रुकै नहिं अंतर कै मिलि, अन्तरु कै सु निरंतर धारै;
ऊपर वाहि न, ऊपर वा हित, उपर-बाहिर की गति चारै;
बातन हारति, बात न हारति, हारति जीभ न बातन हारै;
देव रँगी सुरत्यो सुरत्यो मनु देवर की सुरत्यो न बिसारै।

अब इसका अर्थ कीजिये, पहले तो अन्तिम पंक्ति से देवर शब्द लीजिये।। देवर से अन्तर करके भी अन्त में नहीं रुकती अर्थात् उससे मिलती ही है। मिल कर फिर जब पृथक् होती है तो उसे निरंतर हृदय में धारण करती है। ऊपर से (प्रकट रूप में) उससे प्रेम नहीं करती, प्रकट रूप में तो वर अर्थात् पति से प्रेम करती है। इस प्रकार ऊपर-बाहर वाली गति से अर्थात् प्रकट-रूप मे औचित्य का ध्यान रखते हुए चलती है.....इत्यादि। इस छन्द में न्यून-पदत्व और कष्टार्थत्व तो स्पष्ट है ही, कथित-पदत्व भी पहली पंक्ति में मिलता है।

अधिक-पद :—अधिक और निरर्थक पद देव की भाषा में शायद और भी अधिक होंगे।

१—लाज लिये अभिलाष लखी लखिमी बिलखो 'लख लाख लखी की।'

२—बह-बह्यो गंध, 'बह-बह्यो है सुगंध'

(दूसरा वाक्यांश सर्वथा अनावश्यक है)

३—एक पूरा छंद लीजिये :—

सकल कलानि भरी सकल कलानिधि सी,
सुतनु खखानियत खानि रतननि की।
सोभै शुभ बानी-सी बिमोहै शुभ बानी बोलि,
हंस चढ़ी बानी ज्यों सयानी जतननि की।
देव कमनीय कमला हू ते कमल मुखी,
कोमल बिमल पति-दुःख पतननि की।
सोभा सविवेक एक राधिका कुँवरि पर,
वारौं रति-रमनी अनेक अतननि की।

यहाँ जतननि की, पति-दुःख पतननि की, तो सर्वथा निरर्थक है, उधर रति कह देने के बाद 'अतननि की रमनी' पद भी अधिक है।

निष्कर्ष :—इस विवेचन के उपरांत निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) देव की भाषा साहित्यिक व्रजभाषा ही है। उसे पूर्णतः शुद्ध व्रजभाषा, जिस अर्थ में कि रसखान और घनानन्द की भाषा है, नहीं कहा जा सकता। परन्तु उनकी मातृभाषा लगभग व्रजभाषा ही होने के कारण उसमें अवधी, राजस्थानी आदि का मिश्रण अपेक्षाकृत बहुत कम है।

(२) व्याकरण की दृष्टि से देव की भाषा केशव और भूषण को छोड़कर अन्य समर्थ कवियों की अपेक्षा अधिक सदोष है। उनमें व्याकरण के प्रायः सभी प्रमुख दोष मिलते हैं। वाक्य-दोषों की प्रचुरता के कारण उनकी भाषा स्थान-स्थान पर अर्थ-व्यक्ति एवं प्रसाद गुण खो बैठती है, जिससे उनकी स्वच्छता नष्ट हो जाती है। मतिराम, बेनीप्रवीन, घनानन्द आदि के साथ तुलना करने पर आप स्वच्छता के इस अभाव का अनुमान लगा सकते हैं।

(३) परन्तु इसका कारण, जैसा कि मैंने पहले कहा है यह है कि देव का ध्यान भाषा के सौष्ठव और समृद्धि पर इतना अधिक रहा है कि वे उसके स्वरूप की शुद्धता और स्वच्छता की भी उपेक्षा कर बैठे हैं। अतएव देव की भाषा का वास्तविक मूल्यांकन करने के लिये उसके अभिव्यंजना-सौष्ठव की परीक्षा करनी चाहिये। वह काव्य भाषा (Poetic diction) है। गद्य-भाषा के नियमों से उसे परखना अनुचित होगा।

सौष्ठव

अलंकरण :—इस दृष्टि से सब से प्रमुख विशेषता जो देव की भाषा में मिलती है, वह है उसकी अलंकृति और सज्जा। पद-योजना पर कवि ने विशेष परिश्रम कर उसको अत्यन्त समृद्ध बना दिया है। व्रजभाषा की प्रकृति के अनुसार

पद प्रायः छोटे और असमस्त है। उनके बंदों में सर्वत्र अनुक्रम और संतुलन है जिसके कारण सभी पद छोटी-छोटी लड़ियाँ-सी बना कर एक कोमल झंकार में गुंथ जाते हैं। पद-बंधों का यह कलात्मक गुंफन प्रायः अनुप्रास तथा वीप्सा एवं पदावृत्ति के विभिन्न प्रयोगों पर आश्रित रहता है। वीप्सा के द्वारा भाषा में गति उत्पन्न होती है और अनुप्रास के द्वारा झंकार और सस्वरता—

(१) रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै,
सांसै भरि आँसू भरि कहत दई दई।
× × × ×
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधा मन मोहि मोहि मोहन मई भई।

पहले चरण की वीप्साओं में 'रीझि रीझि', 'रहसि रहसि', 'हँसि हँसि' की आवृत्ति तो स्पष्ट है। 'रहसि' और 'हँसि' में 'हसि' की और 'साँसै भरि' तथा 'आँसू भरि' में 'आँस भरि' की आवृत्ति कुछ सूक्ष्म है। इसी प्रकार अन्तिम चरण 'मोहि मोहि' की स्पष्ट आवृत्ति मे मोहन के 'मोह' की आवृति सूक्ष्म रूप से अनुस्यूत है तथा 'राधामय' और 'राधामन' मे राधा के साथ 'म' की भी आवृति है। वीप्सागत ये आवृत्तियाँ शब्दों को आगे ढुलकाती हुई भाषा मे एक विशेष गति पैदा कर देती हैं। उधर पहले चरण में र, ह, (झ मे भी ह वर्तमान है) और स व्यंजनों के साथ साथ इ स्वर का (जो ई और ऐ में भी सूक्ष्म रूप से वर्तमान है) साम्य और अन्तिम चरण में म, ह और न व्यंजनों के साथ इ और ओ स्वरो का साम्य एक कोमल सस्वरता को जन्म देता है। कुछ और उदाहरण लीजिये—

(२) छूटी अलकनि छलकति जल बूँदन की,
बिना बेंदी-बंदन बदन सोभा बिकसी।
तजि तजि कुंज-पुंज ऊपर मधुप-गुंज
गुंजरत मन्जु रव बोलै बाल पिकसी।

(२) वारि की बूंद चुवैं चिलकैं अलकैं, छवि की छलकैं उछली-सी।
अन्चल भींने झकैं झलकैं, पुलकैं कुच-कन्द कदम्ब-कली-सी।

इनमें वृत्यानुप्रास और छेकानुप्रास दोनों का मनोरम सम्मिश्रण है और मधुर वर्ण जैसे घुलते चले जा रहे हैं। अनुप्रास के प्रयोग में देव ने प्रायः सूक्ष्म-कोमल वर्ण-मैत्री पर ही विशेष ध्यान दिया है, एक व्यन्जन विशेष से आरम्भ होने वाले शब्दों का ताँता बाँध देना उनका अभीष्ट नहीं रहा। सानुप्रास पद-योजना में व्यन्जन और स्वर दोनों की ही आवृत्ति वास्तव में भाषा की उचित श्री-संवृद्धि

करती है। देव इस सौन्दर्य-रहस्य से भली भाँति परिचित थे। उनके पद-बंधों में दोनों की ही मैत्री मिलती है।

> भूलत ना वह झूलनि वाल की, फूलन माल की लाल पटी की।
> देव कहै लचकै कुच-चंचल चोरी दृगंचल चाल नटी की।
> अञ्चल की फहरानि हिये, थहरानि उरोजनि-पीन तटी की।
> किंकिणि की झहरानि बुलावति, झूकन सो झुकि जानि कटी की।

भूलत, झूलनि, फूलन; लाल और माल; चञ्चल, दृगंचल और अञ्चल; फहरानि, थहरानि, झहरानि और झुकि जानि में क्रमशः अन्त्यानुप्रास का स्वर-व्यञ्जनमय साम्य है, और उधर सारे पद में ल, च, ह, झ, र और न आदि कोमल वर्ण छोटे घुंघरुओं की तरह गुंथे हुए हैं। अन्त्यानुप्रास-युक्त पद एक विशेष अनु-क्रम और संतुलन की सृष्टि करते हे और ल, च आदि स्फुट वर्णों की आवृत्ति कोमल झंकृति उत्पन्न करती है।

यमक का प्रयोग भी देव ने प्रायः पद-बंधों की सजावट और कसावट के लिये ही किया है—

> जे हरि मेरी धरे पग जेहरि, ते हरि चेरी के रंग रचे री।

यहाँ जे हरि, जेहरि और ते हरि, तथा रिचेरी और रचेरी के शाब्दिक संतु-लन और अनुक्रम से पद-बंध में एक ऐसी कसावट आ गई है कि श्रोता का ध्यान उसी पर जम जाता है, शब्दार्थ-गत चमत्कार पर जाता भी नहीं है। इस तथ्य की पुष्टि मे कुछ और उदाहरण लीजिये।

> (२) ए री पनहारि 'देव' तेरी मनुहारि करौं,
> नेक ही निहारि हरि गयो हिय हारि कै।
> (ड) तो दृग झरोखा दै झलक, पट उझके,
> छल कपट छांड़ि कै पलक पट खोलि खोलि।

इस प्रकार आप देखिये कि जो यमक व्याकरण की दृष्टि से भाषा का सब से बडा अपकारक है वही थोडे संयम के साथ प्रयुक्त होकर पद-बंधों को कसता हुआ उसका कितना उपकार करता है। चमत्कार के लिये भी यमक का कहीं-कही प्रयोग हुआ है, पर अधिक नहीं—

> जगुरी जगावै जगु जगुरी जगै न उजगै न जोति जगै होति ही जो जग जग री।
> द्वार को डगर डगरी पगति का पै डग डग परी परतु डील डोलै डग डग री।
> देव गुन अगरी उसासैं भरै अगरी दवाये दंतु अँगुरी अचल अंग अंग री।
> लंक लग वगरी, कलंक लग वगरी सखीन संग वगरी सखी न संग वगरी।

शुक्र है कि यमक के ऐसे गोरखधंधे ज़्यादा नहीं है। वास्तव में देव के प्रायः सभी प्रसंगो मे ऐसे उदाहरण मिल जाने का कारण यह है कि देव का स्वभाव कुछ अतिप्रिय था। प्रत्येक बात को सीमा तक पहुँचा देने का उनको कुछ चाव-सा था।

अर्थ-ध्वनन :—अर्थ-ध्वनन काव्य-भाषा का अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण है। कुछ शब्द अथवा शब्द-समूह इतने मुखर होते हैं कि वे ध्वनि मात्र से ही अपना अर्थ व्यक्त कर देते हैं। अर्थ-ध्वनन का चमत्कार ऐसे ही शब्द-समूह की योजना पर आश्रित रहता है। पाश्चात्य अलंकार-शास्त्र मे यह एक स्वतन्त्र अलंकार ही माना गया है। हमारे यहाँ यह अनुप्रास के ही अन्तर्गत आता है। एक ओर व्यञ्जनो की मैत्री और दूसरी ओर अनुकरण-मूलक शब्द इसमे विशेष रूप से सहायक होते हैं। वास्तव मे भाषा को समृद्ध करने का यह इतना सुन्दर साधन है कि प्रत्येक भाषा-शिल्पी अनिवार्यतः इसका जाने अनजाने में प्रयोग करता है। आधुनिक युग में कवि पंत की भाषा में यह गुण प्रचुर मात्रा में मिलता है। रीतिकाल मे देव और पद्माकर इसके सब से बडे उस्ताद थे। देव के कुछ प्रयोग देखिये—

हौं ही ब्रज बृन्दावन मोही मैं बसत सदा, जमुना तरंग श्याम रंग अवलीन की।
चहुँ ओर सुन्दर सघन बन देखियत, कुंजनि में सुनियत, गुंजनि अलीन की।
बंसीबट तट नट-नागर नटतु, मोमैं रास के विलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक बनक ताल ताननि की तनक तनक तामे झनक चुरीन की।

पहले चरण के उत्तरार्ध से तरङ्ग-रव, दूसरे चरण से भौंरो का गुंजन और अंतिम से ताल-तान और चूडियो की मिश्रित झंकार कितने स्पष्ट रूप मे ध्वनित हो रही है।

सहर-सहर सोंधो सीतल समीर डोलै,
घहर-घहर घन घेरि कै घहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायो 'देव'
छहर-छहर छोटी बूंदन छहरिया।
हहर-हहर हँसि हँसि के हिंडोरें चढ़ी,
थहर-थहर तनु कोमल थहरिया।
फहर-फहर होत पीतम को पीत पट,
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया।

इस छन्द के शब्दों से ही वायु का मन्द संचरण, बादलों का घहराना, वर्षा की झड़ी का झर्झर शब्द, छोटी छोटी बूँदों का छहराना, अपेक्षाकृत भारी पीत

पट का फहराना और बारीक लहरिया का लहराना आपसे आप ध्वनित हो उठता है।

कांति-गुण :—कांति शब्द का प्रयोग यहाँ हम वामन के पारिभाषिक कांति गुण से कुछ भिन्न अर्थ में कर रहे हैं। यहाँ हमारा तात्पर्य केवल शब्द-गत औज्ज्वल्य एवं मसृणता से ही है जिसे अंग्रेज़ी में 'पालिश' कहेंगे। रीति युग ने हमारी भाषा को जो सब से बड़ा वरदान दिया वह यही औज्ज्वल्य और मसृणता है। इस युग के कवियों ने सूर, तुलसी, नन्ददास आदि से प्राप्त भाषा को मानो खराद पर चढ़ा चढ़ा कर चिकना और चमकीला बना दिया। देव की भाषा में यह गुण रीतिकाल के अन्य कवियों से भी अधिक मिलता है। उसके शब्दों में उज्ज्वल वर्णों का प्राचुर्य है। उनका खुरदरापन प्रयत्नपूर्वक दूर कर दिया गया है। कहीं कहीं तो इसके लिये व्याकरण के नियम अथवा अर्थ-व्यक्ति का भी बलिदान करना पड़ा है। इस कवि की भाषा में कांति गुण इतना स्पष्ट है कि उसके लिए विशेष प्रमाण की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। ऊपर उद्धृत प्रायः सभी छन्दों में वह वर्तमान है। फिर भी एक और उदाहरण लीजिये—

> आई बरसाने तें बुलाई वृषभानु सुता,
> निरखि प्रभानि प्रभा भान की अथै गई।
> चक चकवानि के चकाये चक-चोरन सों,
> चौंकत चकोर चका चौंध सों चकै गई।
> देव नन्द-नन्दन के नैननि अनन्द मई,
> नन्द जी के मंदिरन चन्द मई कै गई।
> कंजनि कलिन-मई कुंजनि अलिन-मई,
> गोकुल की गलिन नलिन मई कै गई।

भाषा के विषय में कवि पंत ने एक स्थान पर लिखा है :—"जिस प्रकार कढ़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथ कर कोमल कर लेना पड़ता है उसी प्रकार कविता के स्वरूप में..........ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्रांजल कर लेना पड़ता।" ये शब्द देव की भाषा का बड़ा ही सच्चा वर्णन करते हैं, वास्तव में इस कवि ने शब्दों को हृदय के मधुर ताप में गलाया ही नहीं है, माधुर्य रस में उनको पाग भी दिया है।

शक्ति :—रीति प्रसंग में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि किस प्रकार देव ने शब्द-शक्तियों में अभिधा को सर्वोत्तम माना है और इससे उनका वास्तविक अभिप्राय क्या है? लक्षणा और व्यंजना के ऊपर अभिधा की महत्व-प्रतिष्ठा

शिल्प के ऊपर भाव की महत्व-प्रतिष्ठा ही है, परन्तु जिस प्रकार देव ने भाव को काव्य का सार मानते हुए भी व्यवहार रूप में कला को उचित स्थान दिया है, इसी प्रकार उन्होंने लक्षणा और व्यंजना का भी उचित रीति से पूर्ण मनोयोग के साथ प्रयोग किया है। वास्तव में कला—विशेषकर अभिव्यंजना की शक्ति और सौष्ठव बहुत कुछ लक्षणा और व्यंजना पर ही आश्रित रहते हैं। कुछ लोगों का यह विचार है कि हिन्दी की लाक्षणिकता तथा मूर्तिमत्ता का विकास आधुनिक युग का ही प्रसाद है, परन्तु यह धारणा भ्रान्त है। रीतिकाल में ही, जो कि इन शक्तियों के ह्रास के लिए बदनाम है, घनानन्द, पद्माकर, प्रतापसाहि, विहारी, देव आदि अनेक कवियों ने इनका उचित प्रयोग किया है। अप्रस्तुत योजना के प्रसंग में हम देव की भाषा की इन शक्तियों का थोड़ा बहुत विवेचन कर चुके हैं :—धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग, मानवीकरण, आदि प्रणालियां मूलतः इन्हीं पर आश्रित हैं। देव के लाक्षणिक प्रयोग कुछ तो इतने मार्के के हैं कि उनको आसानी से आधुनिक प्रयोगों के समकक्ष रखा जा सकता है। पीछे दिये हुए 'पावस ते उठि कीजिए चैत, अमावस ते उठि कीजिए पूनो' आदि सुन्दर उद्धरणों के अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे ही उदाहरण लिए जा सकते हैं :

(१) अंगनि उमंगन को 'विहंगम जग्यो पर।'

स्फुरण के लिए 'विहंगम जग्यो परै' का प्रयोग कितना अर्थ-मुखर है।

(२) त्रिछियान की 'जीभैं न लागती हैं।'

(३) सुनि सुनि श्रवणन 'भूख-सी भजति है।'

(४) मदन 'सदेह' जाग्यो—

काम के तीव्र आवेग को व्यंजित करने के लिए 'सदेह' पद कितना समर्थ है।

(५) व्रज पौरि विथा की कथा 'बिथुरी' है।

इसी प्रकार लक्षणा का ही सहारा लेकर कहीं-कहीं स्फुट शब्दों में भी एक नवीन अर्थ-वैचित्र्य उत्पन्न कर दिया गया है :—

छाप बनीं काहू 'ओछे उरोज' की [—इस शब्द का कवि ने अनेक बार इसी (अर्ध-स्फुट) अर्थ में प्रयोग किया है।]

रैहै क्यों 'ऊजरी' गोकुल मे व्रजगूजरी गूजरी गोकुल की गर्वीली।

—छैल छुओ जनि छाती 'अछूती'।

—मदन मरोरे 'कोरे' अंग कुम्हिलाने जात।

लक्षणा के ही आश्रित भाषा की एक अन्य प्रौढ़ शक्ति है प्रतीकात्मकता। विदेश में, अभिव्यंजनावाद आदि के प्रभाव के कारण, नवीन कविता में उसका विशेष प्रचार बढ़ा है। प्रतीकात्मकता वैसे तो अति-वस्तुवाद* आदि के आश्रित होने के कारण अत्यन्त जटिल और सूक्ष्म वृत्ति है, परन्तु अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप देने के लिए इसका सरल रूप में भी समर्थ कवि प्रयोग करते हैं। अंगरेजी में कीट्स द्वारा अंकित पतझड़ का, अथवा हिन्दी में प्रसाद जी द्वारा अंकित इड़ा का प्रसिद्ध प्रतीक-चित्र भाषा की इसी शक्ति का प्रसाद है।

Sometimes whoever seeks abroad may find
Thee sitting careless on a granery floor,
Thy hair soft-lifted by the winnowing wind,
Or, on a half-reap'd furrow sound asleep,
Drowned with the fume of poppies, while thy hook
Spares the next swath and all its twined flowers.

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल
वह विश्व-मुकुट-सा उज्ज्वलतम-शशि-खण्ड-सदृश था स्पष्ट भाल,
दो पद्म-पलाश चषक-से दृग देते अनुराग विराग ढाल।
गुंजरित मधुप-से मुकुल-सदृश था आनन जिसमें भरा गान।
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान।
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन रस-सार लिए,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये।
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल।
चरणों में थी गति भरी ताल॥

(इड़ा—कामायनी)

आपको आश्चर्य होगा कि रीति-बन्धन में जकड़े हुए देव ने भी इस प्रकार की प्रतीक भाषा का सफल प्रयोग किया है। उन्होंने अपने 'देव-माया-प्रपंच' नाटक में अमूर्त भावनाओं को सांकेतिक तथा प्रतीकात्मक व्यक्तित्व प्रदान किये हैं। सांकेतिक चित्रों में तो क्षमा, स्मृति आदि अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप देने के लिए क्षमामयी और स्मृतिरता नायिकाओं का ही वर्णन कर दिया गया है; परन्तु प्रतीक-चित्रों में भाषा की प्रतीकात्मकता तथा मूर्तिमत्ता का पूर्ण उपयोग करते हुए अमूर्त को मूर्त रूप दिया गया है। उदाहरण के लिए करुणा का चित्र लीजिए :—

पीर पराई सों पीरो भयो मुख, दीननि के दुःख देखे विलाती,
भीजि रही करुना करुना-रस काल की केलिन सों कुम्हिलाती।

---

* (Sur-realism)

लीलै उसासन आंसुन सों उमगै सरिता भरिकै ढरि जाती,
नाव-लौं नैन भरैं-उछरैं जल ऊपर ही पुतरी उतराती।

व्यञ्जना :—लक्षणा से जहाँ भाषा में वैदग्ध्य और समृद्धि आती है, वहाँ व्यञ्जना से वक्रता और धार आती है। इस रहस्य को पहिचानते हुए देव ने खण्डिता की उक्तियों में प्रायः व्यञ्जना का उपयोग किया है :—

साँझ ही स्याम को लेन गई, सु बसी बन में सब जामिनि जाय कै।
सीरी बयारि छिदे अधरा, उरझो उर झाँखर झार मँझाय कै।
तेरी सी को करिहै करतूति, हुती करिवे सो करी तैं बनाय कै।
भोर ही आई भटू इत, मो दुखदाहन काज इतौ दुख पाय कै।

यहाँ व्यंग्य बिलकुल सीधा है जैसा कि संस्कृत के काकु या अंगरेज़ी के आँयरनी मे होता है। परन्तु व्यञ्जना का प्रयोग किसी अप्रिय बात को साध कर कहने अथवा आशय को भंग्यंतर से प्रकट करने के लिए भी होता है :—

'पतिव्रत-व्रती ये उपासी-प्यासी अंखियन,
प्रात उठि प्रीतम पिआयो रूप-पारनो।' में धीरा नायिका अपने मान को दैन्य में लपेट कर कितने मार्मिक रूप से प्रकट करती है।

साँझ शशि ह्वै कै हँसि विहँसि कुमुदिनी सों, रहे चलि नीके नलिनी के उर-शूल ते।
शिशिर मयंक सो सशंक पंकजिनी जानि रजनी गमाई भले मानी गई भूल ते।
कीनी निहिचिंत हौं दुरंत चित चिंता मेंटी देव सेवकनि के सदा ही अनुकूल ते।
लाल लाल अम्बर उदित बाल भानु हेरि भोर बिनु लोइन कमल कैसे फूल ते?

यहाँ खण्डिता नायिका का अभिप्रेत अर्थ तो यह है कि तुम बड़े कपटी और कठोर हो। रात्रि भर तो तुमने दूसरी स्त्री के साथ रमण कर उसे सुख दिया, अब प्रातःकाल लाल आँखें लिए हुए मुझे दुःखी करने आये हो। परन्तु वह बात को साधती हुई दूसरे प्रकार से कहती है—"आप अपनी सेविकाओं के प्रति बड़े अनुकूल हैं। रात्रि में आपने शशि रूप धारण कर उस कुमुदिनी को (दूसरी नायिका को) स्नेह-शीतल किया, और अब प्रातःकाल बाल रवि का रूप धारण कर मेरे लोचन-कमलों को खिलाने आये हो।" लक्षणा से चन्द्रमा से शीतल करने का, और बाल-रवि से संतप्त करने वाले लाल नेत्रों का भाव व्यक्त किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लक्षणा से पुष्ट व्यञ्जना का यह प्रयोग अत्यन्त भावगम्य और कल्पना-प्रचुर है। इसमें शब्द-शक्तियों का अत्यन्त सूक्ष्म रूप मिलता है।

'देव तुम्हें मोहि अन्तर पारत हार उतारि इतै धरि राखो ।'

गणिका की इस उक्ति में भी अभिप्राय भंग्यंतर से व्यक्त किया गया है ।

मुहावरे और कहावतें :—मुहावरे और कहावतें प्रौढ़ भाषा के सहज गुण हैं । यद्यपि कुछ वाक्य-दोषों के कारण देव की भाषा का चलतापन नष्ट हो गया है ; परन्तु उनको बचाकर यदि ध्यान से देखा जाय तो आपको मुहावरे और व्यावहारिक प्रयोग उसमें सहज रूप में गुम्फित मिलेंगे । पहली बात तो यह है कि देव को साधारण क्रिया-पदों की अपेक्षा चलते हुए क्रिया-पद ज्यादा पसन्द हैं :—

—रावरो रूप पियो अंखियान 'भर्‌यो' सु 'भर्‌यो' 'उबर्‌यो' सु 'ढर्‌यो' परै ।
—कीन्ही अनाकिनि यों 'मुख मोरि' पै जोरि भुजा हिय 'भेंटत ही बन्यो' ।
—सांचे हँकारि पुकारि पिकी कहै 'नाचे बनेगी' वसन्त की पांचैं ।
—लाल के रंग में भीजि रही सु गुलाल के रंग मे 'चाहति भीज्यो' ।
—घनश्यामहिं नेकहूँ एक घरी को इहां लगि जो 'करि पाइये तौ' ।
लाज 'गहिबे हौं रही'................
—चाह्यो कह्यो बहुतेरो पै देव कहा कहिये कहि आवत नाहीं ।
—इसी प्रकार चलते हुए शब्दों के प्रति भी देव को विशेष अनुराग है :—
—'गहगह्यो' गोरी को अनूप 'लहलह्यो' रूप............ ।
—'जगर मगर' आपु आवति दिवारी-सी ।
—पंकज-सी अंखियानि 'झुका-झुकी' । आदि आदि ।

मुहावरों की भी देव की भाषा में अच्छी बहार है; परन्तु वे सर्वत्र ही वाक्य का सहज अंग बन कर प्रयुक्त हुए हैं, अपने मे स्वतन्त्र चमत्कार बन कर नहीं । बिहारी के 'मूंड चढाये हू रहै' आदि प्रयोगों में मुहावरे अत्यन्त चमकते हैं; परन्तु देव की भाषा मे प्रायः वे ऐसे घुल-मिल गये हैं कि उनको थोड़ी छान-बीन करने के बाद ही पृथक् किया जा सकता है :

—चांह भई फिरों या चित मेरे की 'छांह भई फिरो' नाह के पीछे ।
—जोवन आयो न 'पाप लग्यो' कवि देव रहैं गुरु लोग रिसौंहैं ।
—खेलिबोऊ हँसिबोऊ कहा सुख सों बसिबो 'बिसे बीस' बिसारो ।

इन मुहावरों पर किसी का ध्यान भी नहीं जाता; परन्तु फिर भी उक्ति और भाव को रमणीय बनाने में उनका जो सूक्ष्म योग है उसका निषेध कैसे किया जा सकता है ? इसके अतिरिक्त जहाँ जहाँ मुहावरे में किसी प्रकार की विशेष चमक मिलती भी है वहाँ वह भाव या अलंकार के चमत्कार की ही वृद्धि करती है—उसका अपना स्वतन्त्र चमत्कार उसकी सिद्धि नहीं है :—

कारे हौ कान्ह निकारे हौ 'कीलि'; रहे गुन लीलि पै औगुन थाहत।

यहाँ 'कीलि' की सफलता कृष्ण की विषैली वृत्तियों की गहराई को अभिव्यक्त करने में ही है। ऐसे ही—'गोत गुमान उतै, इत प्रीति सुचादरि-सी अँखियान पै खैंची।' यहाँ पर भी मुहावरे की सिद्धि प्रेमजन्य अविवेक की तीव्र अनुभूति कराने में ही है।

मन मनिका दै हरि हीरा गांठ बांध्यो हम,
तिन्हें तुम बनिज बतावत हो कौडी को।

इस उक्ति में मुहावरा भाव की तीव्रता में सहायक होने के अतिरिक्त वैषम्यमूलक अलंकार के उत्कर्ष को भी बढाता है।

कहावतों के प्रयोग के विषय में भी यही सत्य है—यद्यपि मुहावरों की अपेक्षा उनकी संख्या देव की भाषा में बहुत ही कम है, फिर भी जो हैं वे आप से आप भाषा में बैठती चली जाती हैं—कहीं भी ऊपर उठी हुई नहीं दिखाई देतीं :—

—ओस की आस बुझै नहीं प्यास बिसास डसै जनि काल-फनिन्द के।
—आप हो तें आपु ही सुमति सिखराई 'देव',
नख-सिख राई में सुमेरु दिखराई देत।
—देव निसाकर ज्योति जगै न जगै जुगुनून को पुंज उजेरो।

उक्ति-वैचित्र्य :—अपनी भाषा को समृद्ध बनाने के लिए विदग्ध कवि कुछ अन्य विधियों का भी उपयोग करते हैं जिनसे उक्ति में एक विशेष चमत्कार और आकर्षण आ जाता है। इनमें से कुछ तो वाक्य की गठन में आकर्षण उत्पन्न करती हुई और कुछ विरोधाभास आदि के सहारे उक्ति को प्रभावपूर्ण बनाती हैं। अंगरेज़ी में इन सभी विधियों का नामकरण करते हुए उनको स्वतन्त्र अलंकार मान लिया गया है। वाक्य के गठन से सम्बन्ध रखने वाली विधियां कहीं साम्य अथवा वैषम्य-मूलक पद-संतुलन का सहारा लेती हैं, कहीं अनुक्रम और कहीं आरोह-अवरोह का :—

१—कुलकानि की गांठि ते छूट्यो हियो, हिय ते कुल कानि की गांठि छुटी।
२—जोग हू ते कठिन संजोग पर-नारी को।
३—पैहै असीस लचैये जु सीस लची रहिए तब ऊंची कहैये।
४—बानी को सार बखान्यो सिंगार सिंगार को सार किसोर किसोरी।

पहले में संतुलन का आधार साम्य, तीसरे में वैषम्य, और चौथे में क्रमिक आरोह है।

उक्ति से आकर्षण पैदा करने के लिए हमारे यहाँ के तुल्ययोगिता, दीपक, आवृत्ति-दीपक, सहोक्ति, एकावली आदि अलंकार भी कम उपयोगी नहीं हैं। इन अलंकारों का भी मूल सम्बन्ध वास्तव में कथन की शैली से ही अधिक है। सजातीय अथवा विजातीय वस्तुओं को एक तार मे पिरो कर—प्रायः एक ही क्रिया-पद मे बांध कर ये अलंकार उक्ति में एक अनूठा चमत्कार पैदा कर देते हैं:—

—टूटि गयो एक बार विदेह महीप को सोच, सरासन संभु को।

—राति की झलक पट खुले रंगमहल पलक पट प्यारी के छल कपट छैल के।

—पूरि रह्यो राग अनुराग नव दूलह को, भाग सखियान को सुहाग सुख-देनी को॥

—मोचु पन्चवान को, अरोच अभिमान को, ये मोच पति-प्रान को, संकोच सखियान को॥

दो विजातीय कर्मों को एक ही सकर्मक क्रिया-पद मे बांध देने वाले तुलसीदास के एक ऐसे ही प्रयोग की पं० रामचन्द्र शुक्ल ने बड़ी प्रशंसा की है। 'भरत की कुशल अचलु लाए चलिके।' (देखिये—गोस्वामी तुलसीदास उक्ति-वैचित्र्य) परन्तु ये दोनों कर्म विजातीय प्रतीत होते हुए भी विजातीय नहीं हैं। यहाँ अचल भी कुशल का ही प्रतीक हैं। उधर भरत की कुशल और इधर लक्ष्मण की कुशल दोनों ही राम को मिल गईं। वास्तव मे ऐसे प्रयोगों का चमत्कार ही इस पर आश्रित है कि इनमें ग्रथित वस्तुएं ऊपर से विजातीय प्रतीत होती हुई भी वस्तुतः सजातीय होती हैं। देव की पहली उक्ति में 'शम्भु का शरासन' और 'विदेह महीप का सोच' दोनों में विजातीयता होते हुए भी कितना गहरा सम्बन्ध। उधर 'टूटि गयो' के लाक्षणिक चमत्कार ने उस सौन्दर्य को और भी बढा दिया है। दूसरी उक्ति के रहस्य की भी यहीं व्याख्या है। तीसरी और चौथी मे सजातीय सम्बन्ध अधिक स्पष्ट है, यद्यपि विजातीयता की झलक उनमें भी उतने ही निश्चित रूप से वर्तमान है। इन तीनों ही प्रयोगों में जो संज्ञाएं एकत्र की गई हैं उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध है; इसलिए आंतरिक सामञ्जस्य बड़ा पूरा बैठता है। इस प्रकार मणियों की भाँति छंदों में जड़ी हुई तरह-तरह की विदग्ध उक्तियाँ देव की भाषा का शृंगार करती है। रीतिकाल में बिहारी और घनानन्द को भी इनसे विशेष प्रेम था।

भाषा पर अधिकार :—उपर्युक्त विवेचन के उपरांत इसमें संदेह नहीं रह जाता है कि कुछ दोषों के होते हुए भी इस कवि का भाषा पर व्यापक अधिकार था। उसके व्यापक शब्द-भण्डार, लचीले प्रयोग, लाक्षणिक तथा प्रतीकात्मक शब्द-शक्तियों का विकास, प्रचुर अलंकरण आदि अनेक गुण इसके मुखर साक्षी हैं। चाहे

छंद की आवश्यकता हो या तुक की—अनुप्रास की अथवा यमक की—कवि को कहीं भी शब्दों की कमी नहीं पड़ी। प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए शब्द जैसे आप से आप आते चले गए हैं—यदि कहीं तोड़ मरोड़ की आवश्यकता हुई है तो उसकी भी पूर्त अनायास ही हो गई है। मिश्रबन्धुओं ने देव के भाषा पर अधिकार की चर्चा करते हुए उनके तुकांत प्रयोगों की प्रशंसा की है—"ये सभी प्रकार के तुकान्त रख कर सरलता-पूर्वक निभा ले जाते थे।" लाला भगवानदीन ने उन पर शब्दों की तोड़ मरोड़ का दोष लगाते हुए मिश्रबन्धुओं की इस दाद का मजाक उड़ाया है; परन्तु लालाजी के आरोप का औचित्य स्वीकार करते हुए भी देव को इस महत्व से वञ्चित नही किया जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि शब्दों का रूप भी विकृत हुआ है; परन्तु कठिन से कठिन तुकांत का निर्वाह जिस सफ़ाई और सरलता से किया गया है उससे उनके भाषाधिकार में भी संदेह नहीं रह जाता। तुकान्त ही क्यो, अनुप्रास के विभिन्न रूपों, यमक, आवृत्ति आदि सभी का जिस स्थिर और नियमित रूप से प्रयोग हुआ है, वह भाषा पर व्यापक अधिकार के बिना सम्भव ही कैसे हो सकता था? मेरा समस्त बल यहाँ केवल इस बात पर है कि देव को यह सब करने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ा, यह उनकी भाषा का स्वाभाविक रूप ही बन गया है। भाषा पर अधिकार की दूसरी कसौटी है प्रसंग के अनुकूल उसमें रूप-परिवर्तन की क्षमता। रीति-काल के कवियों में देव का काव्य-क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत था। उनके ग्रन्थों में राग-विराग, रीति-नीति का तो प्रचुर विवेचन है ही, इसके अतिरिक्त युद्ध आदि का भी यथास्थान वर्णन मिलता है। शृंगार की पदावली मधुसिक्त तथा झंकारमय है, वैराग्य-कविता की पदावली में ज्ञानोचित प्रौढ़ता और घनत्व है और रीति तथा नीति के विवेचन में वह व्यवहारिक तथा इतिवृत्तात्मक हो जाती है। थोड़ा और बारीकी से देखिये तो शृंगार की मधु-सिक्त पदावली में ही विषय के अनुकूल सूक्ष्म अंतर मिलेगा—मिलन-प्रसंगों की भाषा में जहाँ स्निग्ध कोमलता है :—

आपुस में रस में रहसैं बिहसैं बन राधिका कुंज बिहारी।
स्यामा सराहति स्याम की पागहि, स्याम सराहत स्यामा की सारी॥

वहाँ विरह और मान आदि की भाषा में एक प्रकार का तीखापन मिलता है :—

कोमल कूकि कै कैलिया कूर करेजनि की किरचैं करती क्यों?

आवेग की व्यञ्जना में भाषा में आप से आप गाम्भीर्य और पृथुलता आ जाती है :—

औचक अगाध सिन्धु स्याही को उमड़ि आयो,
तासैं तीनों लोक बूड़ि गये एक रंग में।
× × ×
यों ही मन मेरे मेरो मेरे काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग में।

यहाँ दीर्घ स्वर आवेग के विस्तार और गांभीर्य्य को ध्वनित करते हैं।

पात्र के अनुसार भाषा की परिवर्तनशीलता का अध्ययन करने के लिए विभिन्न जातियों की नागरी और ग्रामीण नायिकाओं के वर्णन लिये जा सकते हैं। वहाँ प्रायः नायिका की जातीय विशेषताओं के अनुकूल शब्द ग्रहण किए गए हैं :—

—कुन्दन लीक कसौंटी में लेखी-सी देखी सुनारि सुनारि सलोनी।
—{ माखनु-सो तन दूधसो जोवनु, है दधि तें अधिको उर ईंठी।
× × × ×
ऐसी रसीली अहीरी अहे, कहौ क्यों न लगे मनमोहन मीठी। }

परिणाम :—देव की भाषा के विषय में ब्रजभाषा के आचार्यों के दो विरोधी मत हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल और लाला भगवानदीन का मत है कि "इनकी भाषा में रसार्द्रता और चलतापन कम पाया जाता है। कहीं-कहीं शब्द व्यय बहुत अधिक और अर्थ बहुत अल्प है। अक्षर-मैत्री के ध्यान से इन्हें कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो एक ओर तो भद्दी तड़क-भड़क भिड़ाते थे, और दूसरी ओर अर्थ को आछन्न करते थे। तुकान्त और अनुप्रास के लिये ये, कहीं-कहीं शब्दों को ही तोड़ते-मरोड़ते न थे, वाक्य को ही अविन्यस्त कर देते थे।" (शुक्लजी) *। उधर रीतिकाल के विशेषज्ञ श्री मिश्रबन्धु और पं० कृष्णबिहारी मिश्र की निश्चित राय है कि "भाषा-साहित्य में देव और मतिराम इन दो कवियों की भाषा सर्वोत्कृष्ट है। भाषा की कोमलता और सरसता में ये दोनों कवि अन्य कवियों से बहुत बढ़े-चढ़े हैं।..............विशेषकर देव की भाषा अद्वितीय है" (मिश्रबन्धु) + । वास्तव में अत्युक्ति को निकाल देने के बाद ये दोनों ही मत बहुत अंशों में सत्य ठहरते हैं। शुक्ल जी की वस्तु-परक दृष्टि भाषा के स्वरूप की व्यवस्था तथा स्वच्छता पर पड़ती है, और उनकी आलोचना वस्तुतः देव की भाषा में इन दोनों गुणों के स्पष्ट अभाव को ही व्यक्त करती है। उधर श्री मिश्रबन्धु तथा कृष्णबिहारी जी उसकी समृद्धि और सौष्ठव को देखते और सराहते हैं।

---

* (हिन्दी साहित्य का इतिहास १९९० पृ० २८४-२८५)
+ (नवरत्न १९८५ पृ० २१२)

इसमें सन्देह नहीं कि देव की भाषा मे उचित व्यवस्था नहीं मिलती । मतिराम जैसे कवि से तुलना करने पर उसमे स्वच्छता का अभाव अत्यन्त व्यक्त हो उठता है, परन्तु जहां तक भाषा की श्री-समृद्धि का सम्बन्ध है व्रजभाषा के अनेक कवि उनकी समता नहीं कर सकते । उन्होने व्रजभाषा के माधुर्य्य और संगीत की अपूर्व श्री-वृद्धि की है; उसको औज्ज्वल्य एवं कान्ति आदि गुणों से अलंकृत किया है तथा उसकी शक्तियों का संवर्धन किया है—और इस प्रकार व्रजभाषा की पूर्ण समृद्धि का श्रेय निस्संदेह ही उनको दिया जा सकता है ।

(इ) छन्द

कविता और छंद का सम्बन्ध आकस्मिक न होकर अनिवार्य्य ही है। पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिक मिल के शब्दों में "जब से मनुष्य मनुष्य है तभी से उसके सभी गंभीर और सम्बद्ध भावों की अपने आप को लय युक्त भाषा में व्यक्त करने की प्रवृत्ति रही है। भाव जितने ही अधिक गंभीर हुए हैं लय उतनी ही विशिष्ट और निश्चित हो गई है।" यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है जिसके कारण भाषा के आरम्भ से ही प्रत्येक देश और काल मे कविता और छंद का मूलगत आंतरिक सम्बन्ध रहा है। इस सत्य की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है :—साधारणतः हमारे रक्त की धारा एक विशेष सम गति से बहती रहती है—यह सम गति, जो हृदय की धडकन और श्वास-प्रश्वास से नियमित आरोह अवरोह में मूर्त होती रहती है, स्वभावतः लय-युक्त है क्योंकि नियमित आरोह अवरोह ही तो लय है। भावोच्छ्वास की अवस्था में रक्त की गति तीव्र हो जाती है, हृत्कंपन तथा श्वास के आरोह अवरोह में भी उसी के अनुसार अंतर पड़ जाता है—और इस प्रकार उस मूलगत सम लय में विशिष्टता आ जाती है। वह लय स्थिर और मंद न रहकर अब अस्थिर और तीव्र बन जाती है। यह विशिष्ट लय इतनी सशक्त होती है कि इसका हम स्पष्ट अनुभव करते हैं। यही अपने आप शारीरिक क्रियाओं में (जैसे हाथ पैर उछालना आदि में) व्यक्त हो जाती है—आरम्भ में नृत्त का जन्म इसी प्रकार हुआ। और इसी प्रकार कुछ दिनों बाद इसी आंतरिक लय का भाषा पर आरोप कर मनुष्य ने सहज रूप से छंद का भी आविष्कार कर लिया—तभी वास्तविक कविता का जन्म हुआ और तभी छंद का। साहित्य में जो विशेष रसों और विशेष छंदों का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, उसका भी आधार यही है। हमारे सभी भाव एक-सी हृत्कंपन पैदा नहीं करते—प्रत्येक भावोच्छ्वास एक विशेष प्रकार की हृत्कम्पन्न तथा श्वास के आरोह अवरोह को जन्म देता है। दूसरे शब्दों में उसकी अपनी एक विशेष आंतरिक लय होती है, जो भाषा पर आरोपित होकर एक विशेष छंद-लय को जन्म देती है। इसी कारण रस-विशेष का छंद-विशेष से एक आंतरिक सम्बन्ध रहता है—यह सम्बन्ध छंद के वाह्य रूप से न होकर उसकी आंतरिक लय से होता है।

कविता और छंद का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है तथा वे एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं इस तथ्य को और भी स्पष्ट करने के लिए हम कवि-कलाकार पंत के मार्मिक शब्दो को उद्धृत करते हैं :—

"कविता तथा छंद के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है; कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छंद हृत्कम्पन; कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन-हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है,—उसी प्रकार छंद भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसें नियन्त्रित हो जातीं, तालयुक्त हो जातीं; उसके स्वर में प्राणायाम, रोओं में स्फूर्ति आ जाती, राग की असम्बद्ध-झङ्कारें एक वृत्त में बँध जातीं, उनमें परिपूर्णता आ जाती है। छन्द-बद्ध शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोहचूर्ण की तरह, अपने चारों ओर एक आकर्षण-क्षेत्र (Magnetic field) तैयार कर लेते, उनमें एक प्रकार का सामञ्जस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता; उनमें राग की विद्युत्-धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।"

[पल्लव की भूमिका]

भारतीय छंद-विधान के मूल हैं स्वर और व्यञ्जन—स्वरों का सम्बन्ध मात्राओं से है, और व्यञ्जनों का भाषा के आधार-भूत ध्वनि-समूह से। इन्हीं के अनुसार उसके मात्रिक और वर्णिक दो भेद किए गए हैं। भारत की विभिन्न भाषाओं ने अपनी प्रकृति के अनुसार वर्णिक अथवा मात्रिक छंदों का प्रयोग किया है। संस्कृत बहुत कुछ संश्लिष्ट भाषा है, उसकी विभक्तियां शब्दों से संयुक्त रहती हैं—उसमें संधि और समास की बहुलता है—अतएव उसमें स्वभावतः वर्णों की एक शृंखला-सी बन जाती है। ऐसी भाषा के वर्णिक छंद ही अधिक अनुकूल पड़ सकते थे—निदान संस्कृत में वर्णिक छंदों का ही प्राधान्य रहा, हिन्दी की प्रकृति एकांत विश्लेषण-प्रधान है—अतएव उसकी रुचि स्वभाव से ही मात्रिक छंदों पर रही। वीर गाथाकाल में वर्णिक छंदों का भी प्रयोग हुआ, परन्तु इनकी अपेक्षा दोहा, छप्पय, पद्धटिका आदि मात्रिक छंद ही कहीं अधिक प्रचलित थे। भक्तिकाल के गेय पदों को तो मात्रिक छंदों का कोमलतम रूप कहा जा सकता है, उनका सौन्दर्य सर्वथा स्वरों पर ही आश्रित है। परन्तु भक्तिकाल के उपरांत रीतिकाव्य को अचानक ही दो वर्णिक छंदों ने—मेरा अभिप्राय सवैया और घनाक्षरी से है,—आच्छादित कर लिया।

सवैया और घनाक्षरी में समता मुख्यतः यही है कि ये दोनों वर्ण वृत्त हैं वैसे सवैया गणों के बन्धन में पूर्णतः जकड़ा हुआ गति और यति के नियमों द्वारा आबद्ध है, और घनाक्षरी अपेक्षाकृत कहीं अधिक स्वतंत्र है। वह केवल अक्षरों की सम-संख्या पर दृष्टि रखता है और इसी लिए उसे मुक्तक दण्डक भी कहा गया है

फिर भी संयोग-वश इन दोनों छंदों का ऐसा ग्रंथि-बन्धन हुआ कि शताब्दियों तक ये साथ ही साथ चलते रहे। सवैया और घनाक्षरी में सवैया पुराना छंद है। सवैया स्पष्टतः ही संस्कृत शब्द नहीं है—पंडितों में इसकी व्युत्पत्ति के काफ़ी मतभेद है—परन्तु हमारी धारणा है कि यह सपादिका का ही अपभ्रंश रूप है। पहले भाट लोग सवैया की अंतिम पंक्ति को दो बार—सब से पूर्व और चौथे चरण के बाद—पढ़ते थे। इस प्रकार इसमें चार के स्थान पर पांच पंक्तियाँ नियम-पूर्वक पढी जाती थीं। सवाये (सपाद) रूप में पढ़े जाने के कारण ही इसका नाम सवैया (सपादिक) पड़ गया। सवैया संस्कृत का छंद नहीं है। प्राकृत-साहित्य में भी साधारणतः उसका विशेष प्रयोग नहीं है, परन्तु वैसे है वह प्राकृत का ही छंद। प्राकृत-पैंगलम् में सवैया शब्द का प्रयोग तो नहीं है, परन्तु ८ भगण वाला किरीट और ८ सगण वाला दुर्मिल—ये दोनों छंद निश्चित रूप से उसके पृष्ठ ५७५-७६ पर लक्षण-उदाहरण सहित दिए हुए हैं: –

(१) ठावहु आइहि सक्कगणा तह सल्ल विसज्जहु बेबि तहा पर
सोउर सहजुअं तह णेउर एपरि गारह भव्व गणाकर।
काहल जुग्गल अन्त करिज्जसु एपरि चोबिह पगण पआसहु,
बत्तिस, मत्त पअप्पअ लेक्खहु, अट्ठ भआर किरीट विसेसहु।
(८ भगण किरीट)

(२) तसु तूणउ सुन्दर किज्जिअ मंदर ठावह बाणह सेस धणू।
(८ सगण दुर्मिल)

प्राकृत-पैंगलम् का रचना-काल संवत् १३०० के आस-पास माना जाता है। इससे यह सिद्ध है कि कम से कम तेरहवीं शताब्दी के अन्त में सवैया का आविर्भाव अवश्य हो गया था। वहीं से यह हिन्दी के आरम्भिक काल के चारणों के हाथ पड़ गया। घनाक्षरी के विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। संस्कृत के पिंगल ग्रंथो में अथवा प्राकृत-पैंगलम् में इसका कोई उल्लेख नहीं है। कुछ विशेषज्ञो की धारणा है कि ध्रुपद राग में गाये जाने वाले कतिपय पदों का रूप इससे मिलता है और अनुमान यही है कि लोक-गीतों की कुछ लयों को वर्णिक आधार देकर थोडे परिवर्तन-परिशोधन कर चारणों द्वारा यह छंद बनाया गया। इस अनुमान की पुष्टि सूरसागर के निम्न-लिखित पद से, जो राग मल्हार में है, असंदिग्ध-रूप में हो जाती है :—

सेज रचि पचि साज्यो सघन कुंजनि कुंज,
चित चरननि लाग्यो छतिया धरकि रही।

हा हा चलि प्यारी तेरो प्यारो चौंकि चौंकि परे,
पातकी खरक पिय हिय मे खरकि रही।
ग्रातन धरति कान तानति है भौंह बान,
उत न चलति बाम अंखिया फरकि रही।
सूरदास मदन दहत पिय प्यारी सुनि ज्यों ज्यों
कहो त्यो त्यों बह उतकों सरकि रही।

आप देखिए कि उपर्युक्त पद रूप-घनाक्षरी का कितना स्पष्ट उदाहरण है। गाने वाले राग मल्हार में ढाल कर इसे कोई रूप दे दें, परन्तु साधारण रूप में यह घनाक्षरी ही है।

हिन्दी में इनका प्रचलन कब से हुआ, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। अकबरी दरबार के प्रसंग मे शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है :—"यह अनुकूल परिस्थिति हिन्दी काव्य को अग्रसर करने में अवश्य सहायक हुई। वीर-शृंगार और नीति की कविताओं के आविर्भाव के लिए विस्तृत क्षेत्र फिर खुल गए। जैसा आरम्भ काल में दिखाया जा चुका है, फुटकल कविताएं अधिकतर इन्हीं विषयों को लेकर छप्पय, कवित्त, सवैयों और दोहों मे हुआ करती थीं।" परन्तु आरम्भ काल के जिस स्थल की ओर यहाँ संकेत किया गया है, वहाँ अकेले दोहा का ही उल्लेख है :—"धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएं दोहों मे मिलती हैं।" वीर-गाथा-काल का सामान्य विवेचन करते हुए, एक दूसरे स्थल पर उन्होंने छप्पय का भी जिक्र किया है :—"राज-सभा में सुनाए जाने वाले नीति शृंगार आदि विषय प्रायः दोहों में कहे जाते थे और वीर रस के पद छप्पय में।" [देखिए हिन्दी साहित्य का इतिहास १९९० पृ० १९] इस प्रकार इन दोनो प्रसंगों के विवेचन में सवैया और कवित्त का (घनाक्षरी का) स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया। वैसे भी इस युग की जो काव्य-सामग्री संग्रह-ग्रंथों मे अथवा स्वतंत्र रूप से प्रकाशित हुई है, उसमें दोहा, छप्पय तो प्रभूत संख्या मे मिलते हैं, परन्तु सवैया कवित्त का एक भी उदाहरण नहीं मिलता। पुरानी हिन्दी का जो जैन अथवा वीर-गाथा साहित्य प्रामाणिक-अप्रामाणिक रूप में आज उपलब्ध है उसमे ये दोनो छंद दृष्टिगत नहीं होते। चंद के पृथ्वीराज-रासो मे उस समय के अन्य ग्रंथों की अपेक्षा कहीं अधिक शास्त्रीयता मिलती है, उसमें अनेक प्रकार के शास्त्रीय छंदों का प्रयोग हुआ है जिनमें, दोहा और छप्पय की संख्या शायद सब से अधिक होगी, परन्तु ये दो छंद वहां भी नहीं हैं। रासो मे छप्पय को कवित्त और दोहा को प्रायः दूहा लिखा गया है। इस प्रकार रासो मे जो कवित्त मिलता है वह छप्पय ही है घनाक्षरी नहीं। रासो में एक छंद आता है दुमिल्ला या दुमिला, जिससे दुमिल

सवैया की भ्रांति हो सकती है, परन्तु उसकी गतिलय की परीक्षा इसे निर्मूल कर देती है। "दुमिलानय छंदं पढय फुनिन्दं कहि कविचंदं, गुनगोई।" आरम्भ काल के उपरान्त भक्तिकाल के पूर्वार्ध में संत कवियों ने छप्पय को तो छोड़ दिया। दोहे (साखी) के साथ उन्होंने लोकगीतों की परम्परा से 'पदों' को ग्रहण कर लिया। मुसलमान प्रेममार्गी कवियों ने फ़ारसी मनसवी से प्रेरणा पाकर चौपाई और दोहा की एक नई व्यवस्थित योजना बना ली और उसमें प्रबन्ध काव्यों की रचना आरम्भ कर दी। इस प्रकार विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के मध्य—[सूर के आविर्भाव] तक हिन्दी में सवैया और कवित्त का प्रवेश नहीं हो पाया। पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, हम्मीर रासो, जैन कवियों की धर्म-नीति आदि की रचनाएं विद्यापति और खुसरो की रचनाएं; कबीर और नानक की बानी, सूफ़ियों की प्रेम-गाथाएं सभी को देख लीजिए—किसी में ये दो छंद नहीं मिलेंगे। जगनिक के आल्हखण्ड में कुछ सवैया अवश्य बिखरी मिलती हैं। उदाहरण के लिए:—

श्री गिरिजापति को विनवौं, पुनि मैं विनवौं गिरिजेश दुलारो।
अंजनिपुत्र बली हनुमान, तुही सब भांतिन सों रखवारो।
हर्षि हिये विनवौं सब देवन, भक्तन कष्ट सदा निरवारो।
मैं मतिमंद यथामति सों, सब के हित गावत वीर पंवारो।

ये सवैया प्रायः युद्ध-वर्णनों के आरम्भ में दी गई हैं (देखिए हिन्दी के कवि और काव्य पृष्ठ ४७, ८२),। परन्तु जागनिक का यह काव्य शताब्दियों तक केवल मौखिक परम्परा द्वारा ही चलता रहा था। उसमें समय-समय पर कितने अल्हैतों ने अपनी-अपनी गढंतों को जोड़ दिया है, इसका कोई भी हिसाब नहीं है। यहाँ तक कि आल्हखंड का वास्तविक रूप क्या था इसका भी निर्णय नहीं हो सकता। ऐसी दशा में इन सवैयों के विषय में भी निश्चयपूर्वक क्या कहा जा सकता है। वैसे भाषा आदि की दृष्टि से ये काफ़ी बाद की लिखी मालूम पड़ती हैं।

प्रामाणिक रूप में इन दोनों छन्दों का प्रयोग सब से पहले दरबारी कविता के द्वितीय उत्थान के साथ, अर्थात् अकबर के शासन-काल में ही मिलता है। अकबर, रहीम, टोडरमल, बीरबल, गंग और उधर नरोत्तमदास तथा तुलसीदास—जिन्होंने इनका स्थिर रूपसे व्यवहार किया है—लगभग समकालीन ही थे। इन सब में नरोत्तमदास ही सब के पूर्ववर्ती थे। उन्होंने 'सुदामा चरित' में सवैया और कवित्त का जितना सुथरा प्रयोग किया है, उससे यह धारणा अवश्य बनती है कि वे इन छन्दों के प्रथम प्रयोक्ता नहीं थे। उनमें इन छन्दों का वह आरम्भिक अनगढ़ रूप ही नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि वे किसी न किसी रूप में काफ़ी पहले से

चले आ रहे थे—सवैया तो निश्चित ही तेरहवीं शताब्दी के आसपास प्राकृत-अपभ्रंश से हिन्दी मे आ गया होगा। किसी लिखित प्रमाण के अभाव में यही अनुमान किया जा सकता है कि यह रूप मौखिक ही रहा होगा। राजदरबारी कवियो और चारणों में दोहा, छप्पय आदि के बाद कवित्त और सवैया की परम्परा भी शायद चल पडी थी। यह परम्परा बहुत समय तक तो मौखिक रही, तत्पश्चात् अकबर के समय में उचित प्रोत्साहन पाकर फिर उभर आई।

सवैया :—पारिभाषिक दृष्टि से सवैया गण नियम से शासित वर्णवृत्त है। गण तथा अन्त मे आने वाले लघु गुरु के विचार से हिन्दी मे सवैया के अनेक भेद मिलते है। भानुजी ने अपने छन्द-प्रभाकर मे १० भेद दिये हैं। देव ने भी शब्द-रसायन मे इस छंद का सविस्तार विवेचन करते हुए १२ भेदो की व्याख्या की है। इस छंद मे २२ से लेकर २६ तक अक्षर होते है। इसकी विशेषता यह है कि संपूर्ण छंद मे एक ही गण चलता है, चाहे वह भगण हो, या जगण, या सगण। मदिरा, किरीट, मालती (मत्तगयंद), चित्रपदा, अलसा (अरसात) मे केवल भगण ही होता है। इनमे अक्षरो की संख्या तथा तुकांत गुरु-लघु के क्रम का ही भेद रहता है। दुर्मिल, कमला (सुखदानी), ललित और सुधा (अरविंद) मे सर्वत्र सगण ही होता है; और मल्लिका (सुमुखी), माधवी (वाम), मंजरी (मुक्ताहरा) में जगण। समान गण वाले इन छन्दों मे अक्षरो की संख्या तथा तुकांत गुरु-लघु के क्रम का ही भेद रहता है—और इसी के अनुसार इनकी गति मे सूक्ष्म अन्तर पड़ जाता है। इस प्रकार इस छन्द की गति और लय एक ही गण अर्थात् ध्वनि-योजना की अनेक आवृत्तियो पर आश्रित रहती है—इसलिए इसमे एक निश्चित स्वर-विधान होता है। यह लय रागवृत्तों की शृंखला-सी बनाती है जिसमे एक निश्चित क्रम से झकोरें-सी उत्पन्न होती चलती हैं, और अन्त मे तुक पर जाकर एक और लपेट पड़ जाती है। नियमित रूप में राग का यह स्वरपात सवैया में एक अनूठा संगीत पैदा कर देता है, उसके राग का प्रवाह धीरे-धीरे बल खाता हुआ एक निश्चित सीमा तक बढ़ता है—फिर वहां एक झकोर लेकर फिर उसी क्रम से आगे बढ़ता है। कवि पंत का यह आक्षेप सर्वथा उचित ही है कि इस संतुलित गति के कारण सवैया में स्वच्छंद प्रवाह और स्वर-वैचित्र्य के लिए अवकाश कम रह जाता है।*

---

* चूने के पक्के किनारों के बीच बहती हुई धारा की तरह रस की स्रोतस्विनी से अपने वेगानुसार तटों में स्वाभाविक काट-छाँट करने का अधिकार छीन लिया जाता है; अपने पुष्प-गुल्म लताओं के कोमल पुलिनो से चुम्बन आलिङ्गन बदलने, प्रवाह के बीच पड़े हुए रङ्ग-विरङ्गी रोड़ों से फेनिल-हास-परिहास करने, क्षिप्र आवर्तो के रूप में

परन्तु उन्होंने उसके राग पर जो जड़ता का आरोप किया है, वह अमान्य है। भला मत्तगयन्द की तरह झूमते-झकोरते हुए चलने वाले इस छंद में जड़ता कैसे आ सकती है।—अपनी लोच लचक के कारण यह छंद अनायास ही मधुर रसों का सहज माध्यम बन गया होगा। क्योंकि इसका लचीला स्वरपात भाव-माधुर्य्य में एक निश्चित योग देता है। इसके अतिरिक्त अन्य छंदों में जहां अक्षर-मैत्री के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, यहाँ वह अपने आप ही सिद्ध हो जाती है।

कोई भी छंद सर्वत्र उपयोगी नहीं हो सकता। सवैया का प्रत्येक पद कटा-छंटा अपने में पूर्ण होता है। अतएव वह वीर या प्रेम-गाथाओं के अविच्छिन्न कथा-प्रवाह के अनुकूल नहीं पड़ा और न अकूल होकर बहने वाली भक्ति की तरल उद्-गीतियों के। आज के वैचित्र्य-प्रिय कवियों की भी उद्देश्य-पूर्ति वह नहीं कर सकता परन्तु रीति-काल के मुक्तक शृंगार-चित्रों में वह ऐसा जम कर बैठ गया था मानों उसका आविष्कार उन्ही के लिये हुआ हो। और, इस युग में उसका, बनाव-शृंगार भी पूरी तरह हुआ। बीच में अड़ने वाले शाब्दिक रोड़ों को हटाकर उसके प्रवाह-पथ को संगमरमर की तरह चिकना बना दिया गया। अकबर के समय में सवैया में एक अनगढ़पन था जिससे उसका संगीत अच्छी तरह फूट नही पाया—स्वयं तुलसी के प्रयोगों में यह दोष अत्यंत स्पष्ट है:

> रानी मैं जानी अजानी महा पवि-पाहन हू ते कठोर हियो है।
> राजहु काज अकाज न जान्यो कह्यो तिय को जिन कान कियो है।
> ऐसी मनोहर मूरति वे, बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है।
> आँखिन में सखि राखिबे जोग इन्हें किमि कै बनवास दियो है॥

सात भगण और दो गुरुवाला यह सवैया अपनी गति की मस्ती के कारण मत्तगयंद कहलाता है। तुलसी के छंद में यह प्रवाह भाषा के आवश्यक लोच, विरामों की समुचित व्यवस्था और सबसे अधिक अक्षर-मैत्री के अभाव में किस प्रकार अपनी मस्ती खो बैठा है यह दिखाने की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीतः—

> प्रान पिया मन भावन संग, अनंग तरंगनि रंग पसारे।
> सारी निसा मतिराम मनोहर, केलि के पुंज हजार उघारे।
> होत प्रभात चल्यौ चहै प्रीतम, सुन्दरी के हिय में दुख भारे।
> चंद सो आनन, दीप-सी दीपति, स्याम सरोज से नैन निहारे॥

भ्रूपात करने का उसे अवसर ही नहीं मिलता; वह अपने जीवन की विचित्रता स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दता खो बैठती है। [पल्लव की भूमिका]

मूरति जो मन मोहन की मन मोहि ने के थिर ह्वै थिरकी-सी ।
'देव' गोपाल के बोल सुने छतियाँ सियराति सुधा-छिरकी-सी ।
नीके झरोखे ह्वै झाँकि सके नहीं नैनन लाज घटा घिरकी-सी ।
पूरन प्रीति हिये हिरकी, खिरकी खिरकीन फिरै फिरकी-सी ।

इन छंदों में विराम-योजना इतनी व्यवस्थित तथा अक्षर-मैत्री इतनी पूर्ण है कि लय में आप से आप अद्‌भुत लोच आ गया है ।

सवैया मे तीन विभिन्न लय होती हैं—एक भगण के आश्रित, दूसरी सगण के आश्रित और तीसरी जगण के आश्रित । देव ने तीनों को ही, पूर्ण मनोयोग के साथ अपनाया है—यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि अन्य कवियो की भाँति उन का भी विशेष अनुराग मत्तगयन्द पर ही है । ये तीनों लय इस प्रकार हैं :—

भगण (८) किरीट
१-देव घरी पल जाति घुरी अँसुवान के नीर उसास समीरन ,
इसका गणात्मक रूप यह होगा :—
देवघ रीपल जातिघु रीअँसु वानके नीरउ सासस मीरन ।
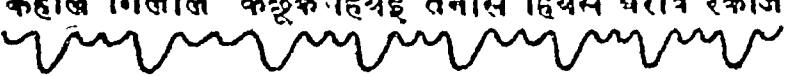
सगण (८) दुर्मिल
२--रँगराति हरी लहराति लता झुकि जाति समीर के झूकनि सों ।
गणात्मक रूप :—
रँगरा तिहरी लहरा तिलता झुकिजा तिसमी रकझू कनिसों ।

जगण (८) सुखदाहरा (मंजरी)
३--कहाँ लगि लाल कछू कहिये इतनी सहिये सब रावरे काज ।
गणात्मक रूप:—
कहाँल गिलाल कछूक हियेइ तनीस हियेस बरा रकाज ।

देव ने अंत्यानुप्रास की सहायता से इन लहरियों में दुहरी लपेटें दे दी हैं—पहली पंक्ति मे 'घरी' और 'घुरी' तथा 'नीर' और 'समीर' पर, दूसरी पंक्ति में 'रंगराति' और 'झुकिजाति पर, तीसरी पंक्ति में 'कहिये' और 'सहिये' पर सवैया की स्वाभाविक लचक दुहरे बल खा जाती है, जिससे उसकी लय का संगीत गहरा हो जाता है । इसके अतिरिक्त वृत्यनुप्रास का माधुर्य्य भी एक कोमल झंकार उत्पन्न करता हुआ उसमें मधुर योग देता है ।

उपर्युक्त तीन गतियो में तुकांत के लघु-दीर्घ वर्णों की योजनाओं को बदल देने से सूक्ष्म वैचित्र्य उत्पन्न हो जाता है—इन्हीं के आधार पर तो इन भेदों के कई उपभेद कर डाले गये हैं। देव ने ११ प्रकार के सवैयाओं का सफलता-पूर्वक

प्रयोग किया है। किरीट में से अन्तिम लघु अक्षर हटा देने से वह चित्रपदा बन जाती है : 'आँखि को आधिक चौस रह्यो अरु आये न री, प्रिय प्रान अधार।' किरीट में जहां अन्त में दो छोटी छोटी चटुल लहरें पड़ती हैं वहां चित्रपदा के अन्तर्गत में एक झकोर लगती है। चित्रपदा का अन्तिम अक्षर उड़ा देने से वह मदिरा बन जाती है—और उधर मदिरा में एक गुरु और जोड़ देने से वह मत्तगयंद की परिचित लय में परिणत हो जाती है—'किंकिणि की झहरानि बुलावति, झूकनि सों झुकजानि कटी की।' इसमें लय जैसे अन्त में जाकर फैल जाती है। इसी प्रकार—दुर्मिल में कहीं एक गुरु कहीं एक लघु, और कहीं दो लघु जोड़ देने से सगण वाले सवैया के कईभेद हो जाते हैं। इनमें अक्षरों की संख्या की दृष्टि से ललित की लय—जिसमें ८ सगण और दो लघु होते हैं—सबसे लम्बी होती है :

'बिन गोकुलचंद अमावस-पावस भीषम-भीषम सेज सरंगिनि।' यहां छन्द का प्रवाह अपनी निश्चित गति पर बढ़ता हुआ अंत में जैसे बिखर कर सीमा से थोड़ा आगे चला जाता है। सवैया की लय में वैचित्र्य लाने के लिए अन्य प्रयोग हैं यति में परिवर्तन तथा गुरु मात्राओं का लघु उच्चारण जो स्वभावतः किसी नियम में न बँधकर भावाभिव्यक्ति के अनुसार स्वतंत्र है। यह उच्चारण वैचित्र्य का कारण इसलिए है कि दीर्घ को लघु चाहे कितनी ही सावधानी से पढ़ा जाये उसका उच्चारण शुद्ध लघु की अपेक्षा कुछ दीर्घ अर्थात् मध्यम ही रहता है। सवैया में साधारणतः यति का कोई नियम नहीं है, परन्तु फिर भी इतने बड़े छंद में श्वास के लिए विराम तो होने ही चाहिएँ। देव ने भाव के संकोच-प्रसार के अनुकूल इन विरामों की स्थिति रखी है—स्वभावतः एक ही लय में भिन्न भिन्न गतियाँ उत्पन्न हो गई हैं, उधर गुरु अक्षरों के लघु उच्चारण से यह वैचित्र्य और भी बढ़ जाता है :

S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I S
देव जु पै चित चाहिए चाह, तो नेह निबाहिए, देह मर्यो परै।

S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I S
ज्यों मुसुकाइ चुकाइये राह, अमारग जौ पग, धोखे धर्यो परै।

S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I S
नीचे में पीके है आंसु भरो कन, ऊँची उसास गर्यो तो भर्यो परै।

S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I S
गाढ़ो रूप पियो अँखियान, भर्यो सो भर्यो, उबर्यो सु ढर्यो परै।

इस छंद में पहली और दूसरी पंक्ति में यतियां एक ही क्रम से हैं—फिर भी मध्यम उच्चारणों के स्थिति-भेद से उनमें थोड़ा अन्तर पड़ ही गया है। तीसरी पंक्ति की यतियों से अंतर स्पष्ट है—यहाँ मध्यम उच्चारण ही अधिक आए हैं—और चौथी का क्रम तीनों से ही भिन्न है। यह भावाभिव्यक्ति की आवश्यकतानुसार आप से आप ही हो गया है, इसके लिए कवि को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा।

कवित्त (घनाक्षरी) :—घनाक्षरी का इतिहास भी सवैया के साथ जुड़ा हुआ है। सवैया की भाँति इसका भी प्रयोग प्रामाणिक रूप से सबसे पहले अकबर के शासनकाल में ही मिलता है। लिखित-साहित्य में नरोत्तमदास, गंग, बलभद्र, बीरबल, रहीम, तुलसी आदि की रचनाओं में ही घनाक्षरी का आरम्भिक रूप मिलता है। उनके पश्चात् केशव, सेनापति जैसे रीति-प्रिय कवियों ने उसको क्रमशः विकसित किया और अन्त में रीतिकाल में आकर वह अपने पूर्ण समृद्ध रूप को प्राप्त हो गया। कुछ कलाविदों की सम्मति में घनाक्षरी कवित्त हिन्दी का औरस पुत्र न होकर पोष्य पुत्र है—उनका अनुमान है कि बंगला के अक्षर-मात्रिक पयारछंद से जिसमें १४ अक्षर होते हैं और उनमें आठवें और चौदहवें अक्षर पर यति होती है, शायद इसको प्रेरणा मिली हो। इसके आविर्भाव के विषय में कवि पन्त का कहना है :—"सम्भव है, पुराने समय में भाट लोग इस छंद में राजा-महाराजाओं की प्रशंसा करते हों और इसमें रचना-सौकर्य पाकर तत्कालीन कवियों ने इसे धीरे धीरे साहित्यिक बना दिया हो।"—कवित्त की मूल प्रेरणा पयार छंद शायद रहा हो, पर उसका आविर्भाव इसी प्रकार पहले-पहल भाटों ने राजदरबारों में तत्काल ही प्रशस्ति बनाकर सुनाने के लिए किया होगा इसमें सन्देह नहीं। लिखित रूप के बजाय यह छंद मौखिक रूप में अधिक खुलता है।

कवित्त अनियमित-गण प्रायः ३१—३२ अक्षरों का छंद है। अक्षर संख्या के अतिरिक्त यह केवल यति का ही नियम स्वीकार करता है—साधारणतः ८, ८, ८, ७, या ८,८,८,८ अक्षरों पर यति होती है, परन्तु कहीं कहीं ८ के स्थान पर ७, ९ पर भी यति पड़ जाती है। कवित्त के नाद-सौन्दर्य के विषय में भी हिन्दी के दो सर्वश्रेष्ठ कला-मर्मज्ञों के विरोधी मत हैं। कवि पन्त की धारणा है कि "कवित्त छंद हिन्दी के इस स्वर और लिपि के सामञ्जस्य को छीन लेता है। उसमें यति के नियमों के पालन-पूर्वक चाहे आप इकत्तीस गुरु अक्षर रख दें चाहे लघु, एक ही बात है, छंद की रचना में अन्तर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को चाहे वह लघु हो या गुरु एक ही मात्रा-काल मिलता है, जिससे छंद-बद्ध शब्द एक दूसरे को झकझोरते हुए परस्पर टकराते हुए उच्चारित होते हैं, हिंदी का स्वाभाविक सङ्गीत नष्ट हो जाता। सारी शब्दावली जैसे मद्यपान कर लड़खड़ाती हुई, अड़ती खिंचती, एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है।" इसके विपरीत निराला जी का निश्चित विश्वास है कि "यदि हिंदी का कोई जातीय छंद चुना जाए तो वह यही होगा। × × कारण यह छंद चिरकाल से इस जाति के कण्ठ का हार रहा है। दूसरे इस छंद में एक विशेष गुण यह भी है कि इसे लोग चौताल आदि बड़ी तालों में तथा ठुमरी की तीन तालों में सफलता

पूर्वक गा सकते हैं, और नाटक आदि के समय इसे काफ़ी प्रवाह के साथ पढ़ भी सकते हैं। × × × इस छंद में Art of reading का आनन्द मिलता है।" [परिमल की भूमिका]

यह मत-वैपरीत्य वास्तव में इस छंद को दो विरोधी दृष्टिकोणों से परखने के कारण है। पन्तजी की सूक्ष्म-कोमल प्रकृति भाषा की ताल-झंकारों से खेलना पसन्द करती है। उधर निराला का ऊर्जस्वित स्वभाव नाद-गांभीर्य और ओज-प्रवाह में तैरना चाहता है। इसमें सन्देह नहीं कि कवित्त का स्वाभाविक प्रवाह ओज के अधिक अनुकूल है क्योंकि इस छंद में विस्तार काफ़ी है—मेघनाद-वध के ओज को वहन करने के लिए श्री मैथिलीशरण गुप्त ने इसी को समर्थ पाया, और निराला ने भी अपने ओजस्वी मुक्त छंद का आधार इसे ही बनाया है। रीतिकाल में और उससे पूर्व भी इस छंद का उपयोग तुलसी, भूषण, पद्माकर, चन्द्रशेखर वाजपेयी आदि ने भी वीर रस में किया है।—परन्तु फिर भी रीतिकाल तो शृङ्गार-काल था—वीर-रस की कविताएं इस युग में गिनी चुनी ही रची गईं। निदान इस छंद को भी शृंगार के ढाँचे में ढाला गया। इस कार्य को सम्पादित करने वाले कृती कवियों में देव का नाम अग्रगण्य है। इनसे पूर्व बलभद्र, केशवदास, सेनापति और मतिराम ने इस ओर सफल प्रयत्न किया था, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु शृंगारोचित पूर्ण मार्दव, लोच और झंकृति सबसे पूर्व देव ने ही उसे प्रदान की। फिर यह प्रक्रिया पद्माकर पर जाकर समाप्त हुई। कवित्त की लय को शृंगार के अनुकूल मधुर और मृदु बनाने के लिए देव ने प्रायः निम्नलिखित साधनों का प्रयोग किया है :—

(१) श्रुति-अनुप्रास-युक्त मधुर-कोमल वर्णों का प्रयोग।
(२) वीप्सा अलंकार की प्रचुरता।
(३) अन्त्यानुप्रास-युक्त पदों की आवृत्ति।
(४) लघु अक्षरों तथा ओ, ए, अ, आदि कोमल स्वरों का प्राचुर्य।

—ये प्रायः वे ही साधन हैं जो कवि ने भाषा की समृद्धि के लिए भी प्रयुक्त किए हैं।

अरुन उदोत, सकरुन ह्वै, अरुन नैन,
तरुनी-तरुन तन तूमत फिरत हैं।
कुंज-कुंज केलि कै नवेली बाल बेलिन सों,
नायक पवन बन झूमत फिरत हैं।
अंबकुञ्ज बकुल समीड़ि मीडि पाँडरनि,
मल्लिकानि मीडि, घने घूमत फिरत हैं।

द्रुमन द्रुमन दल घूमत, मधुप देव,
सुमन सुमन मुख चूमत फिरत हैं।

इस छंद में उपर्युक्त चारों गुण वर्तमान हैं। अरुन, सकरुन, श्ररुन, तरुन; केलि, नवेली, बेलि; पवन, वन; श्रंबकुल, बकुल; द्रुमन, सुमन में अंत्यानुप्रास की छटा है। इसके अतिरिक्त इसका तुकांत भी बहुत लम्बा है। कुंज कुंज, द्रुमन द्रुमन, सुमन सुमन आदि में वीप्सा है। श्रुत्यनुप्रास तो प्रायः सम्पूर्ण छंद में ही बिखरा हुआ है। उधर अन्तिम चरण का संगीत सर्वथा लघु वर्णों पर आश्रित है।

कवित्त के वैसे तो कई भेद हैं, परन्तु उनमें मनहर जिसमें ३१ अक्षर होते हैं और रूपघनाक्षरी जिसमें ३२ अक्षर और अन्त मे लघु होता है, मुख्य हैं। अन्य कवियो की भाँति देव ने भी ३१ वर्ण के मनहर का प्रयोग ही अधिक किया है। रूप-घनाक्षरी का उसकी अपेक्षा प्रयोग कम है—इनके अतिरिक्त उन्होंने ३३ अक्षरों का कवित्त भी लिखा है जो उनके ही नाम पर देव-घनाक्षरी नाम से प्रचलित है। देव ने अन्त्यवर्णों के क्रम को विशेष महत्व नहीं दिया। उन्होंने केवल अक्षरों की संख्या को ही मुख्य मानते हुए कवित्त के विभिन्न भेदों को एकत्रिंशाक्षरी, द्वित्रिंशाक्षरी तथा त्रित्रिंशाक्षरी नाम दिया है। ३३ अक्षर वाले कवित्त में लय बहुत ही अधिक खिंच जाती है जिससे श्वास को और भी अधिक 'दण्ड' मिलता है।

झिम-से घिरत चहुँघाई से घिरत घन,
आवत झिरत झीनें झरसों झपकि झपकि।

इसीलिए एक आध कवि को छोड किसी ने भी इसका प्रयोग नहीं किया। कवित्त के विशेषज्ञ रत्नाकर जी ने स्पष्ट शब्दों में इसकी निन्दा की है :—'देव कवि ने जो तीस तथा तेंतीस अक्षर के दो छंद घनाक्षरी भेद मे लिखे हैं, वह और कवियों के काव्य में विशेष देखने मे नहीं आते और कानों में भी वह विशेष रोचक नहीं ज्ञात होते।' [घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर पृ० ६]

कवित्त का केवल आधार लय है। उसमें गण, मात्रा आदि का कोई महत्व नहीं—और लय एक अत्यन्त सूक्ष्म-तरल तत्व है जो संगीत और ध्वनि-मैत्री पर आश्रित रहती है। यों तो कवित्त की लय पर अनुशासन करने वाले अनेक सूक्ष्म सिद्धांत हैं, जिनमें सम-विषम विचार काफ़ी महत्वपूर्ण हैं। यति-व्यवस्था का भी अपना महत्व है, परन्तु उसका आधार अपेक्षाकृत स्थूल है, इसीलिए कभी कभी उसका विचार न करने पर भी लय अक्षुण्ण रहती है। यति की स्थिति साधारणतः १६ और १५ या १६ अक्षरों के बाद और विशेषतः ८, ८, ८, ७ (या ८) के बाद मानी गई है। देव ने अन्य कवियों की भाँति चार यतियो के नियम पर

विशेष ध्यान नहीं दिया क्योंकि इस प्रकार कवित्त के 'मुक्तत्व' मे बाधा पड़ती है। आप उनका कोई भी छंद उठा लीजिए चार यतियों की व्यवस्था उसमें नहीं मिलेगी :—

रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठैं,
साँसे भरि आँसू भरि कहति दई दई।
चौंकि चौंकि चकि चकि औचकि उचकि देव,
थकि थकि बकि बकि उठति बई बई।
दुहुन के रूप गुन दोऊ बरनत फिरैं,
पल न थिरात रीति नेह की नई नई।
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधा मय,
राधा-मन मोहि मोहि मोहन मई भई।

लय और संगीत की दृष्टि से यह देव के अत्यन्त पूर्ण छंदों मे से हैं, परन्तु इसमें स्पष्ट ही ८ अक्षरों के उपरांत यति नहीं है।

ह्वै रहै कमल कमलाकर कमलमुखी, फूलनि मे फूलिकै खरीयै खिलि जाति है।
चित्रनि से चित्रते विचित्र होति चित्रिनी, अनूप चित्रसारी के सरूप हिलि जाति है॥

उपर्युक्त छंदांश में ८ अक्षर वाली यति को तो नियमित रूप से भंग किया ही गया है। तीसरी पंक्ति में १६ के स्थान पर १५ वर्णों पर यति दे दी गई है॥ यति के इस साधारण नियम का उल्लंघन भी देव ने कम नहीं किया। उन्होंने अनेक छंदों में १६ अक्षरों पर यति न देकर दो एक अक्षर इधर उधर कर दिए हैं :—

(१) सखिन के सोच गुरु-सोच मृगलोचनि— (१५ पर यति)
रिसानी पिय सौं जु उन नैक हँसि छुओ गात।
(२) एक कर आली कर ऊपर ही धरे—(१४ पर यति)
हरे हरे पग-धरै देव चलै चित चोरि चोरि।
(३) दूजे हाथ साथ लै सुनावति वचन—(१४ पर यति)
राज-हंसन चुनावति मुकुत माल तोरि तोरे।
(४) छोह भरी छरी-सी छबीली छिति माँहि—(१४ पर यति)
फूल छरी के छुवत्ति फूल छरी-सी छहरि परी।

इन उद्धरणों मे कहीं १५ और कहीं १४ पर यति दी गई है, और इस प्रकार साधारण *यति-नियम का भी पालन नही हुआ, परन्तु फिर भी लय में

---

* रत्नाकर जी ने स्पष्ट ही कहा है कि यति-नियम का विशेष महत्व नहीं है।
(घनाक्षरी नियम रत्नाकर)

दोष नहीं आने पाया। इसका कारण यह है कि देव ने सम-विषम की सूक्ष्म व्यवस्था पर पूरा ध्यान दिया है। प्रसिद्ध छंदःशास्त्रकार श्री भानु जी ने सम-प्रयोगों को सब से अधिक कर्णमधुर माना है। इसके अतिरिक्त "यदि कहीं विषम प्रयोग आजावे तो उसके आगे एक विषम प्रयोग और रख देने से उसकी विषमता नष्ट होकर समता प्राप्त हो जाती है और वे भी कर्णमधुर हो जाते हैं"। विषम के उपरांत सम और फिर विषम का प्रयोग छंद की लय के लिए घातक है। देव ने इन नियमों का बड़ी सूक्ष्म रीति से पालन किया है। उन्होंने पहले तो सम का ही प्रयोग अधिक किया है, जैसे :—

(१) फलि फलि, फूलि फूलि, फैलि, फैलि, झुकि झुकि।
(२) वारै कोटि इंदु अरविंदु रस विंदु पर।
(३) रीझे सुख पाऊँ औ न खीझे सुख पाऊँ।
मेरे रीझि खीझि एकै रंग राग्यो सोई रागि चुक्यो।

इसके अतिरिक्त विषम यदि कहीं आया है तो उसके उपरांत तुरन्त ही दूसरा विषम अनिवार्य्यतः आ गया है—जिससे संगीत की पूरी रक्षा हुई है :—

१—झपकि झपकि आईं कुंजें चहुँ कोदते।
२—हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
अजहूँ बसन देहु ब्रजमें बसन देहु।

वास्तव में इस प्रकार की व्यवस्था वीप्सा और अनुप्रास का प्रचुर प्रयोग करने वाले इस कवि के लिए सहज सुकर हुई है क्योंकि सम विषम की आवृत्ति और वीप्सा-अनुप्रास आदि दोनों का ही आधार अक्षर-मैत्री है। जैसा मैंने ऊपर कहा है देव ने इस नियम का सूक्ष्म रूप में निर्वाह किया है, स्थूल रूप में नहीं। अतएव सम प्रयोगों में केवल दो दो अक्षर वाले, और विषम प्रयोगों में केवल तीन तीन अक्षर वाले शब्द ही सर्वत्र नहीं प्रयुक्त किये गये। ऐसा करना भाव-प्रकाशन को एक अनावश्यक बंधन में जकड़ देना होता। इसलिए उन्होंने शब्दावली का प्रयोग तो स्वच्छन्दता से किया है, परन्तु उसमें अनुस्यूत लय के अन्तसूत्र को सर्वत्र ही सावधानी से अक्षुण्ण रखा है।

गोकुल की कुल-बधू को कुल सम्हारैं नहीं।
दो कुल निहारैं लाज नासी है री नासी है॥

यहाँ शब्दों के अनुसार सम विषम की व्यवस्था नहीं बैठती, परन्तु लय के अनुसार पढने से उसमें कोई त्रुटि नहीं मिलती :—

गोकुल कीकुल बधू कोकुल सम्हारैं नहीं।
दोकुल निहारैं लाज, नासी हैरी नासी है॥

इसी प्रकार—भूले हू न भोग, बड़ी बिपति वियोग बिथा।
जोग हूते कठिन संजोग पर नारी को।

—का लययुक्त रूप होगा—

भूले हू न भोग बड़ी बिपति वियोग बिथा।
जोग हूते कठिन संजोग पर नारी को।

—जो सम-विषम व्यवस्था के अनुसार नितांत शुद्ध है।

इनके अतिरिक्त रत्नाकर जी ने कवित्त की लय को ठीक रखने के लिए कुछ और भी सूक्ष्म नियम बनाए हैं, जिन में दो पर उन्होंने यथेष्ट बल दिया है :

'(१) छंद के आदि में और चार, आठ, बारह, सोलह, चौबीस तथा अट्ठाइस वर्णों के पश्चात् यदि कोई शब्द आरम्भ हो तो उसके आदि में जगण (ISI) तथा तगण (SSI) न पड़ने पावे।'

'(२) तीन, सात, ग्यारह, पन्द्रह, उन्नीस, तेइस और सत्ताइस अक्षरों के पश्चात् जो शब्द आवे और एक अक्षर से अधिक का हो तो उसके आरम्भ में लघु गुरु IS का होना आवश्यक है।'

[देखिए घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर]

लय की परख होने के कारण देव के छंदों में साधारणतः इन नियमों का पालन अपने आप ही हो गया है—परन्तु कहीं कहीं उनका उल्लंघन भी मिलता है :—

१—'संकेत सदन देव मदन विलास.....।' यहाँ आदि में तगण आ गया है और निश्चित ही लय में थोड़ी बाधा उपस्थित हो जाती है।

२—रूप की बनक मनि कनक नूपुर पाँय आइ गई झनक मनकनि झनकवार।

इस छंदांश में १५ अक्षर के उपरांत IS न आकर SI आया है, साथ ही अन्तिम अंश में यति की बड़ी गड़बड़ है जिससे लय विकृत हो गई है। परन्तु इस प्रकार के उदाहरण देव में बहुत कम ही हैं। उनके ग्रंथों का उचित संपादन अभी नहीं हुआ, इसलिए पाठ की अशुद्धि के कारण भी उनमें अनावश्यक छंद-दोष मिल जाते हैं, जिनके लिए वे उत्तरदायी नहीं हैं।

प्राचीन परिपाटी के कवियों में कवित्त पढ़ने की दो शैलियाँ प्रचलित हैं—एक तो भाटों वाली 'लुढ़कन' शैली है और दूसरी को 'पद्माकरी' शैली कह सकते हैं जिसको रत्नाकर जी ने अमर कर दिया है। पहली शैली की लय पहाड़ी ढाल पर [illegible] झरने के समान है, और दूसरी की समतल भूमि पर धारा में बहने वाले गौरवदार स्फीत वारि-प्रवाह के समान। इनमें स्पष्टतः पहली

शैली ही अधिक प्राचीन है। देव के अनेक छंदों के परीक्षण से स्पष्ट है कि उनकी लय पद्माकरी स्फीत शैली में नहीं बैठाई जा सकती, उदाहरण के लिए ऊपर उद्धृत 'फलि फलि, फूलि, फूलि फैलि फैलि, झुकि झुकि।

झपकि झपकि आईं कुंजे चहुँ कोद ते।'... छंद ही लिया जा सकता है इससे अनुमान होता है कि तब तक दूसरी शैली का जन्म नहीं हुआ था—'लुढकंत शैली का ही प्रचार था। और वास्तव में देव के कवित्तों की लय भी ढाल पर हलकी धार से बहने वाले पहाड़ी झरने के ही अधिक निकट है। स्फीत वारि-प्रवाह की मस्ती, जो पद्माकर या रत्नाकर की वाग्धारा में मिलती है, उनके कवित्तों में प्रायः कम ही है—उनके कवित्तों मे शृंगारोचित रुन-झुन ही अधिक मिलती है। कवित्त के विकास में उनका योग मुख्यतः यही है।

————

आदान-प्रदान

आदान—देव पर अन्य कवियों का प्रभाव—

कवि के लिए शक्ति के उपरान्त दूसरा सब से अधिक स्पृहणीय गुण साहित्यिक व्युत्पन्नता है। वास्तव में कवि की शक्ति का संस्कार अपने प्राचीन तथा समसामयिक साहित्य के अध्ययन और मनन से ही होता है—और उसी के द्वारा उसकी अभिरुचि का निर्माण भी होता है। देव के रीति-विवेचन पर भरत, दण्डी, और विशेष रूप से भानुदत्त तथा केशव का क्या और कितना प्रभाव पड़ा यह हम अन्यत्र दिखा चुके हैं—प्रस्तुत लेख में हमारा उद्देश्य देव के काव्य पर पड़े हुए पूर्ववर्ती कवियों के उन प्रभावों का विश्लेषण करना है जिनके द्वारा उनकी कवि-प्रतिभा का संस्कार तथा उनकी साहित्यिक अभिरुचि का निर्माण हुआ था।

शृंगार की मुक्तक-परम्परा का आरम्भ एक प्रकार से हाल की गाथा-सप्तशती से माना जा सकता है, उसके उपरांत अमरुशतक और फिर गोवर्धनाचार्य्य की आर्य्यासप्तशती इस परम्परा के विशिष्ट मार्ग चिह्न हैं। हिन्दी के प्रमुख मुक्तक कवि बिहारी ने अपने दोहों की रचना करते समय इनका आदर्श सामने रखा है। देव के काव्य का परीक्षण करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि वे संस्कृत साहित्य-शास्त्र तथा काव्य से भली भाँति परिचित थे और उपयुक्त तीनों ग्रन्थों का अध्ययन भी उन्होंने अवश्य ही किया था—परन्तु उनके छन्दों को ध्यान में रखकर, जैसा कि केशव बिहारी और पद्माकर आदि ने किया है, इन्होंने रचना नहीं की। केवल अमरु के ही अनेक छन्दों को बिहारी के दोहों तथा केशव, पद्माकर, आदि के छन्दों से मिलाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी रचना करते समय इन कवियों के मन में निश्चय ही अमरु के छंद घूम रहे थे और इन्होंने जान बूझकर उनको ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए दो छन्द पर्याप्त होंगे :—

> क्व प्रस्थितासि करभोरु घने निशीथे,
> प्राणाधिपो वसति यत्र निजः प्रियो मे।
> एकाकिनी वद कथं न बिभेषि बाले,
> नन्वस्ति पुंखितशरो मदनस्सहायः।
>
> (अमरु-शतक)

देखिए, इस छन्द के भाव और शब्दावली दोनों को ही केशव ने और उनसे भी अधिक पद्माकर ने कितने स्पष्ट रूप में ग्रहण किया है :—

× × ×

भारी भयकारी निशि, निपट अकेलो तुम ।
नाहीं प्राणनाथ साथ, प्रेम जो सहाई है ॥
(केशव, रसिक-प्रिया)

कौन है तू चली जाति किते, बलि बीती निसा अधि राति प्रमानै ।
हौं 'पद्माकर' भावती मैं, निज भावते पै अबहीं मोहिं जानै ।
तौ अलबेली अकेली डरै किन, क्यों डरूं मेरी सहाय न आनै ।
है मम संग मनोभव सो भट, कान लौं बान सरासन तानै ।
(पद्माकर, जगद्विनोद)

इसी प्रकार :— शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छलै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥
(अमरु-शतक)

× × ×

मैं मिसहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यौ ढिग जाय ।
हँस्यौ खिसानी गर गह्यौ, रही गरैं लपटाय ।
(बिहारी-सतसई)

गाथा-सप्तशती और आर्या-सप्तशती के विषय में भी यही सत्य है—पं० पद्मसिंह शर्मा के विवेचन से उनके प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है । गाथा-सप्तशती की शर्माजी ने केवल तीन-चार ही गाथाएं दी हैं, परन्तु उसकी आठ दस गाथाएं ऐसी हैं जिनका बिहारी ने एक प्रकार से रूपांतर करके रख दिया है । वास्तव में बिहारी ने अपने श्रृंगार-मुक्तकों की रचना करते समय उपर्युक्त तीनों ग्रंथों को आदर्श-रूप में सामने रखा है—इन्हीं के अनुकरण पर उन्होंने कहीं एक भाव, कहीं एक चमत्कार को लेकर समास शैली में दोहों का निर्माण किया है । इसीलिए शायद प्रयत्न करने पर भी वे इनके अर्थापहरण से नहीं बच पाए । देव के काव्य का आदर्श तथा उसकी प्रेरणा थोड़ी भिन्न थी, उन्होंने या तो लक्षण-उदाहरण देकर रीति-बद्ध कविता की है या फिर रीति-मुक्त होकर प्रेम के उद्गार व्यक्त किए हैं । अतएव उन पर इनका प्रत्यक्ष प्रभाव अपेक्षाकृत नगण्य ही है—गाथा-सप्तशती में एक भी गाथा ऐसी नहीं है जिसके विषय में यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सके कि देव ने अपने किसी भी छन्द में इसका अर्थापहरण किया है । केवल दो तीन गाथाएं ऐसी मिलती हैं जिनका कि देव के छंदों से भाव-साम्य है:—

(१) ❀ रुग्रं अच्छीसु ढिग्रं फरिसो अङ्गेसु जम्पिग्रं कएणे ।
हिग्रग्रं हिग्रए णिहिग्रं विग्रोइग्रं किं त्थ देव्वेण । (१३२)

सावरो रूप रह्यो भरि नैननि, बैननि के रस स्यों श्रुति सानो।
गात में देखत गात तुम्हारेई, बात तुम्हारिये बात बखानो।
ऊधो ह हा हरि सों कहियो तुम, हौ न इहां यह हौं नहिं मानो। (देव)

× × × ×

(२) एक्केक्कभवइवेठण विवरन्तर दिएणतरलणग्रणाए।
तइ वोलन्ते वालग्र-पंजरसउणा इग्रं तीए। (२२०)

फेरि फेरि हेरि मगु बात हित बंछी पूछे,
पंछी हू मृगंछी जैसे पंछी पींजरा पर्यो। (देव)

परन्तु इन छन्दों के विषय में निश्चय-पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि देव इनके भाव उपर्युक्त गाथाओं से ही लिए हैं।—जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट होगा केशव तथा बिहारी आदि में भी ये भाव मिलते हैं, और यह सम्भव है देव ने उन्हे वहीं से लिया हो।

अब अमरु-शतक को लीजिए। अमरु-शतक की प्रतिष्ठा संस्कृत साहित्य में उपर्युक्त दोनो सप्तशतियों से भी अधिक है। रीति-ग्रंथों में उदाहरण रूप उसके छंद भरे पड़े हैं। हिंदी कवियो पर उसका प्रभाव कितना अधिक रहा है यह अभी दिखाया जा चुका है। वास्तव मे केशव, मतिराम, बिहारी, पद्माकर आदि रीति-काल के सभी प्रमुख कवियो पर उसका गहरा प्रभाव है—और इस सूची में विद्या-पति, सूर आदि को भी सरलता से अंतर्भूत किया जा सकता है। परन्तु जहाँ तक देव का सम्बन्ध है उनके एक भी छंद पर उसके किसी पद्य-रत्न की स्पष्ट छाया नहीं मिलती। अमरु के केवल तीन छंद ऐसे हैं जिनके भाव का हलका-सा प्रतिबिम्ब अथवा एकाध पंक्ति की प्रतिध्वनि का आभास-सा देव मे मिलता है : भाव का प्रतिबिम्ब :—

❀ (१) रूपमक्ष्णोः स्थितस्पर्शोऽङ्गेषु जल्पितं कर्णे।
हृदय हृदये निहित वियोजितं किमत्र दैवेन॥

आँखों में रूप [समाया हुआ] है अंगो में स्पर्श [रमा हुआ] है, कानो में वाणी [गूंज रही] है, हृदय में हृदय निहित है; फिर विधाता ने वियोग ही किसका किया है।

(२) एकैकवृतिवेष्टनविवरान्तरदत्ततरलनयनया।
त्वयि व्यतिक्रान्ते वालक पंजरशकुनायितं तया॥

तेरे चले जाने पर एक एक आवरण के विवरों में तरल दृष्टि डालती हुई, वह पिंजरबद्ध शकुन जैसी हो गई।

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे, पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्यानयने पिधाय-विहित क्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रिमकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तो परां चुम्बति । १६ ।

खेलत फागु खिलार खरे अनुराग भरे बड भाग कन्हाई ।
एकही भौन में दोउन देखिके देव करी यक चातुरताई ।
लाल गुलाल सों लीनी मुठी भरि बाल के भाल की ओर चलाई ।
वा दृग मूंदि उतै चितये इन भेंटी इतै बृषभान की जाई । [देव]

इन दोनो पद्यो में कनिष्ठा के नेत्र बंदकर ज्येष्ठा को चूमने या आलिंगन करने का भाव मात्र ही समान हैं, वैसे प्रसंग-विधान सर्वथा भिन्न है । हो सकता है कि देव के मन मे अमरु के उपर्युक्त छंद की छाप रही हो, परन्तु निश्चय-पूर्वक इसका प्रभाव मानना उचित नही होगा क्योंकि ऐसी चातुरताई तो ज्येष्ठा-कनिष्ठा के लक्षण मे ही निहित है । इसके विपरीत आप देखिए कि पद्माकर ने अमरु के छंद का ज्यों का त्यो अनुवाद ही कर डाला है ।

२—'दोऊ छबि छाजती छबीली मिलि आसन पै जिनहिं बिलोकि रह्यो जात न जितै जितै । कहै पद्माकर पिछौंहैं आइ आदर सो छलिया छबीली छैल बासर बितै बितै । मूंदे तहां एक अलबेली के अनोखे दृग सुदृग मिचाउनी के ख्यालन हितै हितै । नेसुक नवाइ ग्रीवा धन्य धन्य दूसरी को औचक अचूक मुख चूमत चितै चितै ।' जगद्विनोद के इस छंद में भावानुवाद ही नहीं शब्दानुवाद भी है, पद्माकर ने 'ईषद्वक्रिमकन्धरः' को भी नही छोडा । स्फुट पंक्तियों की प्रतिध्वनि :—

(१) दीर्घावन्दनमालिका विरचिता दृष्ट्यैवनेन्दीवरैः
पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः।
दत्तस्वेदमुचा पयोधरयुगेनार्घ्यो न कुम्भांभसा ।
स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मंगलम् । [४०]

पहली पंक्तिकी प्रतिध्वनि देव में इस प्रकार मिलती है:
सखियान के आनन इन्दुन ते अँखियान की बन्दनवार तनी ।

परन्तु यह भी दूर की कौड़ी ही लगती है—यह भाव अमरु से पूर्व भी कालिदास आदि मे आया है । कुछ भी हो देव की उपर्युक्त पंक्ति में अधिक से अधिक अमरु की एक क्षीण प्रतिध्वनि के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जा सकता । हाँ, देव से पूर्व मतिराम ने अवश्य इस भाव को इच्छा-पूर्वक ग्रहण किया है ।

पिय मिलाप के हेत तिय सजे उछाह सिंगार ।
दृग-कमलनि के द्वार पै बाँधे वन्दनवार ॥ [मतिराम-सतसई]

यह भी सम्भव है कि देव ने यह प्रतिध्वनि मतिराम से ही ग्रहण की हो।

[२] लाक्षालक्ष्मललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रागले
वक्त्रे कज्जल-कालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोदयः।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः। ८८।

अंजन अधर उर बीच नख-रेख लाल, जावक-तिलक भाल लाग्यो अध माँग के।
भौंहें अलसौंहें पल सौंहें पगे पीक रंग, राति जगे रति मैन मदन सुहाग के। [देव]

यहाँ भी अमरु का निश्चित आभार नहीं माना जा सकता, क्योंकि उपर्युक्त सभी चिह्न खण्डिता के लक्षण में ही सन्निहित रहते हैं। केशव, बिहारी, मतिराम आदि देव के पूर्ववर्ती कवियों ने भी इसी सामग्री का प्रयोग किया है। वास्तव में जैसा कि आगे दिखाएंगे, उपर्युक्त पद्यांश पर बिहारी के एक दोहे का ही सीधा प्रभाव पड़ा है।

कहने का तात्पर्य्य यह है कि अमरु का सीधा प्रभाव देव पर नहीं माना जा सकता, परन्तु उनकी कारयित्री प्रतिभा का संस्कार करने में हाल की तरह अमरु का भी हाथ है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। आर्या-सप्तशती का प्रभाव अपेक्षाकृत और भी कम है—वास्तव में उसकी कविता इन दोनों की अपेक्षा हीन है। उसमें समय के प्रभाव-वश चमत्कार तथा अतिशय आदि को अधिक महत्त्व दिया गया है, जो देव की रुचि के अधिक अनुकूल नहीं पड़ता।

दयितप्रहितां दूतीमालम्ब्य करेण तमभि गच्छन्ती।
स्वेदच्युतमृगनाभिदूराद्गौरांगि दृश्यासि॥ [आ० स०]

देव दुरियत न अँध्यारे अध रातहू के,
गात हू छिपाये पूछे पाहरु पकरि कै।
× × ×
कासरि करंग-सार केसरि कुसुम सार।
आस पास घने घन-सारनि परसि कै। [देव, सुख-सागरतरंग]

उपर्युक्त दोनों पद्यों में शरीर की कान्ति और मृगमद के द्वारा नायिका के लक्षित हो जाने का भाव ही समान है। साधारणतः गोवर्धन की एक भी आर्या का अर्थ देव ने ग्रहण नहीं किया।

संस्कृत के स्फुट पद्यों की छाया

इनके अतिरिक्त संस्कृत के कुछ स्फुट पद्यों की छाया भी देव में यत्र-तत्र मिल जाती है। कालिदास का एक पद्य है:

पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शनानाम्
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरंगनानाम् । [रघुवंश]

मैथिली को देखती हुई पुरांगनाओं के नेत्रों ने अयोध्या की अट्टालिकाओं के गवाक्षों में कमल से खिल उठे थे।—देव इसी भाव को ग्रहण करते हुए लिखते हैं :—

अनुराग के रंगनि रूप तरंगनि, अंगनि ओप मनो उफनी।
'कवि देव' हिये सियरानी सबै, सियरानी को देखि सुहाग सनी।
वर धामनि वाम चढ़ी बरसैं, मुसकानि सुधा घनसार घनी।
सखियान के आननि इंदुन तें, अंखियान की बंदनवार तनी।

बन्दनवार शब्द से अभिव्यक्ति में थोडी वक्रता आ गई है, परन्तु भाव की आत्मा वही है, इसके अतिरिक्त प्रसग में भी बहुत कुछ साम्य है।

देव का निम्नलिखित पद्य मरण के चमत्कार-पूर्ण उदाहरण के रूप से अत्यन्त प्रसिद्ध है :—

साँसन ही सो समीर गयो अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
देव जियै मिलिबेई की आस कि आस हू पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

इस पर स्पष्ट ही प्रसन्नराघवकार कवि जयदेव के इस छंद का प्रभाव है :—

मांसं कार्श्यादभिगतमपां बिन्दवो वाष्पपातात,
तेजः कान्तापहरणवशाद्वायवः श्वास-दैर्घ्यात्।
इत्थं नष्टं विरहवपुषः तन्मयत्वाच्च शून्यम्,
जीवत्येवं कुलिशकठिनो रामचन्द्रः किमेतत्॥
[प्रसन्नराघव]

यहां प्रसंग सर्वथा भिन्न है, मूलभाव मे भी कोई साम्य नहीं है, परन्तु संस्कृत पद्य के भाव-खण्डो को देव ने ज्यो का त्यो ग्रहण कर लिया है—'अपां बिन्दवः वाष्पपातात' और 'आंसुन ही सब नीर गयो ढरि' एक ही बात है, इसी तरह 'वायवः श्वास दैर्ध्यात्' और 'साँसन ही सो समीर गयो' मे कोई अन्तर नहीं है। इसके अतिरिक्त तेज और भूमि का भी उल्लेख दोनो मे है, परन्तु प्रयोग मे थोडा अंतर है। यहाँ भी देव ने थोडी वक्रता की वृद्धि अवश्य की है, परन्तु प्रसंग और भाव की गंभीरता जो जयदेव के पद्य मे है वह देव के छंद में नहीं है।

प्राकृत और अपभ्रंश के भी एकाध पद्य की छाया देव में कहीं कहीं मिल जाती है। उदाहरण के लिए विरह की कृशता-विषयक यह मनोहर अत्युक्ति स्पष्ट ही अपभ्रंश के एक दोहे से प्रभावित है :—

लाल विना विरहाकुल बाल वियोग की ज्वाल भई जरि मूरी।
पौन औ पानी सो प्रेम कहानी सो पान ज्यों प्रानिनि राखत हूरी।
देवजू आजु मिलाप की औधि सो बीतत देखि विसेख बिसूरी।
हाथ उठायो उड़ायिबे कों उडि कागगरे गिरीं चारिक चूरी॥

× × ×

* वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड़त्ति॥

यह दोहा हेमचन्द्र का है, (प्रियतम के आने का शकुन विचारती हुई) प्रोषित-पतिका कौए को उड़ा रही थी कि इतने में सहसा प्रिय दिखलाई पड़ गया। (विरह की कृशता के कारण) उसकी आधी चूड़ियाँ पृथ्वी पर गिर पड़ीं और आधी (खुशी से फूल जाने के कारण) चटक कर टूट गई। देव ने इस दोहे का एक भाव ही ग्रहण किया है और वही वास्तव में अधिक करुण भी है, दूसरे में शक्ति होते हुए भी स्वाभाविकता की कमी है और इसीलिए 'स्वभाव' के प्रेमी कवि ने उसे ग्रहण नहीं किया। विरह की कृशता के कारण हाथों से वलय या चूड़ी गिरने का भाव संस्कृत में बहुत पुराना है। शाकुन्तलम् में दुष्यंत कहता है, 'कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसा ते'। उधर यक्ष के साथ भी यही हुआ, उस बेचारे का भी कनकवलय प्रकोष्ठ से गिर जाता है :—'नीत्वा मासान् कनक-वलय-भ्रंशरिक्त-प्रकोष्ठः।'

इस प्रकार के कुछ और समानान्तर पद्य उद्धृत किए जा सकते हैं, परन्तु वे अनावश्यक होंगे। उपर्युक्त विवेचन के ही आधार पर यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि देव ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के मुक्तक शृंगार-साहित्य का अध्ययन किया था, और उसके संस्कार उनके काव्य में वर्तमान हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि देव ने संस्कार मात्र ही ग्रहण किए हैं—सचेष्ट होकर संस्कृत और प्राकृत के किसी कवि का अनुकरण उन्होंने नहीं किया। भानुदत्त की रस-तरंगिणी और रस-मंजरी से उन्होंने रीति-विवेचन सम्बन्धी बहुत-सी बातें

---

* दास ने इस दोहे का ज्यों का त्यों अनुवाद करके रख दिया है :—
"दास कहै ता समै सुहागिनि को कर भयो वलया विगत दुहूँ बातन प्रसंग ते।
आधिक दरकि गई विरह की छामता तें, आधिक तरकि गई आनंद उमंग तें।"

ग्रहण की हैं, परन्तु उदाहरण सर्वत्र अपने ही दिए हैं। हमने दोनो को साथ रखकर पढ़ा है, मुश्किल से उनके एकाध छंद पर भानुदत्त के उदाहृत छंद की छाया का आभास मिलता है, जैसे—

सङ्केत-केलिगृहमेत्य निरीक्ष्य शून्य-
मेणीदृशो निभृतनिःश्वसिताऽधरायाः।
अर्धाक्षरं वचनमर्धविकाशि नेत्रं
ताम्बूलमर्धकवलीकृतमेव तस्थौ॥

(रस-मञ्जरी, मध्या विप्र०)

प्यारी संकेत सिधारी सखी सँग स्याम के काम सँदेसनि के सुख।
सूनौ इतै रंगभौन चितै चितमौन रही चकि चौंक चहूँ रुख।
एकही बार रही जकि ज्यो कि त्यो औंधनि तानि कै मानि महादुख।
देव कछू रद बीरी दबी री सु हाथ की हाथ रही मुख की मुख।

[सुजानविनोद, विप्रलब्धा]

यही बात कृष्णमिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय के विषय मे भी कही जा सकती है। देव-माया-प्रपंच पर उसकी शैली का प्रभाव अवश्य है, परन्तु उसके किसी पद्य की छाया देव ने ग्रहण नहीं की।

देव और उनके पूर्ववर्ती हिन्दी कवि :—

हिन्दी कवियो के विषय मे उपयुक्त कथन इतनी सचाई से नही घटता। देव से पूर्व हिन्दी मे सैकडों रससिद्ध कवि हो चुके थे, और उनमे अनेक अत्यन्त प्रसिद्धि पा चुके थे। इनमे से कृष्णभक्त कवियों तथा रीति-कवियो की रचनाओ से ही देव की कविता का साम्य बैठता है और तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि देव इनसे प्रभावित अवश्य हुए है। जहां तक कृष्ण-भक्त कवियों का सम्बन्ध है वहाँ तक तो हमारी धारणा यही है कि उनका प्रभाव प्रायः अप्रत्यक्ष ही है—देव के काव्य संस्कारो के निर्माण में ही उनका हाथ अधिक रहा है। परन्तु रीति-कवियों का प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष है, वे देव के मन मे आदर्श रूप से वर्तमान रहे हैं। कृष्णभक्त कवियो की परम्पराएँ तो विद्यापति से ही आरम्भ हो जाती हैं, परन्तु विद्यापति का प्रचार पश्चिम की अपेक्षा पूर्व मे ही अधिक रहा। उनका प्रत्यक्ष प्रभाव बंगाल के वैष्णव कवियो पर जितना पड़ा उतना हिन्दी के कवियों पर नहीं। सूर आदि प्राचीन कृष्णभक्त कवियों पर उनकी गीति-शैली का प्रभाव अवश्य पड़ा, परन्तु वे इन प्रान्तों में लोकप्रिय कभी नहीं हुए। विद्यापति वास्तव में बंगला के ही कवि समझे जाते रहे। हिंदी के कवि रूप में तो वे बहुत कुछ आधुनिक युग के ही अनुसन्धान हैं। अठारहवी शताब्दी में

पश्चिमीय प्रान्तों में उनका कोई विशेष प्रचार नहीं था, अतएव देव पर उनका कोई प्रभाव नहीं माना जा सकता। कहीं-कहीं देव की और उनकी कुछ पंक्तियों मे जो थोड़ा-* भाव-साम्य मिल जाता है, वह या तो आकस्मिक है और या फिर इस कारण से है कि दोनों मे एक ही प्राचीन संस्कृत कवि की प्रतिध्वनि है।

सूरदास

विद्यापति के उपरांत सूर आते हैं, जिनका सूर-सागर भक्ति-शृंगार की कविता का सागर है। हिन्दी का कोई भी मध्यकालीन शृंगारी कवि सूर के प्रभाव से नहीं बच सका, उनका काव्य संयोग-क्रीडा, उपालम्भ तथा विरह का अमित भाण्डार है और प्रकारान्तर से प्राय: सम्पूर्ण नायिका-भेद भी उसमें आ जाते हैं।

देव ने भक्ति और कविता दोनों की दृष्टि से सूर-सागर का पारायण किया होगा। उन्होंने इन सभी प्रसंगों को ग्रहण किया है और उनकी अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों पर सूर की छाप है। प्रेम के करुण मर्म को अभिव्यक्त करने वाला सूर का यह दोहा देव ने ज्यों का त्यों ले लिया है :

बांह छुड़ाये जात हो निबल जानि कै मोहिं।
हिरदै ते जब जाहुगे, मरद बदौंगो तोहि॥ (सूर)
ऊधो इहा हरि सों कहियो तुम, हौ न यहाँ यह हौं नहि मानौं।
या तन तैं बिछुरे तो कहा, मनतैं अनतैं जो बसौ तव जानौं॥ (देव)

इसके अतिरिक्त उनके खण्डिता आदि के चित्रों पर, रासलीला एवं अन्य संयोग-क्रीडाओं के वर्णनों तथा उद्धव-प्रसंग आदि पर, सूर का गहरा प्रभाव है। आप देखिए कि देव ने ही नहीं रीतिकाल के अन्य कवियों ने भी सूर की काव्य-सामग्री का कितना अधिक उपयोग किया है।

---

* सैसव जौवन दुहु मिलि गेल
स्रवनक पथ दुहु लोचन लेल। (विद्यापति—पदावली)
कटिक गौरव पाओल नितम्ब
एक क खीन अओक अवलम्ब। (विद्यापति प०)
कानन की ढिग ह्वै दृग दौरत चातुरी चाउ चवाउ पसारो।
दाम्यो दुहूँन दुहूँ दिशि ते भयो दूबरा सो दवि लंक बिचारो। (देव)
पंकज मधु-पिबि मधुकर रे
उड़ए पसारल पांखे। (विद्यापति)
वेगि ही बूड़ गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी। (देव)

खण्डिता के चित्र :—

गात ते गिरत फूल पलटे दुकूल अनुराग अनुकूल भाग जागे बड़ भाग के।
अंजन अधर बीच नख रेख लाल लाल जावक तिलक भाल सवन सुहाग के।
भौंहें अलसौंहैं पलसौंहैं पगे पीक रस रँग मग नैन रैनि जागे लगे लाग के।
काहे को लजात जलजात से बदन मोंहि महा सुखदेत आए देव पेंच पाग के।
(देव)

भोरही आए मया करि मोपर बैठिए दर्पण देति मंगाए।
ओंठन अंजन लीक लसै दृग देव दुहूं पल पीक लगाए।
अंगन में अगरे अगरे गुण बाल गरे रँग रैनि रँगाए।
को इन लोइन लाल लखे जिन्ह कोइन लोइन ल्याये लगाए (देव)
पीक भरी पलकैं झलकैं अलकैं जु गड़ी सु लसैं भुज खोज की।
छाय रही छवि छैल की छाती मैं छाप बनी काहू ओछे उरोज की। (देव)

उपर्युक्त चित्रों की सम्पूर्ण सामग्री सूर में मिलती है। लाला भगवानदीन ने, जिसको बिहारी का माल समझा है,—वह सूर का (और वास्तव में सूर का भी नहीं संस्कृत के कवियों का, तथा भागवत आदि का) है।

१. प्यारी चितै रही मुख पिय को।
अंजन अधर कपोलनि बंदन लाग्यो काहू तिय को।
तुरत उठी दरपन कर लीन्हे देखौ बदन सुधारा॥

× × ×

२. चन्द्रावलि धाम स्याम भोर भये आये।

× × ×

रिस नहीं सकी सम्हारि बैठि चढ़ी द्वार बारि ठाढ़े
गिरिधारि निरखि छबि नख सिख ही तें।
बिन गुण बनी हृदय माल ता बिच नख छत रसाल
लोचन दोउ दरसि लाल जैसी रुचि बाढ़ी।
जावक रँग लग्यो भाल चंदन भुज पर बिसाल
पीक पलक अधर झलक बाम प्रीति गाढ़ी।
क्यों आए, कौन काज नाना करि अंग साज,
उलटे भूषन सिंगार निरखत हौं जाने।
ताही के जाहु श्याम जाके निसि बसे धाम
मेरे घर कहा काम सूरदास गाने॥

३. लाल उनींदे लोचना आलस भरि आए।
अरुम्फि काम की बेलि सों कौने बिलमाए।
सिथिल पेच सिर पाग के जावक रँग भीने।
लाली मेरे लाल की सब तनु ढोलें।

× × ×

४. आये लाल जामिनी जागे ते भोर।
नील कलेवर कोमल उर पर गड़ि गये कुच जु कठोर॥

× × ×

५. आजु हरि रैनि उनींदे आए।
बिनु गुन माल बिराजति उर पर, चन्दन रेख लगाए।
अंजन अधर लिलाट महावर नयन तमोर खवाए।
मगन देह सिर पाग लटपटी जावक रंग रंगाए।
नख रेख विराजति हृदय सुभग कंकन पीठि बनाए।

[सूर-सागर-खण्डिता-वर्णन]

× × ×

देव की खण्डिता की यह युक्ति अत्यन्त करुण है :—

भारे हौ भूरि भराई भरे अरु भांतिन भाँतिन कै मनभाये।
भाग बडो बरु भामती को जेहि भामते लै रँग भौन बसाये।
भेष भलोई भलो विधि सो करि भूलि परे किधौं काहू भुलाये।
लाल भले हो भली सिख दीन्हीं भली भई आजु भले बनि आये॥

परन्तु यह भी सूर की उक्ति की प्रतिध्वनि है :

धन्य आजु यहि दरस दियो।
धन्य धन्य जासो अनुरागे तब जानी नहि और बियो।
भले श्याम वह भली भावती, मिले भले मिलि भली करी।

[सूर—सागर खण्डिता वर्णन]

× × ×

इसे बिहारी ने भी ग्रहण किया है। देव के मन मे उपर्युक्त छंद की रचना करते समय शायद 'सूर और बिहारी' दोनों के ही संस्कार वर्तमान थे।

रास-लीला :—देव के रास-लीला के वर्णन भी सूर से काफ़ी प्रभावित हैं। लीला का आरम्भ होते ही गोपियों की दशा का चित्रण लीजिए :—

घोर घरु नीजन विपिन तरुनी जन ह्वै
निकसी निसंक निसि आतुर अतंक मैं।
गनै न कलंक मृदु लंकनि सयंक-मुखी
पंकज पगन धाई भागि निसि पंक मैं॥
भूषननि भूलि पैन्हें उलटे दुकूल देव
खुले भुजमूल प्रतिकूल विधि बंक मैं।
चूल्हे चढे छांड़े उफनात दूध भांडे उन
सुत छांडे अंक पति छांडे परजंक मैं॥ (देव)

मंजन अंजन अंग श्रृंगार। पट भूषण छूटो परिवार॥ रास रसिक गुण गाय हौं। एक,दुहावत तैं उठि चली। पति सेवा कछु करि न भली॥ उतकण्ठा हरि सों बढ़ी। उफनत दूध न धर्यो उतारि। सीपी थुलही चुलहैं डारि॥ पुरुष तजे जेंवत हुवे। पै प्यावत बालक धरि चली। पति-सेवा कछू न करि भली। धर्यो रह्यो भोजन भलो॥

[सूरसागर-रासलीला]

गोपियों की आतुरता के लिए देव ने पावस नदी की उपमा दी है :
'पावस-नदी-सी ग्रह पावस नदी सो परैं उमडी असंगत तरङ्गित उरनि सों।'
यह उपमा भी सूर की ही है—'जैसे जल-प्रवाह भादौं को सो को सकै बहोरि।'
रास का वर्णन करते हुए देव कहते हैं :—

× × ×

कंकन किंकिनि रव नूपुर अनूप सुर,
मुरली मधुर रस भीने रव झोंकि कै।
बीच-बीच बाम बीच बीच स्यामसुन्दर,
ज्यौं बीजुदाम श्याम घन देव वरि घोंकि कैं॥ (देव)

× × ×

सूर ने भी इन बातो का इसी रूप मे उल्लेख किया है :—
कंकन चुरी किंकिनी नूपुर पग जनि बिछिया सोहत।
अद्भुत धुनि उपजत इन मिलि कै अमि अमि इत उत जोहत॥

× × ×

मध्य श्याम घनतड़ित भामिनी अति राजति शुभ जोरी।
[सूर, सूर-सागर-रास-लीला]

× × ×

श्याम के अंतर्हित हो जाने पर गोपियों की क्या दशा होती है। पहले यह देव से सुनिए और फिर सूर से :—

कालिन्दी के कूलनि तरुन तर मूलनि निहारि हरि अङ्ग के दुकूलनि उघेरतीं।
मल्ली मलै मालती नेवारी जाती जूथी देव अंवकुल बकुल कदम्बन मैं हेरतीं॥
ताल दै दै तालनि तमालनि मिलत फिरैं बोलि-बोलि बाल भुज भेंटि भट भेरतीं।
पुलके पुलकि पुलननि मैं पुलोमजा सी बिलपि बिलोकि कान्ह-कान्ह कर टेरतीं॥
[देव-चरित्र]

मोहन मोहन कहि कहि टेरें कान्ह हवौ यहि बन मेरे।

× × ×

ढूंढ़त हैं द्रुम बेली बाला भई बेहाल करति अवसेरे॥

× × ×

कहि धौंरी बन बेलि कहूँ तुम देखे हैं नँद नंदन।
बूझहु धौं मालती कहूँ तैं पाये हैं तनु चंदन॥

× × ×

रास लीला के अतिरिक्त सुरति, दानलीला, तथा देव-चरित के गोवर्धन-धारण आदि प्रसंगों मे भी देव ने सूर से भाव तथा घटनाओं के संकेत ग्रहण किए हैं। प्रणय-परिहास का वह मधुरचित्र, जिसमें गोपियां राधा को राजपौरिया बनाकर कृष्ण को छकाती हैं, सूर से ही ग्रहण किया गया है।

अंत मे, मिश्रबन्धु-प्रशंसित देव की प्रसिद्ध उपमा—

"गोरो गोरो मुख आज ओरो सो बिलानो जात"—भी सूर में मिलती है। "अब सुन सूर-स्याम के हरि बिनु गरत गात जिमि ओरे।"—यह उपमा सूर से शायद आलम ने ली और आलम से शायद देव ने—'ओरे-सी बिलाति है जू'—'बिलाति' शब्द इस अनुमान को पुष्ट करता है।

इस प्रकार और भी अनेक स्फुट उदाहरण देकर देव पर सूर का प्रभाव दिखाया जा सकता है, परन्तु वह अनावश्यक होगा। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देव ने सूर की सामग्री का प्रचुर प्रयोग किया है। परन्तु एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि सूर को आदर्श रूप में सामने रखकर उन्होंने कविता नहीं की। उनके काव्य का सामग्री के भाण्डार रूप में उपयोग किया है।

रसखान

सूर के अतिरिक्त दूसरे कृष्ण-भक्त कवि, जिनका देव पर गहरा प्रभाव है, रसखान हैं। सूर और अष्टछाप के अन्य कवियों की कविता में कृष्ण के वस्तुगत

और भावगत दोनों रूपों को ही ग्रहण किया गया है, परन्तु रसखान ने उनके एकांत भावगत रूप को अपना कर कृष्ण-काव्य को शुद्ध आत्मगत गीति-तत्त्व प्रदान किया है। उनके एक-निष्ठ प्रेम की तीव्रता और तन्मयता का प्रभाव स्पष्ट ही प्रेमी कवि देव की कविता पर पडा है, उनके आत्मतत्व को देव ने रुचिपूर्वक अपनाया है। इसी आत्म-तत्त्व के कारण तो देव की शृंगार-भावना रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों से इतनी भिन्न है। रसखान का प्रभाव देव के काव्य की आत्मा पर है, और तभी उनमें स्थान-स्थान पर रसखान के छंदों की स्पष्ट प्रतिध्वनि मिलती है।

[१] देव का निम्नलिखित छंद रूप-लोभ को अभिव्यक्ति का अत्यन्त उत्कृष्ट नमूना है :—

धार में धाइ धँसीं निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसी न अबेरी।
री अँगराइ गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न घिरीं नहिं घेरी।
देव कछू अपनो वसु ना, रसु लालच लाल चितै भईं चेरी।
वेगि ही बूडि गईं पंखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।

आप देखिए इसमें रसखान के एक ऐसे ही छंद की कितनी स्पष्ट प्रतिध्वनि है :—

प्रेम पगे जु रँगे रँग साँवरे, मानैं मनाइ न लालची नैंना।
धावत हैं उतही जित मोहन, रोके रुकैं नहिं घूँघट ऐना।
कानन लौं कल ना हिअरे सखि, प्रीति सो भीजि सुने मृदु बैंना।
ह्वै रसखान मधू मखियाँ, अब नेह सु बंधन क्योंहू छुटै ना।

[रसखान और घनानंद]

रसखान से पूर्व नन्ददास ने भी इस उपमा का प्रयोग किया है।

कोऊ पिय को रूप नैन भरि उर धरि आवत।
मधुमाखी ज्यों देखि दसों दिसि अति छवि पावत॥

[रासपन्चाध्यायी]

उपर्युक्त पद्यों में मूलभाव के अतिरिक्त अभिव्यन्जनाओं में भी गहरा साम्य है।

कुछ उदाहरण और लीजिए :—

[२] रसखान—तौ रसखानि सनेह लग्यौ कोउ एक कह्यौ कोउ लाख कह्यौ री।
और तो रंग रह्यो न रह्यो इक रंग रंगी सोई रंग रह्यो री।

[रसखान-पदावली]

× × ×

देव— रीझे सुख पाऊँ औ न खीझे सुख पाऊँ,
मेरे रीझ-खीझ एकै रंग राग्यौ सोई रागि चुक्यौ ।

× × ×

लोगन लगायो सो तो लाग्यो अनलाग्यो देव ,
पूरो पन लाग्यो मन लाग्यो सोई लागि चुक्यौ ।

[३] रसखान—भले बृथा करि पचि मरौ, ज्ञान गरूर बढ़ाय ।
बिना प्रेम फीको सबै, कोटिन किए उपाय ॥
[र० प०]

देव— जिन जान्यो वेद ते तौ बाद कै बिदित होंहि ,
जिन जान्यो लोक तेऊ लीक पै लरि मरौ ।

× × ×

हौं तौ नन्द के कुमार तेरी चेरी भई ,
मेरो उपहास क्यों न कोऊ कोटिन करि मरौ ॥

देव-कृत प्रेम के सैद्धांतिक विवेचन में भी कहीं-कहीं रसखान की प्रतिध्वनि है :—

रसखान—प्रेम अगम अनुपम अमित, सागर-सरिस बखान ।
जो आवत एहि ढिग, बहुरि जात नाहिं रसखान ॥
[र० प०]

देव—विमल शुद्ध सिंगार-रस देव अकास अनंत ।
उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस बिबस न पावत अंत ॥

———

केशवदास

रीतिकाल के कवियों में केशवदास किन्हीं अंशों में देव के आदर्श थे । रीति-विवेचन में उन्होंने किस प्रकार केशवदास की महत्ता को मुक्तकण्ठ से स्वीकृत करते हुए, उनके प्रभाव को ग्रहण किया है, इसका साङ्ग विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है । केशव को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अनुकरणीय महाकवि माना है । उनके काव्य पर भी, यद्यपि दोनों के काव्यों की आत्माएं सर्वथा भिन्न हैं, केशव का प्रभाव निश्चित रूप से लक्षित होता है । देव के अनेक छंदों पर केशव के छंदों की छाया है ।

स्व० लाला भगवानदीन ने देव के यहाँ से केशव का बहुत-सा 'माल-बरामद किया है' । हालांकि कहीं-कहीं बेचारे देव झूठे शुबे में भी बुरी तरह पकड़े

गये हैं, फिर भी इसमें शक नहीं कि लाला जी की तहक़ीकात बहुत कुछ कामयाब हुई हैं, देव ने निश्चय ही केशव से भाव, काव्य-सामग्री, उक्ति, उपमा, आदि का ग्रहण किया है।

भाव-ग्रहण :— नैनन के तारन में राखो प्यारे पूतरी कै, मुरली ज्यों लाय राखो दसन बसन में। राखौ गुंज बीच बनमाली बनमाला करि चंदन ज्यों चतुर चढ़ाय राखो तन में। केशोराय कलकंठ राखो वलि कठुला कै, करम-करम क्यों हू आनी है भवन में। चंपक कली-सी बाल सूंघि-सूंघि देवता-सी, लेहु प्यारे लाल इन्हें मेलि राखौ मन में। (केशव, रसिकप्रिया)

लेहु लला उठि लाई हौं बालहिं लोक की लाजहिं सों लरि राखौ।
फेरि इन्हे सपनेहु न पैयत लै अपने उर में धरि राखौ।
देव लला अवला नवला यह, चन्दकला कठुला करि राखौ।
आठहु सिद्धि नवो निधि लै घर बाहर भीतर हू भरि राखौ॥
(देव)

देव ने मूलभाव निस्संदेह केशव से ग्रहण किया है। दोनों छन्दों का प्रसंग-विधान एक है—मूल भाव भी एक है। 'कठुला करि राखौ' तथा 'वलि कंठ राखौ कठुला कै', और 'अपने उर में धरि राखौ' तथा 'मेलि राखौ मन मे' बिल्कुल एक बात है। इसके अतिरिक्त 'लेहु लला' का सम्बोधन तक दोनों मे एक ही है। उपर्युक्त कवित्त की छाया देव के एक और छंद मे इससे भी अधिक गहरी है :—

पीत पटी लौं कटी लपटी रहै, छैल छरी लौं खरी पकरी रहै।
कान्ह के कंठ की कण्ठी भई, बनमाल ह्वै बाल हिये पसरी रहै।
देव जू कान लुरै लुरकी लौं, भई बंसरी अधरान धरी रहै।
पाग ही पाग ह्वै मूड़ चढी, गहनों सब ग्वालि गुपाल करी है॥
(देव)

लाला जी की धारणा है, और पं० कृष्णबिहारी भी उसे किसी अंश मे स्वीकार करते हैं कि केशव के उपर्युक्त कवित्त से देव ने अपने निम्नलिखित प्रसिद्ध छंद की प्रेरणा प्राप्त की है :—

देव मैं सीस बसायो सनेह कै भाल मृगम्मद बिन्दु कै भाख्यो।
कंचुकी में चुपरो करि चोवा लगाइ लियो उरसों अभिलाख्यो।
कै मखतूल गुने गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यो।
सांवरे लाल को सांवरो रूप मैं नैनन में कजरा करि राख्यो।
परन्तु यह धारणा भ्रांत क्योंकि दोनों के मूल भाव में बहुत अन्तर

केशव के छंद में आदर और स्नेह के आधिक्य की अभिव्यक्ति है, देव के छंद में स्पष्टतः (श्याम-रस) के उपभोग की तीव्र व्यञ्जना है। इसके अतिरिक्त दोनों की काव्य-सामग्री सर्वथा भिन्न है और अन्त में दोनों के काव्य-स्तर में बहुत बड़ा अन्तर है। दोनों मे केवल 'उल्लेख' की समानता देखकर उनमें प्रेरक-प्रेरित सम्बन्ध मान लेना अनुचित है। अनुभूति और अभिव्यक्ति की तीव्रता की दृष्टि से देव का छंद कहीं अधिक उत्कृष्ट है—केशव का छंद उसके सम्मुख अत्यन्त अशक्त प्रतीत होता है।

(२) अँखियां न मिलीं, सखियां न मिलीं, पतियां न मिलीं बतियाँ तजि मौने।
ध्यान बिधान मिली मन ही मन, ज्यों मिलै एक मनो मिलि सौने।
केसव कैसेहु बेगि मिलौ नतु ह्वै है वहै हरि जो कछु हौने।
पूरन प्रेम समाधि मिले, मिलि जैहै तुम्हें मिलिहौ तब कौने।
[केशव, र० प्रि०]

× × × ×

पूछत हौ, पछिताने कहा फिरि, पीछे ते पावक हीं को पिलोगे।
काल की हाल में बूडति बाल, बिलोकि हलाहल ही को हिलोगे।
लीजिए ज्याय सुधा मधु प्याय कि न्यायन ही विष गोली गिलोगे।
पञ्चनि पञ्च मिले परपञ्च में, वाहि मिले तुम काहि मिलोगे॥

(देव)

यहाँ भी प्रसंग और मूल भाव एक है। दोनों छंदों में दूती का नायक से निवेदन है कि नायिका विरह मे मरी जा रही है, आप समय पर ही जाकर उसे बचा लीजिए। यदि उसकी मृत्यु हो जाने के बाद आप पहुँचेंगे तो किससे मिलेंगे ? देव को नायिका के पञ्चतत्व में मिल जाने की शंका है, केशव पूर्ण प्रेम-समाधि साधकर स्वयं नायक में उसके लीन हो जाने की बात करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि केशव की उक्ति अधिक रसार्द्र है, परन्तु दोनों की युक्तियाँ भिन्न हैं। देव की दूती नायक को नायिका की मृत्यु के उपरांत होने वाली उसकी अपनी दशा के प्रति सचेत करती है, उधर केशव की दूती केवल नायिका की दयनीय दशा पर ही बल देती है।

(३) छवि सों छबीली वृषभानु की कुँवरि आजु रही हुती रूप मद मान मद छकि कै। मारहु ते सुकुमार नन्द के कुमार ताहि आये री मनावन सयान सब नकि कै। हँसि हँसि सौहैं करि करि पांय परि परि केशौराय की सों सब रहे जिय

जकि कै। वाही समै उठे घन घोर घोर दामिनी-सी लागी लोरि श्याम घन उर सों लपकि कै।

[केशव र० प्रि०]

रूठि रही दिन द्वैक ते भामिनी, मानी नहीं हरि हारे मनाइ कै।
एक दिना कहूं कारी अंधारी, घटा घिरि आई घनी वहराइ कै।
ओर चहूँ पिक चातक मोर के, सोर सुने सु उठी अकुलाइ कै।
भेटी भटू उठि भामते कों, घन धोखे ही धाम अँधेरे में जाइकै।

[देव]

(४) सौंहें दिवाय दिवाय सखी इक बारक कानन आन बसाये।
जानैं को केशव कानन तें कित ह्वै हरि नैनन माँझ सिधाये।
लाज के साज धरेई रहे, तव नैनन लै मनही सों मिलाये।
कैसी करौं अब क्यों निकसै री, हरेई हरे हिय में हरि आये।

[केशव र० प्रि०]

(अ) कानन पैठि कै आँखिन ह्वै हरिकै हिय बैठि रहे हरि के गुन।

(देव)

(आ) प्रेम कहानिन सों पहिले, हरि कानन आन समीप किये तैं।
चित्र चरित्रन मित्र भये, सपने महं मोहि मिलाय दिये तैं।
देव जू दूर ते दौरि दुराइ कै, प्रेम सिखाय दिखाय दिये तैं।
वारिज से विकसे मुख पै, निकसे इत ह्वै निकसे न हिये तैं।

(देव)

इनके अतिरिक्त अन्यत्र भी देव में केशव के स्फुट भावों की स्पष्ट प्रतिध्वनि मिलती है जैसे :

(१)-- नाह ते नेह निबाहि वलाइ ल्यों, नाहीं सों नेह कहा निबहैगो।

[केशव र० प्रि०]

ऐरी लड़बावरी अहीरि ऐसी बूझौं तोहि,
नाह सों सनेह कीजै नाहीं सों न कीजिए।

[केशव र० प्रि०]

देव जू देखो विचारि अहो तुम्हैं नाहीं सों नातो कि नाह सों नातो।

(देव)

काव्य-सामग्री का ग्रहण :—

भाव के अतिरिक्त कुछ छंदों में देव ने केशव की काव्य-सामग्री का भी ग्रहण किया है। यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने उसका उपयोग अपने ढंग से किया है और प्रायः उसके सौन्दर्य्य की वृद्धि ही की है। उदाहरण के लिए कुछ पद्य लीजिए :—

(१) प्रेत की नारि ज्यों तारे अनेक चढाय चलै चितवै चहुँ घातो।
कोढनि सी कुकरे करि कंजनि, केशव सेत सबै तन तातो।
भेटत ही बरै ही अब ही तो बरयाय गई ही सुखै सुखसातो।
कैसी करौं कहु कैसे बचौं बहुर्यो निशि आई किये मुख रातो॥
(केशव—र० प्रि०)

वा चकई को भयो चित चीतो चितौति चहूं दिशि चाय सों नाची।
ह्वै गई छीन कलाधर की कला जामिनि जोति मनो जम जांची।
बोलत बैरी विहंगम देव संजोगनि की भई सम्पति कांची।
लोहू पियो जु वियोगिनि को, सु कियो मुख लाल पिशाचिनि प्राची॥
(देव)

इन दोनों उदाहरणों के प्रसंग-विधान भिन्न हैं। एक वियोगिनी की उक्ति है, दूसरी संयोगिनी की। केशव ने रात्रि को लाल मुख वाली 'प्रेत की नारि' कहा है, देव ने प्राची को लाल मुख वाली पिशाची कहा है। इस प्रकार मूल काव्य-सामग्री दोनों में समान है। परन्तु केशव ने भी इस रूपक की उद्भावना नहीं की—उन्होंने इसे लिया है वाग्भट्टालंकार के निम्नोद्धृत श्लोक से :—

कीर्णान्धकारालकशालमाना,
निबद्धतारास्थिमणिः कुतोऽपि।
निशा-पिशाची व्यचरद्दधाना,
महान्त्युलूकध्वनि फेत्कृतानि॥

देव के सामने केशव का छन्द था, इसमें तो सन्देह है ही नहीं, परन्तु साथ में श्लोक का पिशाची शब्द यह संकेत करता है कि वाग्भट्ट का भी संस्कार उनके मन पर वर्तमान था।

(२) फूल ना दिखाउ सूल फूलति है, हरि बिनु,
दूरि करि माला, बाला, व्याल-सी लगति है।
चँवर चलाउ जिनि, बीजन हलाउ मति,

केशव सुगन्ध वायु वाइ-सी लगति है ।
चंदन चढाउ जिनि ताप सी चढ़ति तन,
कुंकुम न लाउ अंग आग-सी लगति है ।
बार-बार बरजति बावरी है वारौं आन,
बिरी ना खवाउ वीर, विस सी लगति है ॥

(केशव-र० प्रि०)

देखे दुख देत चैत चन्द्रिका अचेत करि,
चैन ना चितौत चढ़ै चंदन को टारि दै ।
छीजन लगी है छवि बीजन करै न 'देव',
नीजन सुहात ये सखीजन निवारि दै ।
मोंधे सजि सेज न करेजन में सूल उठैं,
जारि दै निकट कुटी राउटी उजारि दै ।
फूंकै ज्यों फनी री फूल माल कों न नीरी करि,
ये बी री वरीयै जाति ये बीरी बगारि दै । (देव)

यहाँ भी दोनों की काव्य-सामग्री लगभग एक-सी है—इसमें सन्देह नहीं कि यह काव्य-सामग्री उद्वेग-वर्णन में एक प्रकार से रूढ हो गई है, परन्तु उसका बहुत कुछ एक ही ढंग से प्रयोग सर्वथा आकस्मिक नहीं माना जा सकता । भवानी-विलास, रस-विलास आदि आरम्भिक ग्रंथों का प्रणयन करते समय केशव की 'रसिक-प्रिया' देव के सामने अवश्य थी, यह तो निश्चित ही है, और यह छन्द दोनों में ही उद्धृत भी है । अतएव केशव के उपर्युक्त कवित्त की थोडी छाया इस पर जाने अन जाने में अवश्य पड़ी है ।

(३) केशव का एक प्रसिद्ध छन्द है :

काछे सितासित काछनी केशव पातुर ज्यों पुतरीन बिचारो ।
कोटि कटाच्छ नचै गति भेद नचावत नायक नेह निहारो ।
बाजत है मृदु हास मृदंग-सो दीपति दीपन को उजियारो ।
देखत हौ हरि देखि तुम्हैं यह होतु है आंखिन बीच अखारो ॥

[केशव—र० प्रि०]

इस विधान को बिहारी और केशव दोनों ने ही अपने-अपने ढंग से ग्रहण किया है :

सब अँग करि राखी सुघर नायक नेह सिखाय,
रसयुत लेत अनंत गति पुतरी पातुर राय । (बिहारी)

बिहारी का दोहा तो एक प्रकार से केशव का अनुवाद-सा ही है, देव ने केवल मूल-रूपक को ही ग्रहण किया है।

वाजी वलै रसना रसनाद सु नूपुर भोग की भूपर मारे।
चोज के तान मनोज के बान सों ओज के गान गरे अनुसारे॥
लाज लुटी छिन एक छुटी लट देव कटाच्छ-कुटीर के द्वारे।
प्रेम चुटी सुख योग जुटी, सु नटी भृकुटी त्रिकुटी के अखारे॥

केशव ने पुतरी को पातुरी (नटी) बनाया है—देव ने भृकुटी को; केशव के रूपक में प्रेम नायक (उस्ताद) है, देव के रूपक में उसे चुटकी बजाने वाला (ताल देने वाला) अथवा चुटकी लेने वाला (प्रेरक) कहा गया है। शेष सामग्री सर्वथा भिन्न है।

(४) नन्दलाल आगम बिलोकै कुंज जाल बाल,
लीन्हीं तेहि काल गति पिंजर पतंग की।
(केशव—रसिक-प्रिया)

—फेरि फेरि हेरि मगु बात हित बंछी पूछै,
पंछी ह्वै मृगंछी जैसे पंछी पींजरा पर्यौ।
—स फिरै फरकै पिंजरा की चिरी ज्यौं॥ (देव)

उपमा काफ़ी प्रचलित और पुरानी है, परन्तु प्रायः एक-से ही प्रसंग में प्रयुक्त होने के कारण केशव का प्रतिबिम्ब माना जा सकता है।

केशोदास नील वास ज्योति जगमग रही, देह धरे देखियत मानों दीप मालिका।
(केशव—क० प्रि०)

अंग अंग उमड़ो परत रूप रंग नव यौवन अनूपम उजासन उज्यारी-सी।
डगर डगर बगरावत अगर अंग, जगर-मगर चली आवति दिवारी-सी।
(देव)

उक्तियों का ग्रहण :—अंत में, देव के छंदों में कहीं-कहीं केशव की उक्तियों की भी स्पष्ट प्रतिध्वनियाँ मिल जाती हैं :—

(१) खात खवावत ही जु बिरी, सु रही मुख की मुख हाथ की हाथहि।
(केशव—र० प्रि०)

देव कछू न बीरी दयी री सु हाथ की हाथ रही मुख की मुख।
(देव)

यह भाव जैसाकि हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है—भानुदत्त की रसमंजरी में भी मिलता है। सम्भव है वहीं से केशव और देव दोनो ने इसे ग्रहण किया हो।

(२) गोरस की सौं बवा की सौं तोहिं किवार लगी कहि मेरी सौं को ही।
(केशव—र० प्रि०)

ब्राह्मण की सौं बवा की सौं मोहन मोहिं बवा की सौं गोरस की सौं।
(देव)

(३) माखन के चोर मधु चोर दधि दूध चोर.......।
(केशव—र० प्रि०)

दूध-चोर दधि-चोर अम्बर अवधि-चोर,
वित हित चोर चित चोर रे माखन चोर।
(देव)

(४) देखि तेरी सूरति की मूरति त्रिसूरति हौं,
लालन के दृग देखिबे कौ ललचात हैं।
(केशवः र० प्रि०)

देव दुख मोचन सलोनी मृग लोचनि,
तो देखि देखि लोचन लला के ललचात हैं। (देव)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि केशव का देव के आचार्य और कवि दोनों रूपों पर ही प्रभाव है। वास्तव मे जैसा कि मैंने अन्यत्र भी कहा है, हिन्दी के सभी रीति-कवियों के सामने केशव प्रथम आचार्य्य और अनुकरणीय महाकवि के रूप में उपस्थित थे। संस्कृत मे तो अनेक कवि और आचार्य हो चुके थे, जिनका अध्ययन ये लोग निपुणता और अभ्यास की प्राप्ति के लिए करते थे, परन्तु हिंदी मे केवल उन्हे एक ही शास्त्र-निष्ठ कवि और आचार्य्य दिखाई पड़ता था। एक प्रकार से केशव का काव्य संस्कृत रीति-साहित्य मे प्रवेश करने के लिए सिंह-द्वार था, इसलिए उनका महत्व इन लोगों के लिए सूर, तुलसी से भी अधिक था। सूर और तुलसी जनता के कवि थे, केशव कवियो के कवि थे। बिहारी, मतिराम, देव और बाद मे दास, पद्माकर आदि पर उनका एक शृंखलित प्रभाव है। देव ने स्वभाव और प्रवृत्ति भिन्न होते हुए भी उनका सिक्का माना है। रसवाद के इतने प्रबल समर्थक होते हुए भी जो उनको यह स्वीकार करना पड़ा कि :—

कविता कामिनि सुखद पद सुबरन सरस सुजाति।
अलकार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति॥
(शब्द-रसायन)

उसका कारण केशव का ही रोब था। वैसे यह दोहा भी केशव के प्रसिद्ध दोहे के वज़न पर ही बनाया गया है :—

जद्यपि जाति सुलच्छिनी सुवरन सरस सुवृत्त,
भूषन बिनु न विराजई, कविता वनिता मित्त ॥

(क० प्र०)

और केशव के प्रभाव-वश ही 'उपमा और स्वभाव' के कायल होते हुए भी उन्हें यमक और श्लेष का इतना मोह था।

बिहारी

हिन्दी के दूसरे कवि, जिनको कवियों का कवि बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, बिहारी थे। बिहारी का कविता-काल देव से लगभग ७०-८० वर्ष पूर्व पड़ता है। संस्कृत-काव्य मे अमरु-शतक की भाँति हिन्दी में बिहारी के ये दोहे बहुत शीघ्र ही साहित्य-गोष्ठियों के श्रृङ्गार बन गये थे। वैसे तो देव और बिहारी के दृष्टिकोण एक नहीं हैं। देव का दृष्टिकोण शुद्ध रागात्मक था, वे भाव की सहज अभिव्यक्ति पर बल देते थे, बिहारी की आँख चमत्कार खोजती थी, चाहे वह भाव का हो या अलंकार का। फिर भी देव ने बिहारी के काव्य का अध्ययन किया था! उसके संस्कार उनके काव्य पर कुछ सीमा तक अवश्य पडे थे, और उनको सरलता से पृथक् करके दिखाया जा सकता है :—

(१) हौं ही बौरी बिरह बस कै बौरौ यह गाँव,
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीत कर नाँव।

(बिहारी)

देव ने अपने दो छन्दों मे इस भाव की छाया ग्रहण की है :—

हौं ही हौं और कि ये सब और कि डोलत आजु कौ औरै समीरौ।
यातें इन्हें तन ताप सिरातु पै, मेरे हिये न थिरातु है धीरौ।
ये कहें कोकिल कूक भली, मुहि कान सुने जम आवत नीरौ।
लोग ससी को सराहत री सब, तोहू लगै सखी सांचेहु सीरौ ॥

(देव)

रैनि सोई दिन, इन्दु दिनेस, जोन्हाई है धाम घनो विष वाई।

× × × ×

हौं ही भलानी कि भूलें सबै, कहैं ग्रीषम को सरदागम माई। (देव)

(२) बाल, कहा लाली भई लोयन-कोयन मांहि।
लाल, निहारे दृगन की परी दृगन में छांह ॥ (बिहारी)

भोर भये मन भावन आये, औ प्यारी तिन्हें लखि कै दृग फेरे।
सोधे सुभायन लाल कही, कहु काहिक लाल विलोचन तेरे।
बोलि उठी तिय मान भरी, औ गुमान भरे करि नैन तरेरे।
काहू के रंग रँगे दृग रावरे, रावरे रंग रँगे दृग मेरे।

देव का यह छन्द बिहारी के दोहे की टीका-सा लगता है।

(३) झमकि चढ़त, उतरत अटा, नेक न थाकत देह।
भई रहत नट को बटा, अटकी नागर नेह॥ (बिहारी)

साधति देह सनेह, निराटक है मति कोऊ कहूं अटकी-सी।
ऊँचे अकास चढ़ै उतरै, सु करै दिन रैन कला नटकी-सी। (देव)

कुछ छन्दों में बिहारी की अभिव्यञ्जनायें ज्यो की त्यो प्रतिध्वनित होती हैं:—

(अ) ग्रीषम बासर सिसिर निसि, पिय मो पास बसाय।
(बिहारी)

लै सिसिरौ निसि, दै दिन ग्रीषम आँखिन राखि गये ऋतुपावस॥
(देव)

(आ) आजु मिले सु भली करी भले बने हौ लाल। (बिहारी)

लाल भले हो भली सिख दीन्ही, भली भई आजु भले बनि आए॥
(देव)

(इ) ऊख, मयूख, पियूख की तौ लगि भूख न जाय। (बिहारी)

पीवत हू पिय प्यास बुझै न अहूख महूख न ऊखन हेरे। (देव)

इसके अतिरिक्त बिहारी के कुछ रूपक, उपमा आदि का भी प्रतिबिम्ब देव में है:—

(अ) दुहू ओर ऐंची फिरै फिरकी लौं दिन जाय। (बिहारी)

धाई फिरै फिरकी सी दुंहू दिसि, देव दुवौ गुन जोर के ऐंची।
(देव)

(आ) डीठि वरत बांधी अटनि चढ़ि धावत न डरात।
इत उत ते मन दुहुन के नट लौं आवत जात॥ (बिहारी)

दुहूँ कर लीन्हें दोऊ बैस बिसवास बाँस,
डीठि की बरत चढ़ी नाचै भौंह नटिनी। (देव)

ऐसे ही कुछ और भी उद्धरण दिये जा सकते हैं। स्व० लाला भगवानदीन ने बिहारी का भी बहुत-सा माल देव के यहाँ से बरामद किया है, परन्तु बिहारी का प्रभाव देव पर संस्कार-रूप मे ही माना जा सकता है। बिहारी के चमत्कार-वाद तथा ध्वनि-प्रेम को उन्होंने कभी स्वीकृत नहीं किया। साधारण काव्याभ्यास के लिये उन्होंने बिहारी का उपयोग किया है, और इसीलिये उनकी अभिव्यंजनाओं पर ही बिहारी की बंदिशों का असर ज़्यादा है।

मतिराम

देव के पूर्ववर्ती रीति-कवियों मे मतिराम भी अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। देव पर उनका प्रभाव है तो अवश्य, परन्तु वह बहुत ही थोड़ा है। मतिराम की अनुप्रासमयी मधुर भाषा का आदर्श देव के सामने रहा है। इस का आभास उनकी भाषा के परीक्षण से मिलता है। उनके शब्दों के चमत्कार पर भी पूर्ववर्ती कवि का प्रभाव स्पष्ट है।

महलनि मंद मुसक्यान की महमही।
× × ×
उर मतिराम माल मालती डहडही।
× × ×
गोरी की गुराई गोरे गातन गहगही।
× × ×
बेला को फुलेल, फूली बेलि-सी लहलही।

(मतिराम : रसराज)

गहगह्यो गोरी को अनूप लहलह्यो रूप,
डहडह्यो आनन, बिलास मृदु बात के।
बहबह्यो गंध, बहबह्यो है सुगन्ध स्वास,
महमह्यो आनंद बिनोद सुख सात के। (देव)

इसी प्रकार— × × × तुंग धुजा फहरान लगी,
... ... छनदा की छटा छहरान लगी।
× × × बिरही बनिता थहरान लगी,
× × × पयोद घटा घहरान लगी।

(मतिराम : रसराज)

सहर-सहर सोंधो सीतल समीर डोलै घहर-घहर घन घेरि कै घहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायो देव छहर-छहर छोटी बूंदनि छहरिया।
हहर-हहर हँसि-हँसि कै हिंडोरे चढ़ी, थहर-थहर तनु कोमल थहरिया।
फहर फहर होत पीतम को पीतपट, लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया॥

(देव)

कुछ छंदों पर भी मतिराम का प्रभाव देखिए:—

(१) सपने में लालन चलत, लखि रोई अकुलाइ।
जागत हू पिय हिय लगी, हिलकी तऊ न जाइ।

(मतिराम रसराज)

संग सोवत ही पिय के सुख सों मुख मों नहिं योग बियोग सहै।
सपने महँ स्याम बिदेश चले, सु कथा कवि देव कहाँ लौं कहै।
तिय रोइ सकी न सुनी सिसकी, हँसि प्रीतम त्यों भरि अंक गहै।
बड़ भागी लला उर लागी जऊ, तिय जागी तऊ हिलकी न रहै।

(देव)

उपर्युक्त दोनों छंदों मे प्रसंग, मूल भाव, और शब्दावली भी बहुत कुछ एक-सी है। देव का छंद दोहे की अत्यन्त सुन्दर व्याख्या है। इसी प्रकार का एक और उदाहरण लीजिये :—

(२) भाल लाल बेंदी दिये उठे प्रात अलसात।
लोनी लाजनि गडिगई, लखे लोग मुसकात॥

(मतिराम : सतसई)

× × ×

देव लला गये सोवत ते, मुख माँह महा सुखमा घुमडी-सी।
प्यारी की पीक कपोल मैं पीके बिलोकि सखीनि हँसी उमड़ी-सी।
सौंहन सैन न लोचन होत, कोचनि सुंदरि जाति गड़ी-सी,।

(देव)

यहाँ प्रसंग और मूलभाव एक है। चित्र के अवयव-मात्र भिन्न हैं। ऐसा ही एक चित्र और है :—

(३) सहज सुवास युत देह की दुगुनि दुति,
दामिनि दमक दीप केसरि कनक ते।
मतिराम सु कवि सुमुखि सुकुमारि अंग,
सोहत सिंगार चारु जोबन बनक ते।

सोइबे को सेज चली प्रानपति प्यारे पास,
जगत जुन्हाई जोति हँसति तनक ते।
चढत अटारी गुरु लोगनि की लाज प्यारी,
रसना दसन दावै रसना झनक ते।

(मतिराम : रसराज)

नेवर के बजत कलेवर कँपत देव,
देवर जगै न लगै सोवत तनक ते।
ननद नछीछी त्योरी तोरति तिरोछी लखि,
बीछी कैसो विष बगरावैगी भनक ते।
देखिए कठिन साथ गहौ जू न हठि हाथ,
कैसे कहो जाहु नाथ आए हो बनक ते।
बस ना हमारे रंग रसना बनत चौंकि,
रसना दसन दावै रसना झनक ते।

(देव)

इन दोनों की चित्र-सामग्री में काफ़ी अंतर है, परन्तु प्रसंग एक ही है, और अंतिम चरण तो देव ने जाने-अनजाने ज्यों का त्यों ही उद्धृत कर दिया है:—

(४) निसि दिन श्रौनन पियूष सों पियत रहैं,
छाय रह्यो नाद बांसुरी के सुर-ग्राम को।
तरनि तनूजा तीर बन कुंज बीथिन मैं,
जहाँ तहाँ देखति है रूप छविधाम को।
कवि मतिराम होत हाँतो न हिये तैं नैंक,
सुख प्रेम गात को परस अभिराम को।
ऊधो तुम कहत बियोग तजि जोग करो,
जोग तब करै जो बियोग होइ श्याम को।

(मतिराम : रसराज)

जो न जी में प्रेम तब कीजै व्रतनेम जब,
कंजमुख भूलै तब संजम विसेखिए।
आस नहीं पीकी तब आसन ही बांधियत,
सासन कै साँसन को मूंद पति पेखिये।
नख ते सिखा लौं सब प्रेम मई बाम भई,
बाहिर लौं भीतर न दूजो देव देखिए।

जोग करि मिलैं जो बियोग होइ बालम को,
ह्यां न हरि होयँ तब ध्यान धरि देखिए।

(देव)

(४)—देव द्वारा दिए गए उन्माद के उदाहरण में भी मतिराम की प्रतिध्वनि है :—

पोंछति है कर सों किसलै गहि बूझति स्याम सरीर गुपालहि।
भोरी भई है मयंकमुखी भुज भेंटति है भरि अंक तमालहि॥

(मतिराम : रसराज)

आजु भले गहि पाये गुपाल गहौं गहि लाल तुम्हैं गुण जालहि।
होन न देउँ कहूँ चल चाल बसाऊँ हिये मैं मिलाय कै मालहिं।
बोलत काहे न बोल रसाल हौं जानति भाग भरे निज भालहि।
सींचति नैन बिसालन के जल बाल सुभेंटति बाल तमालहि।

(देव)

यह भाव वास्तव में मतिराम का भी नहीं है। संस्कृत-साहित्य में यह अनेक स्थानों पर मिलता है। भागवत में गोपियां उन्माद के वशीभूत होकर तमाल को कृष्ण समझ कर उसे अपने स्तन अर्पित करती हैं। रघुवंश में राम तमाल-गुच्छों का सीता के स्तनों के धोखे में आलिंगन करते हैं।

कुल मिलाकर मतिराम का प्रभाव देव पर साधारण ही है। मतिराम की भाषा की माधुरी से वे अवश्य प्रभावित हुए थे, और उन्होंने उसमें और भी श्री-वृद्धि करने का सफल प्रयत्न किया है, इसमें सन्देह नहीं। काव्य की आत्मा की दृष्टि से भी केशव और बिहारी की अपेक्षा मतिराम देव के अधिक निकट हैं, परन्तु संयोगवश उनकी प्रसिद्धि उन दोनों से कम थी। अतएव अठारहवीं शताब्दी के महत्वाकांक्षी कवि की दृष्टि उनकी अपेक्षा मतिराम पर कम पड़ी।

मौलिकता

बाह्य प्रभाव का सम्यक् परीक्षण कर लेने के उपरान्त अब हम देव की मौलिकता का मूल्यांकन सरलता से कर सकते हैं। साहित्य की मौलिकता विज्ञान की मौलिकता से बहुत भिन्न है—विज्ञान में जहाँ मौलिकता से अभिप्राय केवल 'नवीन उद्भावना' का ही है, वहाँ साहित्य में दृष्टिकोण अथवा विवेचन की नवीनता ही उसके लिए अपेक्षित रहती है। भाव-साम्य अथवा प्रभाव-ग्रहणमात्र से ही किसी कवि की मौलिकता की हानि नहीं होती, इस विषयमें संस्कृत के अनेक आचार्य्य—आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, राजशेखर आदि—शताब्दियों पूर्व निर्णय दे चुके हैं। पाश्चात्य समालोचक बाह्य प्रभाव का परीक्षण कवि के व्यक्तित्व-

निर्माण का अध्ययनकरने के उद्देश्यसे ही करते हैं। उनकी मौलिकता की नाप-जोख वे दूसरे ही प्रकार से करते हैं। वास्तव में भाव और विचार सार्वजनिक सम्पत्ति हैं। साहित्य में केवल उनकी अभिव्यक्ति ही कवि की अपनी होती है। अतएव यदि कोई कवि अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के भाव ग्रहण कर उनको अपने आत्म का अंग बना कर अभिव्यक्त करता है तो उसकी मौलिकता में किसी प्रकार भी कमी नहीं आती। इसके अतिरिक्त, भाव-साम्य को भी तो सभी दशाओं में निश्चित रूप से प्रभाव-ग्रहण नहीं माना जा सकता, उसके और भी अनेक कारण हो सकते हैं। एक सामान्य कारणतो यही है, कि समान परिस्थिति में अनेक व्यक्तियों की स्वभावतः एक-सी ही प्रतिक्रिया होती है क्योंकि मानव-स्वभाव के मूल-तत्व समान ही हैं। जिस प्रकार भौतिक वातावरण के परिवर्तनों के प्रति हमारे शरीरों की प्रतिक्रियाएँ बहुत अंशो मे समान होती है, इसी प्रकार समान मानसिक परिस्थितियों में भी हमारे मनो में बहुत कुछ एक-से ही विकार उत्पन्न होते हैं। परिस्थिति के साथ व्यक्तियों के संस्कार, उनके सामाजिक वातावरण, तथा विचार-पद्धति मे भी यदि समानता हो तो भाव-साम्य की सम्भावना और भी अधिक हो जाती है। रीतिकाल के कवियों के न केवल संस्कार, विचार-पद्धति तथा सामाजिक वातावरण ही समान थे, वरन् उनके काव्य-विषय और काव्य-सामग्री भी समान थी; अतएव उनमें भाव-साम्य होना स्वाभाविक ही है। भाव-साम्य का दूसरा कारण यह है कि कभी कभी दो या दो से अधिक कवि एक ही पूर्ववर्ती कवि के भाव को जाने-अनजाने में अपनाते हैं। रीतिकाल मे यह भी बहुत हुआ है। इस युग के प्रायः सभी कवियों के सम्मुख संस्कृत के कुछ विशिष्ट रीति अथवा काव्य-ग्रन्थ आदर्श रूप में वर्त्तमान थे। ये तो साम्य के आनुषंगिक कारण हुए। इनके अतिरिक्त, प्रत्येक व्युत्पन्न कवि अपने पूर्ववर्ती साहित्य का गम्भीर अध्ययन करता हुआ, उससे संस्कार भी ग्रहण करता है। जिस प्रकार खा कर पचाया हुआ भोजन हमारे शरीर का अंश बन जाता है उसी प्रकार अध्ययन और मनन के द्वारा ग्रहण कर पचाया हुआ भाव और विचारों का कोष भी हमारे व्यक्तित्व का अंश बन जाता है, और यदि हम स्वयं भी साहित्यकार हैं तो उसके कुछ कण अवश्य कभी-कभी हमारी वाणी से अनायास ही विकीर्ण होते रहते हैं। जब कोई ध्वनि किसी गुहा में होकर गुज़रती है तो वह ध्वनि न रहकर प्रतिध्वनि बन जाती है। यह प्रतिध्वनि सर्वथा बाह्य वस्तु न होकर बहुत कुछ गुहा का अपना अंग होती है। यही सिद्धान्त भाव की प्रतिध्वनि के विषय में भी इतना ही सत्य है।

उपर्युक्त तीन प्रकार का भाव-साम्य मौलिकता में बाधा नहीं डालता, इसके आगे जब कोई कवि भाव-ग्रहण का जानबूझ कर प्रयत्न करता है, तो वह निश्चित ही साहित्यिक चोरी का अपराधी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि देव

इस अपराध से सर्वथा मुक्त हैं। उनमे मिलने वाला भाव-साम्य प्राय: तीसरे प्रकार का है—उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों का गम्भीर अध्ययन किया था—और निश्चित ही यह अध्ययन उनके व्यक्तित्व का अंग बन गया था। समान प्रसंग और मनः स्थिति में यदि उसकी कुछ पंक्तियाँ अथवा कोई भाव आप से आप कहीं-कहीं प्रतिध्वनित होगया है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? देव ने जानबूझ कर प्रयत्न-पूर्वक ऐसा नहीं किया; इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि पूर्ववर्ती कवियों के जो-जो भाव उनसे मिलते हैं उनमे से अधिकांश में कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है, कम से कम इतना सौन्दर्य नहीं है कि उसके लिए देव जैसे रस-सिद्ध कवि को अर्थापहरण के लिए बाध्य होना पड़े। संस्कृत के कवियों का सीधा आभार, जैसा कि हम आरम्भ में दिखा चुके हैं, रीतिकाल के अन्य कवियों की अपेक्षा उनके काव्य पर निश्चय ही बहुत कम है। इस दृष्टि से उनका काव्य केशव, बिहारी, मतिराम और पद्माकर के काव्यों से भी कहीं अधिक मौलिक है, दास आदि की तो बात ही क्या? वास्तव में देव प्रतिभावान् कवि थे। उनकी अनुभूति इतनी तीव्र एवं समृद्ध तथा साहित्य-निपुणता इतनी भरी-पूरी थी कि दूसरे का अवलम्ब लेने की आवश्यकता ही उनको नहीं थी। देव के काव्य के विश्लेषण से स्पष्ट है कि उसमें आत्म-तत्व की अत्यन्त प्रधानता है और आत्म-तत्व की प्रेरणा से लिखी हुई कविता में बाहर की सामग्री के लिए स्थान कम ही हो सकता है। देव की मौलिकता का यही प्रधान रहस्य है।
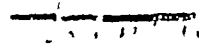
प्रदान

[देव का हिन्दी के परवर्ती कवियों पर प्रभाव]

शक्ति, निपुणता और अभ्यास—इन तीनों गुणों से विभूषित होते हुए भी देव परिस्थितियों के अनुरोध से केशव तथा बिहारी की भांति ख्याति प्राप्त करने में असमर्थ रहे, और इन दोनों की अपेक्षा हिन्दी साहित्य पर उनका प्रभाव भी सीमित ही है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि परवर्ती कवियों में उनका पर्याप्त सम्मान था, और अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों के रीति-विवेचन और काव्य पर उनका निश्चित प्रभाव है। देव का प्रभाव तीन दिशाओं में लक्षित होता है; (१) रीति-विवेचन पर :—रीति-विवेचन में देव की प्रमुख विशेषता उनका भेद-विस्तार ही है—इसको अपनाने वाले कवियों में साधारणतः दास और रसलीन का नाम आता है। (२) रीति-बद्ध शृंगारिक कविता पर :—इस दिशा में उनका प्रभाव मुख्यतः दास, बेनी प्रवीन, पद्माकर, आदि कवियों पर पड़ा है। (३) रीति-मुक्त प्रेम की कविता पर।—जैसाकि उनके काव्य के विवेचन में स्पष्ट किया गया है, देव की शृंगारिक चेतना सर्वथा रीति-बद्ध नहीं थी। अन्य रीति कवियों की अपेक्षा उन्हें प्रेम की गहरी अनुभूति थी, उन्होंने रीति के प्रभाव से मुक्त होकर भी अनेक छंदों में प्रेम के उद्गार व्यक्त किए हैं, जो उनको रीति-मुक्त कवियों की श्रेणी में ले आते हैं। उनके काव्य के इस पक्ष का प्रभाव लगभग सभी परवर्ती रीति-मुक्त प्रेमी कवियों पर थोड़ा-बहुत पड़ा है—घनानन्द ठाकुर, बोधा और विशेषकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम साक्षी रूप में उपस्थित किए जा सकते हैं।

(१) रीति-विवेचन पर प्रभाव

दास ने आचार्य और कवि दोनों रूपों में ही देव का प्रभाव ग्रहण किया है। वे पहले आचार्य थे, जिन्होंने हिंदी साहित्य को दृष्टि में रख कर रीति-विवेचन किया है। उनका स्थान वास्तव में एक संग्राहक आचार्य का था, उनका ध्यान विवेचन पर अधिक था—उदाहरणों की रचना में उन्होंने इतना परिश्रम नहीं किया; जितना अन्य रीति कवियों ने किया। इसीलिए दूसरों की छाया ग्रहण करने में उन्हें कोई संकोच नहीं रहा। उन्होंने केशव, बिहारी, मतिराम, देव आदि रस-सिद्ध हिंदी कवियों के अतिरिक्त संस्कृत के कवियों के भावों और अभिव्यञ्जनाओं को भी स्वच्छन्दता से अपनाया है।—आचार्य रूप में देव का उन पर प्रभाव अधिक नहीं है : उनके रसवाद को दास ने न तो उतने आग्रह के साथ स्वीकृत किया है, और न उनकी तद्विषयक संगतियों को ही ग्रहण किया है। देव का प्रभाव उनके नायिकाओं

के प्रस्तार पर ही विशेषतया लक्षित होता है। स्वकीया के लक्षण को व्यापक बनाते हुए रनवास में रहनेवाली अन्य योग्य भामिनियों का भी उसमें अन्तर्भाव कर लेने वाला सिद्धांत—जो परकीया-प्रेम के रसाभास का परिष्कार करता है--दास ने देव से ही शब्दावली-सहित ग्रहण किया :—

श्रीमाननि के भौन में भोग्य भामिनी और।
तिनहूँ को सुकियाहि में गनैं सुकवि सिरमौर॥

(दास : शृंगार-निर्णय)

भूपन के संभोग हित भोग्य भामिनी और।
जो गंधर्व-विवाह विधि ब्याहीं सुख सिरमौर॥ (देव : कुशलविलास)

शुक्लजी ने इसे दास की उद्भावना मानते हुए इसका श्रेय उन्हीं को दिया है, परन्तु वस्तुतः दास ने यह देव से ही लिया है। देव ने जाति-विलास में विभिन्न देशों और जातियों की स्त्रियों का वर्णन किया है—दास ने उसी के अनुसार रस-सारांश में इन सब का वर्णन-विस्तार किया है, अन्तर केवल इतना है, देव ने उन्हें नायिका माना है। दास ने दूतियों की श्रेणी मे रखा है।

रसलीन पर देव का प्रभाव और भी कम है। रसलीन ने अपने ग्रंथ मे पूर्व-वर्ती सभी कवियों का अनुशीलन करने के उपरांत नायिका-भेद का सम्पूर्ण विस्तार-प्रस्तार दिया है। उसी सिलसिले में उन्होंने देव के कुछ मीज़ानों को भी ले लिया है। देव ने अंश-भेद के अनुसार नायिका के पांच प्रकार माने हैं—और उनकी अवस्था का क्रम इस तरह दिया है :—१–देवी (७ वर्ष), २–देव-गंधर्वी (१४ वर्ष), ३–शुद्ध गंधर्वी (२१ वर्ष), ४–गंधर्व-मानुषी (२८ वर्ष); ५–शुद्ध मानुषी (३५ वर्ष)।

सुकिया देवी प्रथम देव गन्धर्वी दूजी।
गन्धर्वी गन्धर्व मानुषी नारि अदूजी॥
सुद्ध मानुषी सात सात वय वर्ष बखानौ।
अवधि वर्ष पैंतीस तरुनि तौही लौ जानौं॥
सुर अंस भवानी पूज्य जग गन्धर्वी संभोग प्रिय।
कुलधर्म कर्म सन्तान हित सरस्वती नर अंस त्रिय॥

रसलीन ने इस पूरे विवरण को अपनाया है :—

सात बरस लौं जानिए देवी विधि परमान।
बहुरो देवी गंध्रबी चौदह लौं अरु जान॥
तेहि पीछे इक्कीस लौं शुद्ध गंध्रवी होय।
पुनि गंध्रवि मिलि मानुषी अट्ठाइस लौं जोय॥

सुद्ध मानुषी को बहुरि पैंतीस लों उरधारि।
सात बरस प्रति प्रति लहनि पांच नाम ये नारि ॥

× × ×

गौरी पूजन जोग है लक्ष्मी भोग समर्थ।
बहुरि सरस्वति जानिए मनो बूझिबे अर्थ ॥

इसी प्रकार मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के अवान्तर भेदों का अवस्था-क्रम भी रसलीन ने देव से ग्रहण किया है :—

तीनि मास अंकुरित नवजोबन नव मुग्धासु।
नवल बधू षट् मास लों वर्ष तेरही तासु ॥
नवयौवना सु चौदही पन्द्रह नवल अनंग।
सोरह वर्ष सलज्ज-रति मुग्धा पांचौ अंग ॥
रूढ़-जोबना सत्रहें वर्ष सुमध्या बैस।
प्रगट-मनोज अठारहें प्रगलभ बचन उनैस ॥

(देव : भवानीविलास)

प्रथम अंकुरित जोबना तीनि मास लों होइ।
नवल बधू षट्मास लों यह निश्चय जियजोइ ॥
बहुरि चौदहें बरस पुनि नव-यौवना निवास।
नवल-अनंगा पन्द्रहे, बरस करत परकास ॥
होय सोरहवें बरस पर पुनि सलज्ज-रति नारि।
इत्यादि।

+ + +

तेइसवें बस-बल्लभा नाम धरत बुधिवंत।
साढ़े चौबिस लों बहुरि रहै सविभ्रमा अंत ॥

(रसलीन : रस-प्रबोध)

एकाध लक्षण पर भी देव का प्रभाव है। उदाहरण के लिए रति का लक्षण लीजिए :—

नेकु जु परिजन देखि सुनि आन भाव चित होय।
अति कोविद पति कबिनु के, सुमति कहति रति सोय ॥

(देव : भाव-विलास)

प्रिय जन लखि सुनि जो कछू प्रीति भाव चित होय।
है रति भाव सिंगार को थाई जानो सोय ॥

(रसलीन : र० प्र०)

अन्त में रसलीन ने भी देव की तरह संचारियों के दो भेद किए :— तन-संचारी (सात्विक भाव), और मन-संचारी (निर्वेदादि) परन्तु सम्भव है कि ये भेद उन्होंने देव से न ग्रहण कर उनके मूल आधार भानुदत्त से ही ग्रहण किए हों।

(२) रीति-बद्ध शृंगारिक कविता पर प्रभाव

देव और दास :—इस प्रसंग में भी सबसे पूर्व दास का नाम आता है। उनकी काव्य-रचना पर देव का प्रभाव अपेक्षाकृत कहीं अधिक है। उनके अनेक छन्दों पर देव के छन्दों की स्पष्ट छाया है :—

(१) सांझ ही स्याम को लेन गई, सु बसी बन में सब यामिनि जाय कै।
सीरी बयारि छिदे अधरा, उरझो उर झांखर झार संझाय कै॥
तेरी सी को करिहै करतूति, हुती करिबे सु करी तैं बनाय कै।
भोर ही आई भटू इत मो दुखदाइनि काज महा दुख पाय कै॥
(देव)

धनि धनि सखि मोहि लागि तू, सहे दसन नख देह।
परम हितू है लाल सो, आई राखि सनेह॥
(दास : काव्यनिर्णय)

एक अन्य कवि ने देव के भाव को और स्फुट रूप में उपस्थित किया है :—

आलि दसे अधर सुगंध पाइ आनन कौ,
कानन मे ऐसे चारु चरन चलाए हैं।
फाटि गई कंचुकी लगे ते कंट कुंजन के,
बैनी बरहीन खोली बार छबि छाए है॥
बेग तैं गवन कीनों धकधक होत सीनो,
ऊरध उसासैं तन स्वेद सरसाए हैं।
भली प्रीति पाली बनमाली के बुलाइबे कों,
मेरे हत आली ! बहुतेरे दुःख पाए हैं॥

(२) धाई खोरि-खोरि तें बधाई पिय आवन की,
सुनि, कोरि-कोरि रस भामिनि भरति है;
मोरि-मोरि बदन निहारति बिहार-भूमि,
घोरि-घोरि आनन्द घरी-सी उघरति है।
'देव' कर जोरि-जोरि बंदत सुरन, गुरु-
लोगनि के लोरि-लोरि पाँयन परति है;

तोरि-तोरि माल पूरै मोतिन की चौक ;
निवछावरि को छोरि-छोरि भूषन धरति है ।

(देव)

जानि जानि आयो प्यारे प्रीतम बिहार भूमि मानि मानि मंगल सिंगारन सिगारती ।
दाल दश-तोरन को द्वारन में तानि तानि, छानि छानि फूले फूल सेजहि सँवारती ।
ध्यान ही में आनि आनि पीं को गहि पानि पानि ऐंचि पट तानि तानि मैन मदगारती ।
प्रेम गुन गानि गानि अमृतनि सानि सानि,बानि बानि खानि खानि बैनन बिचारती ।

(दास : का० नि०)

× × ×

उपर्युक्त दोनों छंदों में मूलभाव एक ही है। वीप्सालंकृत वाक्य-रचना एक-सी ही है, बिहार-भूमि आदि शब्दों की भी आवृत्ति हुई है। दास ने केवल वर्णन के अंगों में अन्तर कर दिया है। ठीक ऐसा ही एक और छंद के विषय में कहा जा सकता है :—

(२) अ—मन मनभावन को मानौ किरकिला शोभासिंधु में थिरकि चख झख सैं झपटि परयौ। नीलाम्बर नील जाल बीच ही उरझि देव सुरझि सिवाल लट जाल मैं लपटि परयौ। भाल छवि भूल्यो सोंक सेंदुर केसर सूल्यो बीध्यो बरुणीन भौंह दीपति दपटि परयौ। ठोड़ी ते ढरकि परयौ चीकने कपोल गड्यौ गाड़नि सरकि रूप कूप मैं रपटि परयौ।

(देव)

× × ×

आ—लट में लटकि लोयनन में उलटि करि ,
त्रिवली पलटि कटि तटी मांहि कटि गयो। (देव)

× × ×

इ—ऊंचे कुच-गिरि ते गिरयो फिरि न फिरयो तीर ,
त्रिवली तरंगनि गहीर नाभि कूप सों। (देव)

× × ×

भाल मैं बाम के ह्वै कै वली विधो बाँकी भ्रुवैं बरुनीन में आइ कै।
ह्वै कै अचेत कपोलन छ्वै बिछुरै अधरा को सुधा पियो धाइ कै॥
दास जू हास छटा मन चौंकि परीक लौं ठोड़ी के बीच बिकाइ कै।
जाइ उरोज सिरै चढ़ि कूद्यो गयो कटि सों त्रिवली में नहाइ कै॥

(दास का० नि०)

(४) तैंतीस संचारियों को उदाहृत करने वाला देव का निम्नलिखित छंद रस-शास्त्रियों में अत्यन्त प्रसिद्ध है.—

बैरागिन किधौं अनुरागिन, सोहागिन तू,
'देव' बडभागिनि लजाति औ लरति क्यों?
सोवति, जगति, अरसाति, हरषाति,
अनखाति, बिलखाति, दुख मानति, डरति क्यो?
चौंकति, चकति, उचकति, औ बकति,
बिथकति, औ थकति, ध्यान धीरज धरति क्यों?
मोहति, मुरति, सतराति, इतराति, साह-
चरज सराहै, आहचरज मरति क्यो?

(देव)

× × ×

दास ने ठीक इसी के आधार पर अपना छन्द रचा है :—

सुमिरि, सकुचि, न थिरात चित-संकित ह्वै,
त्रसति, तरल उग्र बानी हरषाति है।
उनींदति, अलसानि, सोवति अधीर चौंकि,
चाहि चित्त अमित, सगर्व हरषाति है।
'दास' प्रिय नेह छिन-छिन भाव बदलति,
स्यामा सविराग दीन मति कै मखाति है।
जलपि, जकति, कहरति, कठिनाति मति,
मोहति, मरति, बिललाति बिलखावति है।

(दास शृ० वि०)

× × ×

इनके अतिरिक्त दास के और भी बहुत से छंद ऐसे हैं जिन पर देव का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने देव और बिहारी में छः और छंद दिए हैं जिनमें दास ने देव के भाव तथा काव्य-सामग्री को इच्छापूर्वक ग्रहण किया है—(देखिए देव और बिहारी पृ० २०१–२०५)। दास देव के भावों को ही अपना सके हैं। वैसे उन्होंने शैली का भी अनुकरण करने का प्रयत्न किया है, परन्तु देव के हृदय और शैली में जो संगीत था वह दास मे नहीं मिलता है। परिणाम-स्वरूप दास की कविता मे स्वच्छता देव से अधिक होते हुए भी, उनकी जैसी समृद्धि नहीं आ पाई।

देव और बेनी-प्रवीन :—बेनी-प्रवीन वैसे तो मतिराम की परम्परा के

कवि बिहारी और मतिराम का भी उनपर गहरा प्रभाव है, परन्तु देव का भी प्रभाव उनपर थोड़ा बहुत है ही। अपने कई छंदों में उन्होंने देव के भाव, काव्य-सामग्री तथा अभिव्यञ्जनाएं अपनाई हैं।

भाव और काव्य-सामग्री :— (१) रीझि सुच पाऊं औ न खीझि सुख पाऊं, ऐसे रीझि खीझि एकै रंग राग्यौ सोई राति चुक्यो। जस अपजस कुबड़ाई औ बड़ाई गुन औगुन न जान्यो जीव जाग्यो सोई जागि चुक्यो। कौन काज गुरु जन बरजे छु दुरजन कैसे कुल नेम प्रेम पाग्यो सोई पागि चुक्यो। लोगन लगायो सु तौ लाग्यो अनलाग्यो देव, पूरो पन लाग्यो मन लाग्यो सोई लागि चुक्यो॥ (देव)

नै चुकी हैं सखियाँ सदते अँखियां ये कलंकदि लै चुकी लै चुकीं।
जै चुकी हैं घर बाहर हू तें, चवायनै सोचँदु कै चुकी कै चुकीं।
बेनी-प्रवीन कहा कहीं अब, या छवि छैल की छै चुकी छै चुकीं।
लै नहीं जानती हैं हम, या मन मोहि कै मोहनै दै चुकी दै चुकीं।

(बेनी प्रवीन—नव-रस-तरङ्ग)

यहाँ मूल-भाव तो एक है ही, उसको अभिव्यक्त करने की सामग्री भी बहुत कुछ वही है।

(२) मालिनि ह्वै हरि माल गुहैं चितवैं सुख चेरी भयो चित चाइन
पान खवावै खवासिनि ह्वै कै सवासिनि ह्वै सिखवै सुखभाइन॥
बैंदी दै, देख दिखाइ कै दर्पन जावक देत भयो अब नाइन।
प्रेम-पगो पिय पीत पिछौरी सो प्यारी के पोंछि पिछौरी से पाइन॥

(देव)

मालिनि ह्वै हरवा गुहि देत, चुरी पहिरावैं बने चुरिहेरी।
नायनि ह्वै कै निखारति केस, हमेस करैं वनि नोगिनि फेरी।
बेनी-प्रवीन बनाइ विरी वरईनि, वने रहैं राधिका केरी।
नन्द किसोर सदा वृषभान की पौरि पै ठाढ़े बिकैं वने चेरी॥

(बेनी प्रवीन—नव-रस-तरङ्ग)

(३) निम्नलिखित छंदों में परिस्थिति भिन्न होते हुए भी काव्य-सामग्री कितनी समान है। बेनी प्रवीन ने उसे सादर देव के छंद से ग्रहण किया है—इसमें संदेह नहीं :—

नील पट तन पै घटा-सी घुमाय राखौं, दंत की चमक सों छटा-सी विचरति हौं। हीरनि की किरनैं लगाय राखौं जुगनू-सी, कोकिला, पपीहा, पिय बानी सों भरति हौं। कींच अँसुवानि की मचाऊं कवि देव कहै, पीतम बिदेसी को

सिधारिबौ हरति हौं। इन्द्र कैसौ धनु साजि बेसरि कसति आजु, रहुरे बसंत तोहि पावस करति हौं। (देव)

> भृकुटी धनु बेसरि मोर मनो मनि मानिक इंदु बधू जित है।
> दुति दामिनि कोर हरी बन बेलि, घटा घन घूंघट सोहितु है।
> उँगी रस बेनी प्रवीन रसाल भयो अब चातक सो चितु हैं।
> हित रावरे लौल किसोर लला अबला भई पावस की रितु हैं।
>
> (बेनी प्रवीन—न० र० त०)

अभिव्यञ्जना :—

चढ़ि काम के धाम ध्वजा फहरात, सुमीनन काम कहा जल सों।

(देव)

जनमैं ते पियूष पै सिन्धु लह्यो, तिन मीनन काम कहा जल सों।

(बेनी प्रवीन—न० र० त०)

नील घन धूम पै तड़ित दुति धूम धूम धूंधरि सी धाई दाप पावक लपट-सी।

(देव)

दव कैसी धधरि धधकि धाई कुंजन मैं, मानौ धूम पुञ्जन मैं लपट लपेटी है।

(बेनी प्रवीन—न० र० त०)

देव और पद्माकर:—पद्माकर पर देव का प्रभाव अत्यन्त सीमित है। पद्माकर ने सर्वथा स्वतंत्र रूप से भाषा और छंद-शैली का विकास किया है और वास्तव में पद्माकरी भाषा तथा पद्माकरी छंद-प्रवाह का ब्रजभाषा में एक पृथक् ही अस्तित्व है जिसपर देव या किसी भी पूर्ववर्ती कवि की छाप नहीं है। बस उनके दो एक ही छंद ऐसे हैं, जिनपर देव के भावो की छाया है; इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी पंक्तियां मिल जाती हैं, जिनमें देव की कुछ पंक्तियो की प्रतिध्वनि है।

> सोन सरोज कलीन के खोज उरोजन को उरबो जु निहारो।
> देव जु बाढ़त ओप धरी पल त्योंही नितम्ब भयो कछु भारो।
> कानन की ढिग ह्वै दृग दौरत चातुरी चाउ चवाउ पसारो।
> दाब्यो दुहून दुहू दिशि ते भयो दूबरो सो दबि लंक विचारो।
>
> (देव)

> ये अलि या बलि के अधरानि में आनि चढ़ी कछु माधुरई-सी।
> ज्यों पदमाकर माधुरी त्यो कुच दोउन की चढती उनई-सी।
> ज्यों कुच त्योंही नितम्ब चढ़े कछु ज्योंही नितम्ब त्यो चातुरई-सी।
> जानी न ऐसी चढ़ाचढ़ि मे कहि धौं कटि बीच ही लूटि लई-सी॥
>
> (पद्माकर—जगद्विनोद)

चरननि-चूमि, छवै छ्वा नि हूँ चकित देव, फूमि कै दुकूलन न घूमि करि घटि गयो। कोरे कर-कमल कोरे कुच-कंदुकनि खेलि खेलि कोमल कपोलननि पटि गयो। ऐसो मन मचला अचल अंग अंग पर लालच के काज लोक लाजहि तें हटि गयो। लट में लटकि लोइननि मे उलटि करि त्रिवली पलटि कटि-तटी मांहि कटि गयो॥ (देव)

ईश की दुहाई शीशफूल तें लटकि, लट-लर तें लटकि, लर कंध पैं ठहरिगो। कहै पद्माकर सुमंद चलि कंध हू तें भूमि भ्रमि भाई सो भुजा मे त्यों भभरिगो। भाई सो भुजा तें भ्रमि आयो गोरी गोरी बांह गोरी बांह हू तें चपि चूरिन में अरिगो। हेरे हेरे हरे हरी चूरिन तें चाहौ जौ लौं तौ लौं मन मेरो दौरि हाथ नेरे परिगो (पद्माकर—जगद्विनोद)

इन दोनों छंदों में मूलभाव एक ही है, पर उसकी अभिव्यक्ति में थोड़ा अंतर है। दोनों में ही नायिका के विभिन्न अंगों मे नायक के मन का लोट-पोट होना दिखाया गया है। पहले वह अङ्ग-अङ्ग से उलटता पलटता हुआ अन्त में कटि में जाकर कट जाता है। दूसरे मे मस्तक से चलता है, और विभिन्न अंगो पर फिसलता हुआ अन्त मे नायिका के हाथ में पट जाता है। इन छंदों का, तथा इनसे ऊपर दिए छंदो के मूल-भाव काफी प्रसिद्ध और पुराने हैं। देव से पूर्व भी अन्य कवियों ने इन दोनो को अभिव्यक्त किया है, अतएव यह निश्चय-पूर्वक कहना तो कठिन हैं कि पद्माकर ने इन्हे देव से ग्रहण किया है—अथवा सीधा पूर्ववर्ती कवियों से, परन्तु अभिव्यन्जनाओं के परीक्षण से इतना आभास अवश्य मिलता हैं कि उनकी दृष्टि से देव के दोनों छंद जरूर गुजरे होंगे।

भावों के प्रभाव की अपेक्षा कुछ विशेष पंक्तियों की प्रतिध्वनियाँ अधिक स्पष्ट हैं। उदाहरण के लिये :—

देव—मोहि मोहि मोहन को मनभयो राधामय राधामन मोहिं मोहि मोहन मई भई।

पद्माकर—मोहनी को मन मोहन में बस्यो मोहनी को मन मोहन माँही।
या—राधामयी भई स्याम की सूरत श्याममयी भयी राधिका डोलै।
(ज० वि०)

देव—पूरन प्रीति हिये हिरकी खिरकी खिरकीन फिरै फिरकी-सी।
पद्माकर—झाँकति है खिरकी मैं फिरै थिरकी थिरकी खिरकी खिरकी में।
(ज० वि०)

देव—झूठी झलमल की झलक ही मे भूल्यो, जलमल की पखाल, खल, खाली खाल पाली तें।

पद्माकर— रीती राम नाम ते रही जो बिन काम तौ या खारिज खराब हाल खाल की खलीती है।

रीति-मुक्त प्रेम-कविता पर प्रभाव

रीतिमुक्त प्रेमी कवियों की परम्परा रसखान से आरम्भ होती है। देव किस प्रकार रसखान से प्रभावित हुए हैं, यह हम पहले दिखा चुके हैं। बाद मे यह परम्परा घनानन्द, ठाकुर, बोधा और बाबू हरिश्चन्द्र तक चली। कुलकानि छोड़कर पार्थिव प्रेम की उपासना करने वाले इन सभी कवियों के सामने देव-कृत प्रेम के छन्द थे, इसमें सन्देह नही।

देव और घनानन्द :—घनानन्द का व्यक्तित्व देव से साधारणतः पृथक् है, परन्तु 'नेह की पीर' का तत्व दोनो मे वर्तमान है—मात्रा का अन्तर हो, यह दूसरी बात है :—

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ, कोऊ कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो परलोक नरलोक बरलोकन मे, लीन्हों मैं अलोक लोक लोकन ते न्यारी हौं।
तन जाइ मन जाइ देव गुरु जन जाइ जीव किन जाइ टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावनवारी बनवारी की मुकुटवारी पीतपट वारी वाहि मूरति पै वारी हौं।
[देव]

हौं तो देव नन्द के कुमार तेरी चेरी भई ;
मेरौ उपहास क्यों न कोटिन करि मरौ। [देव]

कोऊ मुख मोरौ जोरौ कोटिक चवाव क्यो न तोरौ सब कोऊ करि सोरो मेरं को सुनै।
नेहरस-हीन दीन अंतर मलीन लीन दोस ही मैं रहैं गहैं कौन भांति वे गुनैं॥
रूप उजियारे जान प्यारे पर प्रान वारे आँखिन के तारे न्यारे कैसे धौं करौ उनैं।
टरै नहीं टेक एक यही घन आनँद जौ निन्दक अनेक सीस खीमनि परे धुनैं।
[घनानन्द—सुजान-सागर]

देव कछू अपनो बसु ना, रस-लालच लाल चितै भई चेरी।
बेगिही बूडि गयीं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥
[देव]

माधुरी-निधान प्रान प्यारी जान प्यारी तेरो रूप-रस चाखे आँखें मधुमाखी ह्वै गई॥
[घनानन्द—सुजान-सागर]

अंग-अंग उठति तरंग स्याम-रंग की। [देव]
अंग-अंग स्याम रंग रस की तरंग उठैं······ । [घनानन्द]

देव और ठाकुर :—ठाकुर पर देव का प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष और गहरा है। यहाँ तक कि उनके संग्रह में देव का एक छन्द "पटवा की वधू नटवा-से नचावै।" ज्यों का त्यौं समाविष्ट मिलता है। इसके अतिरिक्त उनकी प्रेमाभिव्यक्तियों तथा कतिपय अभिव्यन्जनाओं पर देव का प्रभाव असंदिग्ध है :—

(१) बोर्‌यो बंस-बिरद मैं बौरी भई बरजति मेरे बार बार बीर कोई पास बैठो जनि।
तुम सिगरी सयानी बिगरी अकेली हौंही गोहन मैं छांडो मोमों भौंहन अमैठो जनि।
कुलटा कलंकिनी हौं कायर कुमतिकूर काहू के न काम की निकाम यातें ऐंठो जनि।
देव तहाँ बैठियत जहाँ बुद्धि बढ़ै हौं तौ बैठी हौं बिकल कोई मोहि मिलि बैठो जनि॥
(देव)

देखिए, उपर्युक्त छन्द की छाया को ठाकुर ने कितने सतर्क होकर ग्रहण किया है :—

हम एक कुराह चलीं तौ चलीं हटै कौ इन्हैं ए ना कुराह चलैं।
इह तौ बलि आपनौ सूझती हैं, प्रन पालिए सोई जो पालैं पलैं।
कवि ठाकुर प्रीति करी है गुपालसों टेरै कहौ सुनौ ऊंचे गलैं।
हमैं नीकी लगी सो करी हमनें,तुम्हें नीकी लगौ न लगौ वो भलैं।

[ठाकुर – ठाकुरठसक]

ठाकुर का ऐसा ही एक दूसरा छंद है :—

(२) अब का समुझावतीं को समुझै, बदनामी के बीजन बो चुकी री।
इतनौ हु बिचार करौ तो सखी,इहि लाज की साजकों धो चुकी री।
कवि ठाकुर काम न या सबकौ, करि प्रीति पतिव्रत खो चुकी री।
सब नेकी-बदी जो बदी हुती भाल मैं, होनी हुती सु तो हो चुकी री॥

[ठा० ठ०]

यह देव के 'रीझे सुख पाऊँ औ न खीझे सुख पाऊँ' कवित्त का रूपान्तरमात्र है। इसी प्रकार :—

(३) ऐसे निरमोही सदा मोही में बसत,
और मोही तें निकसि मोही मोहीं न मिलत हौ। [देव]
मोही मैं रहत रहैं मोही मैं उदास सदा............।

[ठाकुर : ठा० ठ०]

प्रेम की इन तीव्र अभिव्यक्तियों के अतिरिक्त ठाकुर के कुछ साधारण शृंगारिक छंदों पर भी देव की गहरी छाप है :—

सापने में गई देखन हौं सुनि नाचत नन्द जसोमति को नट।
वा मुसक्याइ के भाव बताइ के, मेरोइ खैंचि खरो पकरो पट।
तौ लगि गाइ रम्हाइ उठी,'कविदेव' बधून मथ्यो दधि को घट।
चौंकि परी तब कान्ह कहूँ न,कदम्ब न, कुंज न कालिंदी को तट॥

[देव]

× × ×

सापने हौं फुलवारी गई हरि अङ्क भरी भुज कण्ठन मेली।
हौं सकुची कोउ सुन्दरी देखत लै जिन बांह सो बांह पछेली।
ठाकुर भोर भये गये नींद के देखहुँ तो घर मांझ अकेली।
आँख खुली तब पास न सांवरो बाग न बागरो वृक्ष न बेली।

[ठाकुर ठा० ठ०]

अब देव से प्रभावित एक छंद बोधा का भी लीजिए ;—

देव और बोधा:—

पांचन के आगे आँच लागे ते न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारे को सती लौं बैठि सर मैं।
प्रेम सो कहत कोई ठाकुर न ऐंठो सुनि,
बैठो गढि गहिरे तो पैठो प्रेम-घर मैं॥

[देव]

लोक की लाज औ सोक अलोक की वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ।
गांव को गेह को देह को नातो सनेह मे हाँतो करै पुनि सोऊ।
बोधा सुनीनि निबाह करै धर ऊपर जाके नहीं सिर होऊ।
लोक की भीत डेरात जो मीत तो प्रीति के पैंडे परै जनि कोऊ॥

[बोधा]

देव और भारतेन्दु :—

भारतेन्दु बाबू पर देव का प्रभाव ठाकुर से भी अधिक है। वे देव के परम-भक्त थे, और उनको कवियों का बादशाह कहा करते थे। सुन्दरी-सिन्दूर नाम से देव के उत्तम छंदों का संग्रह कर तथा अपने नाटकों मे उनके दो छन्दों को उद्धृत कर उन्होंने अपनी 'देव-भक्ति' का प्रत्यक्ष प्रमाण भी दिया है। भारतेन्दु बाबू का कवि-व्यक्तित्व, जिसमें रीतिकाल की रसिकता पर प्रेम का गाढा रंग था, देव के बहुत कुछ समान भी था। अतएव देव के प्रति उनको स्वाभाविक आकर्षण था। उनकी कविता की भाव-सामग्री उसकी भाषा-शैली तथा छंद के बन्धो पर देव की अमिट छाप है :—

हम हूँ सब जानतीं लोक की चालनि क्यों इतनौ बहरावती हौ।
हित जामैं हमारो बनै सो करौ, सखिग्रा्ँ तुम मेरी कहावती हौ।
'हरिचंद जू' जामैं न लाभ कछू हमैं बातन क्यों बहरावती हौ।
सजनी मन हाथ हमारे नहीं, तुम कौन कों का समुझावती हौ॥

इस प्रकार के अनेक छन्द उन्होंने लिखे हैं, जो देव के छन्दों से टक्कर खाते हैं। कुछ साधारण शृंगारिक छन्दों में भी देव के भावों को ग्रहण किया गया है :—

भाव भर्‌यौ सिगरे ब्रज सोर, सराहत तेरेइ सील सुभाइन।
दुःख हेरात खिरात हिऔ, गहिरात चितैवे कौ चित्त चवाइन।
ऐरी अहो ठकुराइन मेरी, सु चेरी हौं तेरी, परौं इन पाइन।
सौति हू की अँखियाँ सुख पावतीं तो मुख देखि सखी सुखदाइन।

[देव]

सासु जेठानिन सों दबती रहै, लीने रहै रुख त्यों ननदी कौ।
दासिन सो सतरात नही, हरिचंद करै सनमान सभी कौ।
पीग्र को दच्छिन जानि न दूसत चौगुनो चाउ बढ़ै वा लली कौ।
सौतिन हू कौ ग्रसोसै सुहाग, भरै कर आपने सेंदुर टीकौ॥

[हरिचंद]

भाषा शैली :—

देखि घनस्याम घनस्याम की सुरति करि, जिय मे विरह घटा घहरि घहरि उठै।
त्योही इन्द्रधनु बगमाल देखि बनमाल मोतीलर पी की जिय लहरि लहरि उठै।
हरिचंद मोर पिक धुनि सुनि बंसीनाद बांकी छवि बार बार छहरि छहरि उठै।
देखि देखि दामिनि की दुगुन दमक पीतपट छोर मेरे हिय फहरि फहरि उठै॥

[हरिश्चन्द्र-चन्द्रावली]

इस छंद की शब्द-योजना पर देव के प्रसिद्ध छंद,

'सहर सहर सोंधो सीतल समीर डोलै'......का कितना प्रभाव है। इसी प्रकार—"छरी-सी, छकी-सी, जड भई-सी, जकी-सी, वर हारी-सी, बिकी-सी, सो तो सबही धरी रहै।... .." [चन्द्रावली] आदि की शब्द-योजना देव के निम्न-लिखित छंद की शब्द-योजना के अनुकरण पर हुई है :—

× × ×

छोही-सी छली-सी छीनि लीनी-सी छकी-सी छीन जकी-सी चकी-सी लागी थकी थहरानी-सी। बीधी-सी बँधी-सी विष-बूड़ी-सी विमोहित-सी बैठी बाल बकति विलोकति बिकानी-सी।

छंद-बन्धन :—भाषा-शैली के अतिरिक्त भारतेन्दुजी ने देव के छंद-बंधनों को भी रुचि-पूर्वक अपनाया है। उन्होंने बहुत कुछ देव के अनुकरण पर ही,—परन्तु उनकी अति को बचाते हुए, वीप्सा, अनुप्रास, संतुलन आदि उपकरणों को ग्रहण कर अपनी छंद-लय को सँवारा है। उनकी सवैयाओं में देव की सवैयाओं की घूँघर और उनके कवित्तों मे देव के कवित्तों की लघु वर्णों से रुन-झुन करती हुई गति मिलती है।

निष्कर्ष

कुल मिलाकर परवर्ती साहित्य पर देव का प्रभाव बहुत अधिक नहीं है। परवर्ती रीति-विवेचन पर तो उनका आभार प्रायः नगण्य सा ही है-क्योंकि उन्होंने स्वयं ही लगभग सभी मूल-तत्व अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से ग्रहण किए थे। केवल वर्णन-विस्तार और कुछ संगतियाँ उनकी अपनी हैं, परन्तु उनको हिन्दी में विशेष महत्व नहीं दिया गया। उनका विशेष महत्व रस-सिद्धांत को अधिक व्यापक और मान्य बनाने मे है, और इसका थोड़ा बहुत अप्रत्यक्ष प्रभाव बाद के रीति-कारों पर अवश्य पडा होगा—बस ! कवि रूप में उनका प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है, परन्तु केशव और बिहारी से तुलना करने पर वह भी साधारण ही माना जायगा। इसका विशेष कारण है। केशव की मूल विशेषता आचार्यत्व और पाण्डित्य है और बिहारी की मुख्य विशेषता है दूर की सूझ तथा चमत्कारपूर्ण कला। इसके विपरीत देव का मुख्य काव्यगुण है तन्मयता एवं आवेग-पूर्ण रसार्द्रता—कलाकार वे भी अपने ढंग के हैं परन्तु उनकी कला अधिक सूक्ष्म-तरल है। तन्मयता की अपेक्षा आचार्यत्व एवं पाण्डित्य तथा चमत्कारिता आदि गुणों का अनुकरण सरलता से किया जा सकता है—और यही हुआ भी। रीति-साहित्य का यह दुर्भाग्य रहा कि वह देव के भाव और भाषा की समृद्धि को नहीं अपना सका।

— —:०:— —

७- हिन्दी काव्य में देव का स्थान

समस्त हिन्दी-काव्य में देव का स्थान निश्चित करना न तो साधारणतः सम्भव है, और न समीचीन ही। हिन्दी-काव्य एक सागर के समान है, इसमें अनेक धारायें प्रवहमान हैं जो दिशा, परिमाण तथा गुण सभी में एक दूसरे से भिन्न हैं। इन विभिन्नताओं का विचार न करते हुए किसी भी एक कवि का समस्त सजातीय-विजातीय कवियों में एक साथ स्थान निर्णीत कर देना सर्वथा भ्रामक एवं निराधार होगा। जो जाति, धर्म, प्रकृति और गुणों मे असमान हैं, उनकी तुलना का आधार ही क्या, और बिना इस आधार के स्थान का निर्णय कैसा? अतः स्थान का निर्णय सजातीयों में ही हो सकता है। देव रीति-कवि हैं— शास्त्रीय दृष्टि से उनका काव्य— समस्त रीति-साहित्य ही—मुक्तक काव्य की श्रेणी में आता है। रीति-काव्य की दो मूल प्रवृत्तियाँ हैं। (१) रीति-विवेचन (२) श्रृङ्गारिकता। देव के काव्य में इन दो के अतिरिक्त वैराग्य की प्रवृत्ति भी मिलती है, परन्तु जैसाकि हमने अन्यत्र स्थापित किया है, उनकी वैराग्य भावना अतिशय राग की प्रतिक्रिया, दूसरे शब्दों में, राग-क्लान्ति ही है, जो निर्गुण अथवा सगुण संतों के शमभाव से सर्वथा भिन्न है। उन की इस प्रवृत्ति को श्रृङ्गारिकता से पृथक् कर संतों के वैराग्य-काव्य की परम्परा में देखना अनुचित होगा। अतएव देव का स्थान हम एक ओर हिन्दी के रीति-आचार्यों और दूसरी ओर श्रृंगार-मुक्तककारों की परम्परा में ही उचित रीति से निर्धारित कर सकते हैं।

आचार्य रूप में देव ने भारतीय साहित्य-शास्त्र में कोई मौलिक योग नहीं दिया। संस्कृत के आचार्यों ने उसका जो विकास-विवर्धन किया, वह उनके पश्चात् एक प्रकार से समाप्त ही हो गया था—और वास्तव में हिन्दी के रीति-साहित्य का सम्यक् अध्ययन करने के उपरान्त हमको शुक्लजी की यह धारणा स्वीकार करनी ही पड़ती है कि देव अथवा रीतियुग का कोई भी हिंदी आचार्य इस क्षेत्र में विशेष कृतकार्य नहीं हो सका। संस्कृत में भी आचार्यों की दो पृथक् श्रेणियां हैं; एक में भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनव, कुंतक आदि मौलिक उद्भावनाकार आचार्य आते हैं, दूसरी में मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि व्याख्यानकार आचार्य आते हैं। पहली श्रेणी का तो प्रश्न ही नहीं उठता, दूसरी श्रेणी में भी देव के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रथम श्रेणी के आचार्यों की मौलिक सृजन-प्रतिभा और दूसरी श्रेणी के आचार्यों की स्वच्छ गम्भीर सामन्जस्य-दृष्टि दोनों का ही देव में अभाव है।

रीति-काव्य का साधारण आलोचन करते हुए हमने निर्देश किया है कि विवेचन-विषय तथा विवेचन-शैली की दृष्टि से किस प्रकार हिन्दी-आचार्यों के तीन पृथक् वर्ग मिलते हैं। (१) मम्मट तथा विश्वनाथ आदि की शैली पर काव्य के दशांग का विवेचन करने वाले आचार्य (२) शृंगार-तिलक और रसमंजरी आदि के अनुसार केवल शृंगार रस और उसकी प्रधान आलम्बन नायिका का वर्णन करने वाले आचार्य, (३) चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द आदि के आधार पर अलंकार-मात्र का निरूपण करने वाले आचार्य। देव ने काव्य के सर्वांग का ही विवेचन किया है, अतएव स्पष्टतः ही उनका स्थान पहले वर्ग के अंतर्गत पड़ता है। इस वर्ग में उनके प्रतिद्वन्द्वी हैं केशव, कुलपति मिश्र, श्रीपति, दास और प्रताप-साहि। केशव का ऐतिहासिक महत्व देव की अपेक्षा कहीं अधिक है, उन्हें संस्कृत रीति-शास्त्र को हिन्दी में अवतरित करते हुए, अलंकार और रस दोनो सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा करने का मुख्य श्रेय प्राप्त है। देव ने मुक्त-कण्ठ से उनका गौरव स्वीकार किया है, और अनेक स्थानों पर उनका अनुकरण किया है। इसके अतिरिक्त जहां तक पाण्डित्य की गम्भीरता का प्रश्न हैं, केशव देव से बढ़कर हैं। देव का विषय-क्षेत्र अपेक्षाकृत किंचित् अधिक व्यापक है, उन्होंने शब्द-शक्ति, रीति, गुण, पिंगल आदि का भी विवेचन किया है, परन्तु अस्पष्टता दोष दोनों में प्रायः एक-सा ही है। केवल एक बात में देव स्पष्टतः ही केशव से अधिक गौरव के अधिकारी हैं—वह है उनकी सूक्ष्म एवं गहरी रस-चेतना, जो कि आलोचक अथवा आचार्य का एक मूलवर्ती गुण है। केशव के अतिरिक्त शेष चारों कवियों—अर्थात् कुलपति, श्रीपति, दास तथा प्रतापसाहि ने आचार्य-कर्म्म को देव की अपेक्षा कहीं अधिक गंभीरता तथा मनोयोग के साथ ग्रहण किया है। कुलपति ने मम्मट की प्रणाली को स्थिरता से ग्रहण करते हुए काव्य के सभी प्रमुख अंगों का प्रौढ़ विवेचन किया है। देव की तरह वे इधर-उधर भटकते नहीं हैं। अतएव विवेचन की प्रौढ़ता तथा सिद्धान्तों की स्थिरता में देव उनकी समता नहीं कर सकते। श्रीपति में दो गुण और भी अधिक हैं, वे हैं विषय-प्रतिपादन की स्पष्टता और सिद्धांतों का व्याव-हारिक उपयोग। यह बड़े खेद का विषय है कि उनका मुख्य ग्रन्थ श्रीपति-सरोज साधारण पाठक के लिए अभी अप्राप्य है। लक्षणों की स्पष्टता और उदाहरणों की स्वच्छता की दृष्टि से यह ग्रन्थ रीतियुग की सर्व-श्रेष्ठ विभूति है। इसके अतिरिक्त श्रीपति ने दोष आदि के विवेचन में कल्पित उदाहरणों की रचना नहीं की वरन् केशव के उदाहरण देते हुए व्यावहारिक रीति-विवेचन की पद्धति को जन्म दिया, यह उनकी दूसरी विशेषता है। ये दोनों गुण दास में और भी प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं। वास्तव में दास हिन्दी के पहले आचार्य हैं, जिन्होंने हिन्दी साहित्य पर दृष्टि स्थिर रख कर, हिंदी पाठक की आवश्यकताओं का विचार करते हुए, रीति-विवेचन किया है। रीतियुग के आचार्यों में हिंदी की

प्रकृति का इतना विशद ज्ञान और किसी को भी नहीं था। विवेचन की स्वच्छता, सिद्धांतों का व्यावहारिक उपयोग तथा भाषा की प्रकृति का ज्ञान—इन तीनों के विचार से दास की तुलना में देव क्या, कोई भी अन्य रीतिकालीन आचार्य नहीं ठहरता। उनका केवल एक ही पक्ष दुर्बल है—मौलिकता, और इस दृष्टि से देव की स्थिति उनकी अपेक्षा दृढ़तर है। अब प्रतापसाहि रह जाते हैं। प्रतापसाहि को लोग प्रसिद्ध व्यंग्य-विद् के रूप में—व्यंग्यार्थ-कौमुदी के लेखक के रूप में ही अधिक जानते हैं। उनका दूसरा और सबसे अधिक महत्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थ काव्य-विलास दुष्प्राप्य होने के कारण प्रकाश में नहीं आ सका, अतएव आचार्य रूप में उनका उचित आदर नहीं हो पाया। परन्तु जिन्होंने काव्य-विलास का अध्ययन किया है, वे उनके आचार्यत्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। उन्होंने व्याख्याता आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि का आधार दृढ़तापूर्वक ग्रहण करते हुए काव्य के स्वरूप, तथा उसके दशांग का अत्यन्त प्रौढ़ विवेचन किया है। प्रतापसाहि रीतियुग के प्रथम श्रेणी के कवियों में हैं। परन्तु काव्य-विलास में सिद्धांतों का निरूपण तथा उनका व्याख्यान करते समय वे अपने कवित्व को बाधक नहीं होने देते। वास्तव में काव्य-विलास पढ़ते हुए हिंदी का पाठक मम्मट और विश्वनाथ के प्रौढ़ तथा सांगोपांग शास्त्रीय विवेचन का थोड़ा बहुत आभास अवश्य प्राप्त कर लेता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है—और कम से कम देव में अलभ्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य के सर्वांग का विवेचन करने वाले इन रीति-आचार्यों में देव की गणना तो अवश्य की जा सकती है, परन्तु आचार्यत्व की दृष्टि से वे इन सभी से हलके पड़ते हैं। वास्तव में, उनका महत्व रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा करने के कारण ही है। अन्य क्षेत्रों में उनकी गति ही है, गहरी पैठ नहीं।

शृंगारिक मुक्तक-कारों की परम्परा के प्रमुख कवि हैं विद्यापति, केशव, बिहारी, मतिराम, देव और पद्माकर—इसी में रीतिमुक्त प्रेमी कवि भी आते हैं जिनमें घनानन्द मुख्य हैं। स्थूलतः सूर को भी इसी के अंतर्गत लिया जा सकता है परन्तु जीवन के प्रति दृष्टिकोण, काव्य-प्रेरणा, तथा प्रतिभा के धरातल को दृष्टि में रखते हुए उनको इस श्रेणी से पृथक् ही रखना उचित होगा। विद्यापति के पद विशेष कारणों से देव-काव्य में परिगणित किये जाने लगे हैं। परन्तु मूलतः वे मानव-शृंगार, उसमें भी विशेष रूप से मानव-सौंदर्य के कवि हैं। जहाँ तक सौंदर्य की सूक्ष्म और रसमय चेतना का सम्बन्ध है, उपर्युक्त कवियों में से यदि कोई भी विद्यापति की तुलना में थोड़ा बहुत खड़ा हो सकता है तो वह देव ही हैं। विद्यापति का रोम-रोम जैसे नारी की सौंदर्य सुरा का पान कर नाच उठता है। इस प्रकार के आत्म-रस में डूबे हुए सौंदर्य-चित्रों के सामने रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ

चित्रकवि बिहारी के चित्र निर्जीव-से लगते हैं। देव में आत्म-रस का प्राचुर्य है। गीति-तत्व भी उनमें प्रभूत मात्रा में है, परन्तु फिर भी उनका स्थान विद्यापति के बाद ही पड़ेगा क्योंकि उनका आत्मनिलय उतना पूर्ण नहीं है जितना विद्यापति का; साथ ही भाषा और भाव का मादक संगीत जितना विद्यापति में है उतना देव में नहीं है।

केशव का प्रभाव देव के कवि रूप पर भी पड़ा है। उनका व्यक्तित्व देव की अपेक्षा अधिक पाण्डित्य-प्रौढ है, इसमें संदेह नहीं। शुक्ल जी तथा उनके अनुयायियों ने रामचन्द्रिका के कुछ आलंकारिक अनौचित्यों के कारण ही केशव को एकदम हृदयहीन घोषित कर दिया है, परन्तु रसिक-प्रिया का लेखक आलंकारिक मात्र नहीं था। उसमें रसिकता पूरी पूरी मात्रा में वर्तमान थी, रसिक-प्रिया के अनेक छंद इसके मधुर साक्षी हैं। फिर भी यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि देव का हृदय-पक्ष केशव की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। उनमें आवेग, तन्मयता, रसार्द्रता केशव से निश्चय ही अधिक है, और इस प्रकार उनकी रसानुभूति निश्चय ही अधिक समृद्ध है। कला-पक्ष भी देव का केशव से अधिक सम्पन्न है। उनकी भाषा में केशव की भाषा की अपेक्षा औज्ज्वल्य, झंकृति लाक्षणिक वक्रता, आदि गुण कहीं अधिक मिलते हैं, छंदों में कहीं अधिक मसृणता तथा संगीत है। एक शब्द में, देव में केशव की अपेक्षा गीतितत्व अधिक समृद्ध और प्रचुर है।

इस क्षेत्र मे देव के सब से प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी बिहारी हैं। द्विवेदी-युग के आलोचकों में देव और बिहारी को लेकर अच्छी मोर्चे बन्दी हुई थी। वास्तव में बिहारी मध्य युग के सब से अधिक लोक-प्रिय कवि हैं। अठारहवी शताब्दी के आरम्भ से लेकर हरिश्चन्द्र-काल तक बिहारी-सतसई का सम्मान प्राकृत मे गाथा-सप्तशती और संस्कृत मे अमरु-शतक से भी अधिक रहा है। इसके कई कार दिए जा सकते हैं। एक तो यही कि गाथा-सप्तशती और अमरु-शतक के आदर्श पर लिखा हुआ हिन्दी का यह प्रथम स्वतन्त्र मुक्तक ग्रंथ था अतएव स्वभावतः ही यह उनके समान ही लोक-प्रसिद्धि का अधिकारी हुआ। दूसरा कारण तत्कालीन रसिक-सम्प्रदाय की चमत्कार-प्रिय रुचि को माना जा सकता है। लोक-प्रसिद्धि की दृष्टि से देव की बिहारी से कोई समता नहीं। परन्तु लोक-प्रसिद्धि साहित्यिक उत्कर्ष की अतर्क्य कसौटी भी नहीं है, और इसमें संदेह नहीं कि उचित तुलनात्मक अध्ययन के अभाव मे रीतिकाल के कई रस-सिद्ध कवियों के ऊपर बिहारी को अनावश्यक महत्व दिया गया है। बिहारी मे चमत्कार का आग्रह इतना अधिक है कि वे प्रायः उक्ति के बाँकपन के लिए रस की भी उपेक्षा कर देते हैं, उनके ऐसे दोहो की एक बृहत् संख्या है जो दूर की सूझ या उक्ति के साधारण चमत्कार

से केवल मस्तिष्क को प्रभावित कर रह जाते हैं, हृदय को रसार्द्र नहीं कर पाते। रसार्द्रता की दृष्टि से देव की कविता निश्चय ही उनकी कविता की अपेक्षा उत्कृष्ट है। देव की प्रेमानुभूति कहीं अधिक गहरी और सबल है—तन्मयता तथा द्रवणशीलता में केशव की भाँति बिहारी भी देव की समता नहीं कर पाते। परन्तु यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिए :—वह यह कि इन दोनों कवियों के दृष्टिकोण भिन्न हैं। बिहारी की दृष्टि वस्तु-परक अधिक है देव की भाव-परक, और इसका प्रभाव उनकी सौन्दर्य्य-चेतनाओं पर पड़ा है। बिहारी में सौन्दर्य्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व को ग्रहण कर शब्द-बद्ध करने की जैसी अपूर्व क्षमता है, वैसी देव अथवा रीति-युग के किसी भी कवि में नहीं है—परन्तु सौन्दर्य्य में पूर्णतः रममग्न होने की क्षमता देव में उनसे कहीं अधिक है। समग्र रूप से विचार करते हुए, देव के काव्य की आत्मा बिहारी के काव्य की आत्मा से अधिक समृद्ध है। काव्य-शिल्प की दृष्टि से दोनों ही पक्ष समान रूप से प्रबल हैं—यद्यपि यहाँ भी टेकनीक दोनों की सर्वथा भिन्न है। देव की अपेक्षा बिहारी की कला अधिक *सचेष्ट है—उन्होंने कला का माध्यम भी अपेक्षाकृत सूक्ष्म ही चुना है। स्वभावतः उनके शिल्प का मुख्य गुण है सूक्ष्म जड़ाव। इसके विपरीत देव के शिल्प में कोमल सामञ्जस्य अधिक है। बिहारी की भाषा देव की भाषा से अधिक प्रौढ़ है। उसकी लाक्षणिक तथा व्यंजनात्मक शक्ति अत्यन्त विकसित, तथा समासगुण अद्‌भुत है। उधर देव की भाषा में झंकृति, संगीत और औज्ज्वल्य अधिक है। अतएव शिल्पी रूप में दोनों के सापेक्षिक महत्व का निर्णय निर्णायक की रुचि पर ही निर्भर है।

रीति-युग में मतिराम शृंगार की उर्मिल भावनाओं की सरल कोमल व्यंजना करने वाले कवि हैं। भाव और भाषा की स्वच्छता उनकी विशेषता है, जिसके प्रति देव जैसे कवि को सहज ईर्ष्या हो सकती है। परन्तु भाव-गाम्भीर्य्य में मतिराम देव के समकक्ष नहीं खडे हो सकते। मतिराम चटुल वीचियों से क्रीड़ा करने वाले स्वच्छ सरोवर हैं—तो देव गहन-गंभीर वापी। यह गंभीरता आपको पद्‌माकर में मिलेगी। पद्‌माकर के भावों में गाढ़ा रस-परिपाक और उनकी भाषा में तरंगायित नद-प्रभाव है। परन्तु उनकी अनुभूति मे देव की सी सचाई नहीं है—उसमें उतना आत्म-द्रव नहीं है। पद्माकर की काव्यानुभूति में शक्ति तो है, परन्तु उतनी स्निग्ध तथा सूक्ष्म-कोमल अभिरुचि नहीं है। इसीलिए उनकी कविता में कृत्रिमता की प्रवृत्ति स्पष्ट मिलती है, उनके संग्रह में ऐसे छंदों की कमी नहीं है, जो शब्दों की तड़क-भड़क दिखा कर केवल नाद-प्रभाव उत्पन्न कर रह जाते हैं।

अनुभूति की सचाई एवं आत्मद्रव वास्तव में रीति-बद्ध कवियों में विरल ही है। यह भक्त कवियों की या फिर रीति-मुक्त प्रेमी कवियों की विभूति है।

---

* (Conscious.)

रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द ही देव के समकक्ष रखे जा सकते हैं। ठाकुर, बोधा आदि का काव्य-स्तर निश्चय ही उनसे नीचा है। घनानन्द में आत्म-तत्व देव से अधिक है—आवेग, तन्मयता तथा द्रवणशीलता उनमें देव से प्रचुरतर है। इसके अतिरिक्त उनकी 'नेह की पीर' में एक अभूतपूर्व तीव्रता है, जो देव में इतनी मात्रा में नहीं है। भाषा की शुद्धता तथा लाक्षणिक वक्रता में भी घनानन्द देव से आगे हैं। इन गुणों के संतुलन में देव के काव्य में वैभव[१] अधिक पाया जाता है। देव की काव्य-सामग्री स्पष्टतः ही अधिक समृद्ध है। उनकी शैली में कान्ति, औज्ज्वल्य, तथा संगीत का कहीं अधिक उल्लास है।

देव के प्रतियोगी हिन्दी के उपर्युक्त कवि ही हैं—और काव्य के सभी तत्वों पर विचार करते हुए यह सरलता से कहा जा सकता है कि इनमें देव का स्थान अन्यतम है। ये सभी कवि द्वितीय श्रेणी के कवि हैं। स्वभावतः देव भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। प्रथम श्रेणी में मैं उन कवियों की गणना करता हूँ, जो जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करते हैं, जिनकी कल्पना और अनुभूति की गति उसकी विराट से विराट ऊंचाइयों और गंभीर से गंभीर गहराइयों तक होती है। शास्त्रीय शब्दावली में—जिनका मधुर के साथ ही विराट पर भी समान अधिकार होता है। हिन्दी में रामचरित-मानस, सूर-सागर और कामायनी आदि के स्रष्टा ही इस श्रेणी में आते हैं। रसिक-प्रिया, बिहारी सतसई, रसराज और सुखसागर-तरङ्ग के रचयिता नहीं।

शम्